रहस्य-सञ्जीवन

ॐ तत्सत् ।

रहस्य-सञ्जीवन

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

ग्रंथ का अंतिम भाग

(गीता के मूल संस्कृत श्लोक, हिन्दी अनुवाद तथा अर्थनिर्णायक टिप्पणीयाँ)

लेखक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ।

अनुवादक

श्री. माधवराव सप्रे ।

प्रथम मुद्रण ।

(२००० प्रतियाँ ।)

शके १८४८] पूना । [सन् १९२६ ई०

मूल्य २ रुपयाँ ।
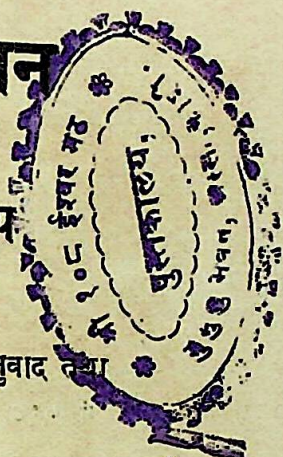
नं. ५६८, नारायण पेठ, गायकवाड वाडा, पूना सिटी
श्रीयुत रामचंद्र तथा श्रीधर बलवंत तिलक
द्वारा प्रकाशित ।

मुद्रकः—
अनन्त आत्माराम मोरमकर
श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस, ३६४, ठाकुरद्वार,
बम्बई ।

लो. तिलक के अन्य ग्रंथ।

(१) श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र (हिन्दी अनुवाद—पञ्चम संस्करण, सन् १९२५ इ.) मूल्य रु. ४.

(२) The Orion (वेदकालनिर्णय—द्वितीय संस्करण, सन् १९२५ इ.) मूल्य रु. २.

(३) The Arctic Home in the Vedas (आर्योंका मूल निवासस्थान—द्वितीय संस्करण, सन् १९२५ इ.) मूल्य रु. ५.

(४) Vedic Chronology (*incomplete*), Vedânga Jyotisha & other Miscellaneous Essays (वेदों का कालनिर्णय (अपूर्ण) वेदाङ्ग ज्योतिष तथा अन्य संकीर्ण निबंध—प्रथम संस्करण, सन् १९२५ इ.) मूल्य रु. ३.

(५) श्रीमद्भगवद्गीता—(मूल श्लोक और लोकमान्य तिलककृत अनुवाद) मूल्य आठ आना।
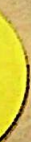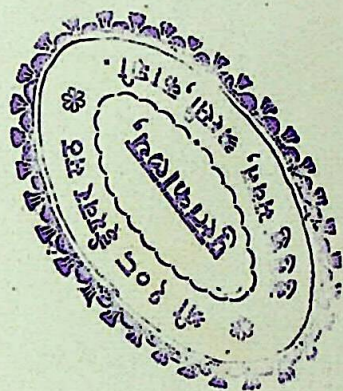
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

जन्म ता. २३-७-१८५६.] [मृत्यु ता. १-८-१९२०.

उपोद्घात।

ज्ञान से और श्रद्धा से, पर इसमें भी विशेषतः भक्ति के सुलभ राजमार्ग से, जितनी हो सके उतनी समबुद्धि करके लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्मानुसार अपने अपने कर्म निष्काम बुद्धि से मरण पर्यन्त करते रहना ही प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है; इसी में उसका सांसारिक और पारलौकिक परम कल्याण है; तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्म छोड़ बैठने की अथवा और कोई भी दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है। समस्त गीताशास्त्र का यही फलितार्थ है, जो गीतारहस्य में प्रकरणशः विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हो चुका है। इसी प्रकार चौदहवें प्रकरण में यह भी दिखला आये हैं कि, उल्लिखित उद्देश से गीता के अठारहों अध्यायों का मेल कैसा अच्छा और सरल मिल जाता है; एवं इस कर्मयोग-प्रधान गीताधर्म में अन्यान्य मोक्ष-साधनों के कौन कौन से भाग किस प्रकार आये हैं। इतना कर चुकने पर, वस्तुतः इससे अधिक काम नहीं रह जाता, कि गीता के श्लोकों का क्रमशः हमारे मतानुसार भाषा में सरल अर्थ बतला दिया जावे। किन्तु गीतारहस्य के सामान्य विवेचन में यह बतलाते न बनता था, कि गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का विभाग कैसे हुआ है; अथवा टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ विशेष श्लोकों के पदों की किस प्रकार खींचातानी की है। अतः इन दोनों बातों का विचार करने, और जहाँ का तहाँ पूर्वापर सन्दर्भ दिखला देने के लिये भी, अनुवाद के साथ साथ आलोचना के ढँग पर कुछ टिप्पणियों के देने की आवश्यकता हुई। फिर भी जिन विषयों का गीतारहस्य में विस्तृत वर्णन हो चुका है, उनका केवल दिग्दर्शन करा दिया है; और गीतारहस्य के जिस प्रकरण में उस विषय का विचार किया गया है, उसका सिर्फ हवाला दिया है*। ये टिप्पणियाँ मूल ग्रन्थ से अलग पहचान ली जा सकें इसके लिये ये [ ] चौकोने ब्रेकिटों के भीतरे रखी गई हैं और मार्जिन् में टूटी हुई खड़ी रेखाएँ भी लगा दी गई हैं। श्लोकों का अनुवाद, जहाँ तक बन पड़ा है, शब्दशः किया गया है और कितने ही स्थलों पर तो मूल के ही शब्द रख दिये गये हैं;

---

* इसके लिये जो पृष्ठांक दिये गये हैं, वे गीतारहस्य ग्रंथ के पञ्चम पुनर्मुद्रण के अनुसार हैं—प्रकाशक

एवं "अर्थात्, यानी" से जोड़ कर उनका अर्थ खोल दिया है और छोटी-मोटी टिप्पणियों का काम अनुवाद से ही निकाल लिया गया है। इतना करने पर भी, संस्कृत की और भाषा की प्रणाली भिन्न भिन्न होती है इस कारण, मूल संस्कृत श्लोक का अर्थ भी भाषा में व्यक्त करने के लिये कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग अवश्य करना पड़ता है, और अनेक स्थलों पर मूल के शब्द को अनुवाद में प्रमाणार्थ लेना पड़ता है। इन शब्दों पर ध्यान जमने के लिये ( ) ऐसे कोष्टक में ये शब्द रखे गये हैं। संस्कृत ग्रन्थों में श्लोक का नम्बर श्लोक के अन्त में रहता है; परन्तु अनुवाद में हमने यह नम्बर पहले ही आरम्भ में रखा है। अतः किसी श्लोक का अनुवाद देखना हो तो, अनुवाद में उस नम्बर के आगे का वाक्य पढ़ना चाहिये। अनुवाद की रचना प्रायः ऐसी की गई है कि टिप्पणी छोड़ कर निरा अनुवाद ही पढ़ते जायँ तो अर्थ में कोई व्यतिक्रम न पड़े। इसी प्रकार जहाँ मूल में एक ही वाक्य, एक से अधिक श्लोकों में पूरा हुआ है, वहाँ उतने ही श्लोकों के अनुवाद में यह अर्थ पूर्ण किया गया है। अतएव कुछ श्लोकों का अनुवाद मिला कर ही पढ़ना चाहिये। ऐसे श्लोक जहाँ जहाँ हैं, वहाँ वहाँ श्लोक के अनुवाद में पूर्ण-विराम-चिन्ह (।) खड़ी पाई नहीं लगाई गई है। फिर भी यह स्मरण रहे, कि अनुवाद अन्त में अनुवाद ही है। हमने अपने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही, परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और प्रतिक्षण में नई रुची देनेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे जरा भी न घटा-बढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों का त्यों झलका देना असम्भव है; अर्थात् संस्कृत जाननेवाला पुरुष अनेक अवसरों पर लक्षणा से गीता के श्लोकों का जैसा उपयोग करेगा, वैसा गीता का निरा अनुवाद पढ़नेवाले पुरुष नहीं कर सकेंगे। अधिक क्या कहें, सम्भव है कि वे गोता भी खा जायँ। अतएव सब लोगों से हमारी आग्रहपूर्वक विनंती है, कि गीताग्रन्थ का संस्कृत में ही अवश्य अध्ययन कीजिये; और अनुवाद के साथ ही साथ मूल श्लोक रखने का प्रयोजन भी यही है। गीता के प्रत्येक अध्याय के विषय का सुविधा से ज्ञान होने के लिये इन सब विषयों की—अध्यायों के क्रम से, प्रत्येक श्लोक की—अनुक्रमणिका भी अलग दे दी है। यह अनुक्रमणिका वेदान्तसूत्रों की अधिकरण-माला के ढ़ँग की है। प्रत्येक श्लोक को पृथक् पृथक् न पढ़ कर अनुक्रमणिका के

इस सिलसिले से गीता के श्लोक एकत्र पढ़ने पर, गीता के तात्पर्य के सम्बन्ध में जो भ्रम फैला हुआ है वह कई अंशों में दूर हो सकता है। क्योंकि, साम्प्रदायिक टीकाकारों ने गीता के श्लोकों की खींचातानी कर अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये कुछ श्लोकों के जो निराले अर्थ कर डाले हैं, वे प्रायः इस पूर्वापार सन्दर्भ की ओर दुर्लक्ष्य करके ही किये गये हैं। उदाहरणार्थ, गीता ३. १९; ६. ३; और १८. २ देखिये। इस दृष्टि से देखें तो यह कहने में कोई हानि नहीं कि, गीता का यह अनुवाद और गीतारहस्य, दोनों परस्पर एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। और जिसे हमारा वक्तव्य पूर्णतया समझ लेना हो, उसे इन दोनों ही भागों का अवलोकन करना चाहिये। भगवद्गीता ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर लेने की रीति प्रचलित है, इसलिये उसमें महत्त्व के पाठभेद कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। फिर भी यह बतलाना आवश्यक है कि, वर्तमानकाल में गीता पर उपलब्ध होनेवाले भाष्यों में जो सब से प्राचीन भाष्य है, उसी शाङ्करभाष्य के मूल पाठ को हमने प्रमाण माना है।

गीता के अध्यायों की श्लोकशः
विषयानुक्रमणिका।

[नोट—इस अनुक्रमणिका में गीता के अध्यायों के, श्लोकों के क्रम से जो विभाग किये गये हैं, वे मूल संस्कृत श्लोकों के पहले §§ इस चिन्ह से दिखलाये गये हैं; और अनुवाद में ऐसे श्लोकों से अलग पैराग्राफ शुरू किया गया है]

पहला अध्याय— अर्जुनविषादयोग।

१ सञ्जय से धृतराष्ट्र का प्रश्न। २–११ दुर्योधन का द्रोणाचार्य से दोनों दलों की सेनाओं का वर्णन करना। १२–१९ युद्ध के आरम्भ में परस्पर सलामी के लिये शंखध्वनि। २०–२७ अर्जुन का रथ आगे आने पर सैन्य-निरीक्षण। २८–३७ दोनों सेनाओं में अपने ही बान्धव हैं, उनको मारने से कुलक्षय होगा यह सोच कर अर्जुन को विषाद हुआ। ३८–४४ कुलक्षय प्रभृति पातकों का परिणाम। ४५–४७ युद्ध न करने का अर्जुन का निश्चय और धनुर्बाण-त्याग।

दूसरा अध्याय—सांख्ययोग।

१–३ श्रीकृष्ण का उत्तेजन। ४–१० अर्जुन का उत्तर, कर्तव्य-मूढ़ता और धर्म-निर्णयार्थ श्रीकृष्ण के शरणापन्न होना। ११–१३ आत्मा का अशोच्यत्व। १४,१५ देह और सुख-दुःख की अनित्यता। १६–२५ सदसद्विवेक और आत्मा के नित्यत्वादि स्वरूप-कथन से उसके अशोचत्व का समर्थन। २६,२७ आत्मा के अनित्यत्व पक्ष को उत्तर। २८ सांख्यशास्त्रानुसार व्यक्त भूतों का अनित्यत्व और अशोचत्व। २९,३० लोगों की आत्मा दुर्ज्ञेय है सही; परन्तु तू सत्य ज्ञान को प्राप्त कर, शोक करना छोड़ दे। ३१–३८ क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता। ३९ सांख्यमार्गानुसार विषय-प्रतिपादन की समाप्ति, और कर्मयोग के प्रतिपादन का आरम्भ। ४० कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी क्षेमकारक है। ४१ व्यवसायात्मक बुद्धि की स्थिरता। ४२–४४ कर्मकाण्ड के अनुयायी मीमांसकों की अस्थिर बुद्धि का वर्णन। ४५, ४६ स्थिर और योगस्थ बुद्धि से कर्म करने के विषय में उपदेश। ४७ कर्मयोग की चतुःसूत्री। ४८–५० कर्मयोग का लक्षण और कर्म की अपेक्षा कर्ता की बुद्धि की श्रेष्ठता। ५१–५३ कर्मयोग से मोक्ष-प्राप्ति। ५४–७०

अर्जुन के पूछने पर, कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ के लक्षण; और उसी में प्रसङ्गानुसार विषयासक्ति से काम आदि की उत्पत्ति का क्रम। ७१, ७२ ब्राह्मी स्थिति।

तीसरा अध्याय—कर्मयोग।

१, २ अर्जुन का यह प्रश्न कि कर्मों को छोड़ देना चाहिये, या करते रहना चाहिये; सच क्या है? ३–८ यद्यपि सांख्य (कर्मसंन्यास) और कर्मयोग दो निष्ठाएँ हैं, तो भी कर्म किसी से नहीं छूटते इसलिये कर्मयोग की श्रेष्ठता सिद्ध करके, अर्जुन को इसी के आचरण करने का निश्चित उपदेश। ९–१६ मीमांसकों के यज्ञार्थ कर्म को भी आसक्ति छोड़ कर करने का उपदेश, यज्ञ-चक्र का अनादित्व और जगत् के धारणार्थ उसकी आवश्यकता। १७–१९ ज्ञानी पुरुष में स्वार्थ नहीं होता, इसी लिये वह प्राप्त कर्मों को निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम बुद्धि से किया करे, क्योंकि कर्म किसी से भी नहीं छूटते। २०–२४ जनक आदि का उदाहरण; लोक-संग्रह का महत्त्व और स्वयं भगवान् का दृष्टान्त। २५–२९ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में भेद, एवं यह आवश्यकता कि ज्ञानी मनुष्य निष्काम कर्म करके अज्ञानी को सदाचरण का आदर्श दिखलावे। ३० ज्ञानी पुरुष के समान परमेश्वरार्पण-बुद्धि से युद्ध करने का अर्जुन को उपदेश। ३१,३२ भगवान् के इस उपदेश के अनुसार श्रद्धापूर्वक वर्ताव करने अथवा न करने का फल। ३३,३४ प्रकृति की प्रबलता और इन्द्रिय-निग्रह। ३५ निष्काम कर्म भी स्वधर्म का ही करे, उसमें यदि मृत्यु हो जायँ तो कोई परवा नहीं। ३६–४१ काम ही मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाप करने के लिये उकसाता है, इन्द्रिय-संयम से उसका नाश। ४२,४३ इन्द्रियों की श्रेष्ठता का क्रम और आत्मज्ञानपूर्वक उनका नियमन।

चौथा अध्याय—ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग।

१-३ कर्मयोग की सम्प्रदाय-परम्परा। ४–८ जन्मरहित परमेश्वर माया से दिव्य जन्म अर्थात् अवतार कब और किस लिये लेता है—इसका वर्णन। ९,१० इस दिव्य जन्म का और कर्म का तत्त्व जान लेने से पुनर्जन्म छूट कर भगवत्प्राप्ति। ११,१२ अन्य रीति से भजे तो वैसा फल; उदाहरणार्थ, इस लोक के फल पाने के लिये देवताओं की उपासना। १३–१५ भगवान् के चातुर्वर्ण्य आदि निर्लेप कर्म, उनके तत्त्व को जान लेने से कर्मबन्ध का नाश और वैसे कर्म करने के लिये उपदेश। १६–२३ कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद, अकर्म ही निःसङ्ग कर्म है।

वही सच्चा कर्म है और उसी से कर्मबन्ध का नाश होता है। २४–३३ अनेक प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन; और ब्रह्मबुद्धि से किये हुए यज्ञ की अर्थात् ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता। ३४–३७ ज्ञाता से ज्ञानोपदेश, ज्ञान से आत्मौपम्य दृष्टि और पाप-पुण्य का नाश। ३८–४० ज्ञान-प्राप्ति के उपाय,—बुद्धि (-योग) और श्रद्धा। इसके अभाव में नाश। ४१, ४२ (कर्म-) योग और ज्ञान का पृथक् उपयोग बतला कर, दोनों के आश्रय से युद्ध करने के लिये उपदेश।

पाँचवाँ अध्याय—संन्यासयोग।

१,२ यह स्पष्ट प्रश्न कि, संन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग। इस पर भगवान् का यह निश्चित उत्तर कि मोक्षप्रद तो दोनों हैं, पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। ३–६ सङ्कल्पों को छोड़ देने से कर्मयोगी नित्यसंन्यासी ही होता है, और बिना कर्म के संन्यास भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। ७–१३ मन सदैव संन्यस्त रहता है, और कर्म केवल इन्द्रियाँ किया करती हैं, इसलिये कर्मयोगी सदा अलिप्त, शान्त और मुक्त रहता है। १४,१५ सच्चा कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति का है, परन्तु अज्ञान से आत्मा का अथवा परमेश्वर का समझा जाता है। १६,१७ इस अज्ञान के नाश से, पुनर्जन्म से छुटकारा। १८–२३ ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने-वाले समदर्शित्व का, स्थिर बुद्धि का और सुख-दुःख की क्षमता का वर्णन। २४–२८ सर्वभूतहितार्थ कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगी इसी लोक में सदैव ब्रह्मभूत, समाधिस्थ और मुक्त है। २९ (कर्तृत्व अपने ऊपर न लेकर) परमेश्वर को यज्ञ-तप का भोक्ता और सब भूतों का मित्र जान लेने का फल।

छठा अध्याय—ध्यानयोग।

१, २ फलाशा छोड़ कर कर्त्तव्य करनेवाला ही सच्चा संन्यासी और योगी है। संन्यासी का अर्थ निरग्नि और अक्रिय नहीं है। ३,४ कर्मयोगी की साधनावस्था में और सिद्धावस्था में शम एवं कर्म के कार्य-कारण का बदल जाना तथा योगा-रूढ का लक्षण। ५, ६ योग को सिद्ध करने के लिये आत्मा की स्वतन्त्रता। ७–९ जितात्म योगयुक्तों में भी समबुद्धि की श्रेष्ठता। १०–१७ योग-साधन के लिये आवश्यक आसन और आहार-विहार का वर्णन। १८–२३ योगी के, और योग-समाधि के, आत्यन्तिक सुख का वर्णन। २४–२६ मन को धीरे-धीरे समाधिस्थ, शान्त और आत्मनिष्ठ कैसे करना चाहिये? २७,२८ योगी ही ब्रह्मभूत और अत्यन्त

सुखी है। २६–३२ प्राणिमात्र में योगी की आत्मौपम्यबुद्धि। ३३–३६ अभ्यास और वैराग्य से चञ्चल मन का निग्रह। ३७–४५ अर्जुन के प्रश्न करने पर, इस विषय का वर्णन कि, योगभ्रष्ट को अथवा जिज्ञासु को भी जन्म-जन्मान्तर में उत्तम फल मिलने से अन्त में पूर्ण सिद्धि कैसे मिलती है। ४६, ४७ तपस्वी, ज्ञानी, और निरे कर्मी की अपेक्षा कर्मयोगी—और उसमें भी भक्तिमान् कर्मयोगी—श्रेष्ठ है। अतएव अर्जुन को (कर्म-) योगी होने के विषय में उपदेश।

सातवाँ अध्याय—ज्ञान-विज्ञान-योग।

१–३ कर्मयोग की सिद्धि के लिये ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ। सिद्धि के लिये प्रयत्न करनेवालों का कम मिलना। ४–७ क्षराक्षरविचार। भगवान् की अष्टधा, अपरा और जीवरूपी परा प्रकृति; इससे आगे सारा विस्तार। ८–१२ विस्तार के सात्त्विक आदि सब भागों में गुँथे हुए परमेश्वर-स्वरूप का दिग्दर्शन। १३-१५ परमेश्वर की यही गुणमयी और दुस्तर माया है, और उसी के शरणागत होने पर माया से उद्धार होता है। १६–१९ भक्त चतुर्विध हैं; इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है। अनेक जन्मों से ज्ञान की पूर्णता और भगवत्प्राप्तिरूप नित्य फल। २०–२३ अनित्य काम्य फलों के निमित्त देवताओं की उपासना; परन्तु इसमें भी उनकी श्रद्धा का फल भगवान् ही देते हैं। २४–२८ भगवान् का सत्यस्वरूप अव्यक्त है; परन्तु माया के कारण और द्वन्द्वमोह के कारण वह दुर्ज्ञेय है। माया-मोह के नाश से स्वरूप का ज्ञान। २९, ३० ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, और अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ सब एक परमेश्वर ही है—यह जान लेने से अन्त तक ज्ञानसिद्धि हो जाती है।

आठवाँ अध्याय– अक्षरब्रह्मयोग।

१–४ अर्जुन के प्रश्न करने पर ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अधिदेह की व्याख्या। उन सब में एक ही ईश्वर है। ५–८ अन्तकाल में भगवत्स्मरण से मुक्ति। परन्तु जो मन में नित्य रहता है, वही अन्तकाल में भी रहता है; अतएव सदैव भगवान् का स्मरण करने, और युद्ध करने, के लिये उपदेश। ९–१३ अन्तकाल में परमेश्वर का अर्थात् ओंकार का समाधिपूर्वक ध्यान और उसका फल। १४–१६ भगवान् का नित्य चिन्तन करने से पुनर्जन्म-नाश। ब्रह्मलोकादि गतियाँ नित्य नहीं हैं। १७–१९ ब्रह्मा का दिन-रात; दिन के आरम्भ

में अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति और रात्रि के आरम्भ में उसी में लय। २०–२२ इस अव्यक्त से भी परे का अव्यक्त और अक्षर पुरुष। भक्ति से उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म का नाश। २३–२६ देवयान और पितृयाणमार्ग; पहला पुनर्जन्म-नाशक है और दूसरा इसके विपरीत है। २७,२८ इन मार्गों के तत्त्व को जाननेवाले योगी को अत्युत्तम फल मिलता है, अतः तदनुसार सदा व्यवहार करने का उपदेश।

नवाँ अध्याय—राजविद्या—राजगुह्ययोग।

१–३ ज्ञान-विज्ञानयुक्त भक्तिमार्ग मोक्षप्रद होने पर भी प्रत्यक्ष और सुलभ है; अतएव राजमार्ग है। ४–६ परमेश्वर का अपार योग-सामर्थ्य। प्राणिमात्र में रह कर भी उनमें नहीं है, और प्राणिमात्र भी उसमें रह कर नहीं हैं। ७–१० मायात्मक प्रकृति के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और संहार, भूतों की उत्पत्ति और लय। इतना करने पर भी वह निष्काम है, अतएव अलिप्त है। ११,१२ इसे विना पहचाने, मोह में फँस कर, मनुष्य-देहधारी परमेश्वर की अवज्ञा करनेवाले मूर्ख और आसुरी हैं। १३–१५ ज्ञान-यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से उपासना करनेवाले दैवी हैं। १६–१९ ईश्वर सर्वत्र है, वही जगत् का मा-बाप है, स्वामी है, पोषक है और भले-बुरे का कर्त्ता है। २०–२२ श्रौत यज्ञ-याग आदि का दीर्घ उद्योग यद्यपि स्वर्गप्रद है, तो भी वह फल अनित्य है। योग-क्षेम के लिये यदि ये आवश्यक समझे जायँ तो वह भक्ति से भी साध्य है। २३–२५ अन्यान्य देवताओं की भक्ति पर्याय से परमेश्वर की ही होती है, परन्तु जैसी भावना होगी और जैसा देवता होगा, फल भी वैसा ही मिलेगा। २६ भक्ति हो तो परमेश्वर फूल की पँखुरी से भी सन्तुष्ट हो जाता है। २७,२८ सब कर्मों को ईश्वरार्पण करने का उपदेश। उसी के द्वारा कर्मबन्ध से छुटकारा और मोक्ष। २९–३३ परमेश्वर सब को एक सा है। दुराचारी हो या पापयोनि, स्त्री हो या वैश्य या शूद्र, निःसीम भक्त होने पर सब को एक ही गति मिलती है। ३४ यही मार्ग अङ्गीकार करने के लिये अर्जुन को उपदेश।

दसवाँ अध्याय—विभूतियोग।

१–३ यह जान लेने से पाप का नाश होता है कि अजन्मा परमेश्वर देवताओं से और ऋषियों से भी पूर्व का है। ४–६ ईश्वरी विभूति और योग। ईश्वर से ही

बुद्धि आदि भावों की, सप्तर्षियों की, और मनु की, एवं परम्परा से सब की उत्पत्ति। ७–११ इसे जाननेवाले भगवद्भक्तों को ज्ञान-प्राप्ति; परन्तु उन्हें भी बुद्धि-सिद्धि भगवान् ही देते हैं। १२–१८ अपनी विभूति और योग बतलाने के लिये भगवान् से अर्जुन की प्रार्थना। १९–४० भगवान् की अनन्त विभूतियों में से मुख्य मुख्य विभूतियों का वर्णन। ४१,४२ जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और ऊर्जित है, वह सब परमेश्वरी तेज है; परन्तु अंश से है।

ग्यारहवाँ अध्याय—विश्वरूप-दर्शन-योग।

१–४ पूर्व अध्याय में बतलाये हुए अपने ईश्वरी रूप को दिखलाने के लिये भगवान् से प्रार्थना। ५-८ इस आश्चर्यकारक और दिव्य रूप को देखने के लिये, अर्जुन को दिव्यदृष्टि-ज्ञान। ९–१४ विश्वरूप का सञ्जय-कृत वर्णन। १५–३१ विस्मय और भय से नम्र होकर अर्जुनकृत विश्वरूप-स्तुति, और यह प्रार्थना कि प्रसन्न हो कर बतलाइये कि 'आप कौन हैं'। ३२–३४ पहले यह बतला कर कि 'मैं काल हूँ' फिर अर्जुन को उत्साहजनक ऐसा उपदेश कि पूर्व से ही इस काल के द्वारा ग्रसे हुए वीरों को तुम निमित्त बन कर मारो। ३५–४६ अर्जुनकृत स्तुति, क्षमा, प्रार्थना और पहले का सौम्य रूप दिखलाने के लिये विनय। ४७–५१ बिना अनन्य भक्ति के विश्वरूप का दर्शन मिलना दुर्लभ है। फिर पूर्वस्वरूप-धारण। ५२–५४ बिना भक्ति के विश्वरूप का दर्शन देवताओं को भी नहीं हो सकता। ५५ अतः भक्ति से निस्सङ्ग और निर्वैर होकर परमेश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा कर्म करने के विषय में अर्जुन को सर्वार्थसारभूत अन्तिम उपदेश।

बारहवाँ अध्याय—भक्तियोग।

१ पिछले अध्याय के, अन्तिम सारभूत, उपदेश पर अर्जुन का प्रश्न—व्यक्तोपासना श्रेष्ठ है या अव्यक्तोपासना? २–८ दोनों में गति एक ही है; परन्तु अव्यक्तोपासना क्लेशकारक है, और व्यक्तोपासना सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद है। अतः निष्काम कर्मपूर्वक व्यक्तोपासना करने के विषय में उपदेश। ९–१२ भगवान् में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास, ज्ञान-ध्यान इत्यादि उपाय, और इनमें कर्मफल-त्याग की श्रेष्ठता। १३–१९ भक्तिमान् पुरुष की स्थिति का वर्णन और भगवत्प्रियता। २० इस धर्म का आचरण करनेवाले श्रद्धालु भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग।

१, २ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या। इनका ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। ३,४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार उपनिषदों का और ब्रह्मसूत्रों का है। ५,६ क्षेत्र-स्वरूपलक्षण। ७–११ ज्ञान का स्वरूप-लक्षण। तद्विरुद्ध अज्ञान। १२–१७ ज्ञेय के स्वरूप का लक्षण। १८ इस सब को जान लेने का फल। १९–२१ प्रकृति-पुरुष-विवेक। करने-धरनेवाली प्रकृति है, पुरुष अकर्त्ता किन्तु भोक्ता, द्रष्टा इत्यादि है। २२, २३ पुरुष ही देह में परमात्मा है। इस प्रकृति-पुरुष-ज्ञान से पुनर्जन्म नष्ट होता है। २४, २५ आत्मज्ञान के मार्ग—ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण से भक्ति। २६–२८ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से स्थावर-जङ्गम सृष्टि; इसमें जो अविनाशी है वही परमेश्वर है। अपने प्रयत्न से उसकी प्राप्ति। २९,३० करने-धरनेवाली प्रकृति है और आत्मा अकर्त्ता है; सब प्राणिमात्र एक में हैं और एक से सब प्राणिमात्र होते हैं। यह जान लेने से ब्रह्म-प्राप्ति। ३१–३३ आत्मा अनादि और निर्गुण है, अतएव यद्यपि वह क्षेत्र का प्रकाशक है तथापि निर्दोष है। ३४ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को जान लेने से परम सिद्धि।

चौदहवाँ अध्याय—गुणत्रयविभागयोग।

१, २ ज्ञान-विज्ञानान्तर्गत प्राणि-वैचित्र्य का गुण-भेद से विचार। वह भी मोक्षप्रद है। ३, ४ प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है और उसके अधीनस्थ प्रकृति माता है। ५–९ प्राणिमात्र पर सत्त्व, रज और तम के होनेवाले परिणाम। १०–१३ एक एक गुण अलग नहीं रह सकता। कोई दो को दबा कर तीसरे की वृद्धि; और प्रत्येक की वृद्धि के लक्षण। १४–१८ गुण-प्रवृद्धि के अनुसार कर्म के फल, और मरने पर प्राप्त होनेवाली गति। १९, २० त्रिगुणातीत हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति २१–२५ अर्जुन के प्रश्न करने पर त्रिगुणातीत के लक्षण का और आचार का वर्णन। २६, २७ एकान्तभक्ति से त्रिगुणातीत अवस्था की सिद्धि, और फिर सब मोक्ष के, धर्म के, एवं सुख के अन्तिम स्थान परमेश्वर की प्राप्ति।

पन्द्रहवाँ अध्याय—पुरुषोत्तमयोग।

१, २ अश्वत्थरूपी ब्रह्मवृक्ष के वेदोक्त और सांख्योक्त वर्णन का मेल। ३–६ असङ्ग से इसको काट डालना ही इससे परे के अव्यय पद की प्राप्ति का मार्ग है। अव्यय-पद-वर्णन। ७–११ जीव और लिङ्ग-शरीर का स्वरूप एवं संबंध। ज्ञानी के

लिये गोचर है। १२–१५ परमेश्वर की सर्वव्यापकता। १६–१८ क्षराक्षर-लक्षण। इससे परे पुरुषोत्तम। १९, २० इस गुह्य पुरुषोत्तम-ज्ञान से सर्वज्ञता और कृत-कृत्यता।

सोलहवाँ अध्याय—दैवासुरसम्पद्विभागयोग।

१–३ दैवी सम्पत्ति के छब्बीस गुण। ४ आसुरी सम्पत्ति के लक्षण। ५ दैवी सम्पत्ति मोक्षप्रद और आसुरी बन्धनकारक है। ६–२० आसुरी लोगों का विस्तृत वर्णन। उनको जन्म-जन्म में अधोगति मिलती है। २१,२२ नरक के त्रिविध द्वार—काम, क्रोध और लोभ। इनसे बचने में कल्याण है। २३,२४ शास्त्रानुसार कार्याकार्य का निर्णय और आचरण करने के विषय में उपदेश।

सत्रहवाँ अध्याय—श्रद्धात्रयविभागयोग।

१–४ अर्जुन के पूछने पर प्रकृति-स्वभावानुसार सात्त्विक आदि त्रिविध श्रद्धा का वर्णन। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। ५,६ इनसे भिन्न आसुर। ७–१० सात्त्विक, राजस और तामस आहार। ११–१३ त्रिविध यज्ञ। १४–१६ तप के तीन भेद—शारीर, वाचिक और मानस। १७–१९ इनमें सात्त्विक आदि भेदों से प्रत्येक त्रिविध है। २०–२२ सात्त्विक आदि त्रिविध दान। २३ ॐ तत्सत् ब्रह्मनिर्देश। २४–२७ इनमें ॐ से आरम्भसूचक, 'तत्' से निष्काम और सत् से प्रशस्त कर्म का समावेश होता है। २८ शेष अर्थात् असत् इहलोक और परलोक में निष्फल है।

अठारहवाँ अध्याय—मोक्षसंन्यासयोग।

१,२ अर्जुन के पूछने पर संन्यास और त्याग की कर्मयोगमार्गान्तर्गत व्याख्याएँ। ३–६ कर्म का त्याज्य-अत्याज्य विषयक निर्णय; यज्ञ-याग आदि कर्मों को भी अन्यान्य कर्मों के समान निःसङ्ग बुद्धि से करना ही चाहिये। ७–९ कर्मत्याग के तीन भेद—सात्त्विक, राजस और तामस; फलाशा छोड़ कर कर्त्तव्यकर्म करना ही सात्त्विक त्याग है। १०,११ कर्मफल-त्यागी ही सात्त्विक त्यागी है, क्योंकि कर्म तो किसी से भी छूट ही नहीं सकता। १२ कर्म का त्रिविध फल सात्त्विक त्यागी पुरुष को बन्धक नहीं होता। १३–१५ कोई भी कर्म होने के पाँच कारण हैं, केवल मनुष्य ही कारण नहीं है। १६,१७ अतएव यह अहङ्कार-बुद्धि—कि मैं करता हूँ—छूट जाने से कर्म करने पर भी अलिप्त रहता है। १८,१९ कर्मचोदना और कर्मसंग्रह का सांख्योक्त लक्षण, और उनके तीन भेद। २०–२२ सात्त्विक आदि गुण-भेद से ज्ञान

के तीन भेद। 'अविभक्तं विभक्तेषु' यह सात्त्विक ज्ञान है। २३–२५ कर्म की त्रिविधता। फलाशारहित कर्म सात्त्विक है। २६–२८ कर्ता के तीन भेद। निःसङ्ग कर्ता सात्त्विक है। २६–३२ बुद्धि के तीन भेद। ३३–३५ धृति के तीन भेद। ३६–३६ सुख के तीन भेद। आत्म-बुद्धिप्रसादज सात्त्विक सुख है। ४० गुण-भेद से सारे जगत् के तीन भेद। ४१–४४ गुण-भेद से चातुर्वर्ण्य की उपपत्ति; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्वभावजन्य कर्म। ४५,४६ चातुर्वर्ण्य-विहित स्वकर्माचरण से ही अन्तिम सिद्धि। ४७–४६ परधर्म भयावह है, स्वकर्म सदोष होने पर भी अत्याज्य है; सारे कर्म स्वधर्म के अनुसार निस्सङ्ग बुद्धि के द्वारा करने से ही नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलती है। ५०–५६ इस बात का निरूपण कि सारे कर्म करते रहने से भी सिद्धि किस प्रकार मिलती है। ५७,५८ इसी मार्ग को स्वीकार करने के विषय में अर्जुन को उपदेश। ५६-६३ प्रकृति-धर्म के सामने अहङ्कार की एक नहीं चलती। ईश्वर की ही शरण में जाना चाहिये। अर्जुन को यह उपदेश कि इस गुह्य को समझ कर फिर जो दिल में आवे, सो कर। ६४-६६ भगवान् का यह अन्तिम आश्वासन कि सब धर्म छोड़ कर "मेरी शरण में आ," सब पापों से "मैं तुझे मुक्त कर दूँगा"। ६७–६६ कर्मयोगमार्ग की परम्परा को आगे प्रचलित रखने का श्रेय। ७०,७१ उसका फल-माहात्म्य। ७२,७३ कर्त्तव्य-मोह नष्ट हो कर, अर्जुन की युद्ध करने के लिये तैयारी। ७४–७८ धृतराष्ट्र को यह कथा सुना चुकने पर सञ्जय-कृत उपसंहार।

———
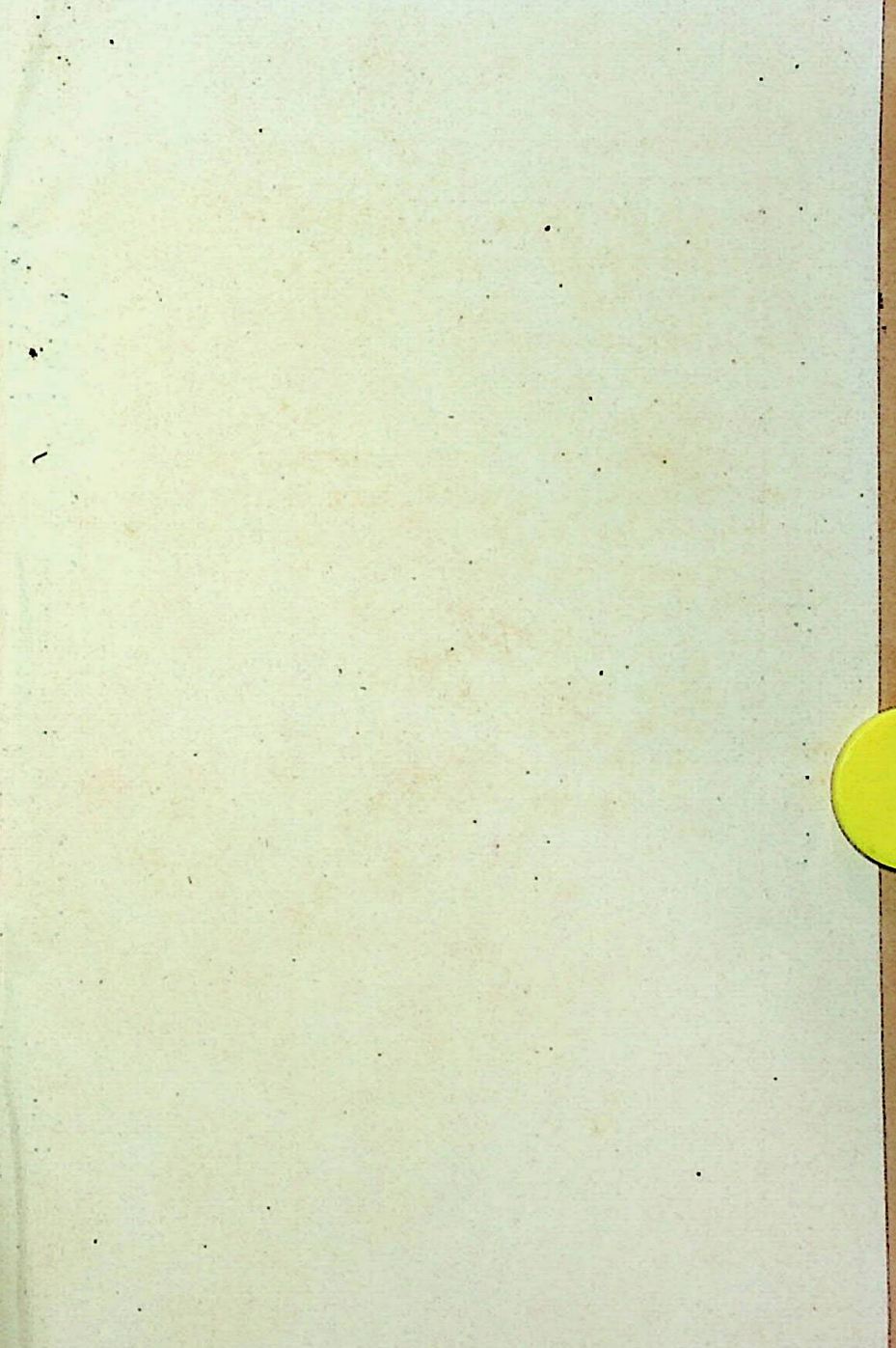
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ । माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
...कपिध्वजः । ...धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥ सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥ अ. १.

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

पहला अध्याय ।

[भारतीय युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस गीता का उपदेश किया है, उसका लोगों में प्रचार कैसे हुआ, उसकी परम्परा वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में ही इस प्रकार दी गई है:—युद्ध आरम्भ होने से प्रथम व्यासजी ने धृतराष्ट्र से जा कर कहा कि "यदि तुम्हारी इच्छा युद्ध देखने की हो तो मैं अपनी तुम्हें दृष्टि देता हूँ।" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि "मैं अपने कुल का क्षय अपनी दृष्टि से नहीं देखना चाहता"। तब एक ही स्थान पर बैठे बैठे, सब बातों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने के लिये सञ्जय नामक सूत को व्यासजी ने दिव्य-दृष्टि दे दी। इस सञ्जय के द्वारा युद्ध के अविकल वृत्तान्त धृतराष्ट्र को अवगत करा देनेका प्रबन्ध करके व्यासजी चले गये (मभा. भीष्म. २)। जब आगे युद्ध में भीष्म आहत हुए, और उक्त प्रबन्ध के अनुसार समाचार सुनाने के लिये पहले संजय धृतराष्ट्र के पास गया, तब भीष्म के बारे में शोक करते हुए धृतराष्ट्र ने सञ्जय को आज्ञा दी कि युद्ध की सारी बातों का वर्णन करो। तदनुसार सञ्जय ने पहले दोनों दलों की सेनाओं का वर्णन किया; और फिर धृतराष्ट्र के पूछने पर गीता बतलाना आरम्भ किया है। आगे चल कर यह सब वार्ता व्यासजी ने अपने शिष्यों को, उन शिष्यों में से वैशम्पायन ने जनमेजय को, और अन्त में सौती ने शौनक को सुनाई है। महाभारत की सभी छपी हुई पोथीयों में भीष्मपर्व के २५ वें अध्याय से ४२ वें अध्याय तक यही गीता कही गई है। इस परम्परा के अनुसार—]

संजय उवाच ।

§§ दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

धृतराष्ट्र ने पूछा–(१) हे सञ्जय ! कुरुक्षेत्र की पुण्यभूमि में एकत्रित मेरे और पाण्डु के युद्धेच्छुक पुत्रों ने क्या किया ?

[हस्तिनापुर के चहुँ ओर का मैदान कुरुक्षेत्र है । वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदान पर बसा हुआ है । कौरव-पाण्डवों का पूर्वज, कुरु नाम का राजा इस मैदान को हल से बड़े कष्टपूर्वक जोता करता था; अतएव इसको क्षेत्र (या खेत) कहते हैं। जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो लोग तप करते करते, या युद्ध में, मर जावेंगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया (मभा. शल्य. ५३) । इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र धर्म-क्षेत्र या पुण्य-क्षेत्र कहलाने लगा । इस मैदान के विषय में यह कथा प्रचलित है, कि यहाँ पर परशुराम ने इक्कीस बार सारी पृथ्वी को निःक्षत्रिय करके पितृ-तर्पण किया था; और अर्वाचीन काल में भी इसी क्षेत्र पर बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं ।]

सञ्जय ने कहा—(२) उस समय पाण्डवों की सेना को व्यूह रच कर (खड़ी) देख, राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्य के पास गया और उनसे कहने लगा, कि—

[महाभारत (मभा. भी. १६. ४–७; मनु. ७. १६१) के उन अध्यायों में, कि जो गीता से पहले लिखे गये हैं, यह वर्णन है कि जब कौरवों की सेना का भीष्म-द्वारा रचा हुआ व्यूह पाण्डवों ने देखा और जब उनको अपनी सेना कम देख पड़ी तब उन्होंने युद्धविद्या के अनुसार वज्र नामक व्यूह रचकर अपनी सेना खड़ी की । युद्ध में प्रतिदिन ये व्यूह बदला करते थे ।]

(३) हे आचार्य ! पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, कि जिसकी व्यूह रचना तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने की है । (४) इसमें शूर,

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

महाधनुर्धर, और युद्ध में भीम तथा अर्जुन सरीखे युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपद, (५) धृष्टकेतु, चेकितान और वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और नरश्रेष्ठ शैब्य, (६) इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु और वीर्यशाली उत्तमौजा, एवं सुभद्रा के पुत्र (अभिमन्यु), तथा द्रौपदी के (पाँच) पुत्र—ये सभी महारथी हैं।

[दस हज़ार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करनेवाले को महारथी कहते हैं। दोनों ओर की सेनाओं में जो रथी, महारथी अथवा अतिरथी थे, उनका वर्णन उद्योगपर्व (१६४ से १७१ तक) के आठ अध्यायों में किया गया है। वहाँ बतला दिया है, कि धृष्टकेतु शिशुपाल का बेटा था। इसी प्रकार पुरुजित्, कुन्तिभोज ये दो भिन्न भिन्न पुरुषों के नाम नहीं हैं। जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित् उसका औरस पुत्र था, और कुन्तिभोज अर्जुन का मामा था (मभा.उ.१७१.२)। युधामन्यु और उत्तमौजा, दोनों पाञ्चाल्य थे, और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों अर्जुन के चक्ररक्षक थे। शैब्य शिबी देश का राजा था।]

(७) हे द्विजश्रेष्ठ! अब हमारी ओर, सेना के जो मुख्य मुख्य नायक हैं उनके नाम भी मैं आपको सुनाता हूँ; ध्यान दे कर सुनिये। (८) आप और भीष्म, कर्ण और रणजीत कृप, अश्वत्थामा और विकर्ण (दुर्योधन के सौ भाइयों में से एक), तथा

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा), (९) एवं इनके सिवा बहुतेरे अन्यान्य शूर मेरे लिये प्राण देने को तैयार हैं, और सभी प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण तथा युद्ध में प्रवीण हैं। (१०) इस प्रकार हमारी यह सेना, जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं, अपर्याप्त अर्थात् अपरिमित या अमर्यादित है; किन्तु उन (पाण्डवों) की यह सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहा है, पर्याप्त अर्थात् परिमित या मर्यादित है।

[इस श्लोक में 'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त' शब्दों के अर्थ के विषय में मत-भेद है। 'पर्याप्त' का सामान्य अर्थ 'बस' या 'काफ़ी' होता है, इसलिये कुछ लोग यह अर्थ बतलाते हैं कि "पाण्डवों की सेना काफ़ी है और हमारी काफ़ी नहीं हैं," परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पहले उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र से अपनी सेना का वर्णन करते समय उक्त मुख्य मुख्य सेनापतिओं के नाम बतला कर, दुर्योधन ने कहा है कि "मेरी सेना बड़ी और गुणवान् है, इसलिये जीत मेरी ही होगी" (उ. ५४.६०–७०)। इसी प्रकार आगे चल कर भीष्मपर्व में, जिस समय द्रोणाचार्य के पास दुर्योधन फिरसे सेना का वर्णन कर रहा था, उस समय भी, गीता के उपर्युक्त श्लोकों के समान ही श्लोक उसने अपने मुँह से ज्यों के त्यों कहे हैं (भीष्म. ५१.४–६)। और, तीसरी बात यह है, कि सब सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिये ही हर्षपूर्वक यह वर्णन किया गया है। इन सब बातों का विचार करने से, इस स्थान पर, 'अपर्याप्त' शब्द का "अमर्यादित, अपार या अगणित" के सिवा और कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। 'पर्याप्त' शब्द का धात्वर्थ "चहुँ ओर (परि–) वेष्टन करने योग्य (आप्=आपणे)" है। परन्तु, "अमुक काम के लिये पर्याप्त" या "अमुक मनुष्य के लिये पर्याप्त" इस प्रकार पर्याप्त शब्द के पीछे, चतुर्थी अर्थ के दूसरे शब्द जोड़ कर प्रयोग करने से पर्याप्त शब्द का यह अर्थ हो जाता है–"उस काम के लिये या मनुष्य के लिये भरपूर अथवा समर्थ।" और, यदि 'पर्याप्त' के पीछे कोई दूसरा

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

शब्द न रखा जावे, तो केवल 'पर्याप्त' शब्द का अर्थ होता है "भरपूर, परिमित या जिसकी गिनती की जा सकती है"। प्रस्तुत श्लोक में पर्याप्त शब्द के पीछे दूसरा कोई शब्द नहीं है, इसलिये यहाँ पर उसका उपर्युक्त दूसरा अर्थ (परिमित या मर्यादित) ही विवक्षित है; और, महाभारत के अतिरिक्त अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग किये जाने के उदाहरण ब्रह्मानन्दगिरि कृत टीका में दिये गये हैं। कुछ लोगों ने यह उपपत्ति बतलाई है, कि दुर्योधन भय से अपनी सेना को 'अपर्याप्त' अर्थात् 'बस नहीं' कहता है, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि, दुर्योधन के डर जाने का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता; किन्तु इसके विपरीत यह वर्णन पाया जाता है, कि दुर्योधन की बड़ी भारी सेना को देख कर पाण्डवों ने वज्र नामक व्यूह रचा और कौरवों की अपार सेना देख युधिष्ठिर को बहुत खेद हुआ था (मभा. भीष्म. १९.५ और २१.१)। पाण्डवों की सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न था, परन्तु "भीम रक्षा कर रहा है" कहने का कारण यह है, कि पहले दिन पाण्डवों ने जो वज्र नाम का व्यूह चा रथा उसकी रक्षा के लिये इस व्यूह के अग्र भाग में भीम ही नियुक्त किया गया था, अतएव सेनारक्षक की दृष्टि से दुर्योधन को वही सामने दिखाई दे रहा था। (मभा. भीष्म.१९.४-११, ३३, ३४); और, इसी अर्थ में इन दोनों सेनाओं के विषय में, महाभारत से गीता के पहले के अध्यायों में "भीमनेत्र" और "भीष्मनेत्र" कहा गया है (देखो मभा. भी. २०. १)।]

(११) (तो अब) नियुक्त के अनुसार सब अयनों में अर्थात् सेना के भिन्न भिन्न प्रवेश-द्वारों में रह कर तुम सब को मिल करके भीष्म की ही सभी ओर से रक्षा करनी चाहिये।

[सेनापति भीष्म स्वयँ पराक्रमी और किसी से भी हार जानेवाले न थे। 'सभी ओर से सब को उनकी रक्षा करनी चाहिये,' इस कथन का कारण दुर्योधन ने दूसरे स्थल पर (मभा. भी. १५. १५-२०; ९९. ४०, ४१) यह बतलाया है, कि भीष्म का निश्चय था कि हम शिखण्डी पर शस्त्र न चलावेंगे; इसलिये शिखण्डी की ओर से भीष्म के घात होने की सम्भावना थी। अतएव सब को सावधानी रखनी चाहिये—

§§ तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम्।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयेथाः शिखण्डिना ॥

"महाबलवान् सिंह की रक्षा न करें तो भेड़िया उसे मार डालेगा; इसलिये जम्बुक सदृश शिखण्डी से सिंह का घात न होने दो।" शिखण्डी को छोड़ और दूसरे किसी की भी खबर लेने के लिये भीष्म अकेले ही समर्थ थे, किसी की सहायता की उन्हें अपेक्षा न थी।]

(१२) (इतने में) दुर्योधन को हर्षाते हुए प्रतापशाली वृद्ध कौरव पितामह (सेनापति भीष्म) ने सिंह की ऐसी बड़ी गर्जना कर (लड़ाई की सलामी के लिये) अपना शंख फूँका। (१३) इसके साथ ही साथ अनेक शंख, भेरी (नौबतें), पणव, आनक और गोमुख (ये लड़ाई के बाजे) एकदम बजने लगे और इन बाजों का नाद चारों ओर खूब गूंज उठा। (१४) अनन्तर सफेद घोड़ों से जुते हुए बड़े रथ में बैठे हुए माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने (यह सूचना करने के लिये, कि अपने पक्ष की भी तैयारी है, प्रत्युत्तर के ढँग पर) दिव्य शंख बजाये। (१५) हृषीकेश अर्थात् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य (नामक शंख), अर्जुन ने देवदत्त, भयङ्कर कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेन ने पौण्ड्र नामक बड़ा शंख फूँका; (१६) कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥ १८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥
§§ अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ २२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

(१७) महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट तथा अजेय सात्यकि, (१८) द्रुपद और द्रौपदी के (पाँचों बेटे, तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु), इन सब ने, हे राजा (धृतराष्ट्र)! चारों ओर अपने अपने अलग अलग शंख बजाये। (१९) आकाश और पृथिवी को दहला देनेवाली उस तुमुल आवाज़ ने कौरवों का कलेजा फाड़ डाला।

(२०) अनन्तर कौरवों को व्यवस्था से खड़े देख, परस्पर एक दूसरे पर शस्त्रप्रहार होने का समय आने पर, कपिध्वज पाण्डव अर्थात् अर्जुन, (२१) हे राजा धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण से ये शब्द बोला—अर्जुन ने कहा—हे अच्युत! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चल कर खड़ा करो, (२२) इतने में युद्ध की इच्छा से तैयार हुए इन लोगों को मैं अवलोकन करता हूँ; और, मुझे इस रणसंग्राम में किनके साथ लड़ना है, एवं (२३) 'युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का कल्याण करने की

संजय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥

इच्छा से यहाँ जो लड़नेवाले जमा हुए हैं, उन्हें मैं देख लूँ। संजय बोला- (२४) हे धृतराष्ट्र! गुड़ाकेश अर्थात् आलस्य को जीतनेवाले अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने (अर्जुन के) उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्यभाग में ला कर खड़ा कर दिया; और—

[हृषीकेश और गुडाकेश शब्दों के जो अर्थ उपर दिये गये हैं, वे टीकाकारों के मतानुसार हैं। नारदपञ्चरात्र में भी 'हृषीकेश' की यह निरुक्ति है, कि हृषीक = इन्द्रियाँ और उनका ईश = स्वामी (ना.पञ्च.५.८.१७); और अमरकोश पर क्षीरस्वामी की जो टीका है उसमें लिखा है, कि हृषीक (अर्थात् इन्द्रियाँ) शब्द हृष्=आनन्द देना, इस धातू से बना है। इन्द्रियां मनुष्य को आनन्द देती हैं इसलिये उन्हें हृषीक कहते हैं। तथापि, यह शङ्का होती है, कि हृषीकेश और गुडाकेश का जो अर्थ उपर दिया गया है, वह ठीक है या नहीं। क्योंकि, हृषीक (अर्थात् इन्द्रियाँ) और गुडाका (अर्थात् निद्रा या आलस्य) ये शब्द प्रचलित नहीं हैं। हृषीकेश और गुडाकेश इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति दूसरी रीति से भी लग सकती है। हृषीक+ईश और गुड़ाका+ईश के बदले हृषी+केश और गुडा+केश ऐसा भी पदच्छेद किया जा सकता है; और फिर यह अर्थ हो सकता है कि हृषी अर्थात् हर्ष से खड़े किये हुए या प्रशस्त जिसके केश (बाल) हैं, वह श्रीकृष्ण, और गुडा अर्थात् गूढ़ या घने जिसके केश हैं, वह अर्जुन। भारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने गुडाकेश शब्द का यह अर्थ, गी. १०.२० पर अपनी टीका में, विकल्प से सूचित किया है; और सूत के बाप का जो रोमहर्षण नाम है, उससे हृषीकेश शब्द की उल्लिखित दूसरी व्युत्पत्ति को भी असम्भवनीय नहीं कह सकते। महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में विष्णु के मुख्य मुख्य नामों की निरुक्ति देते हुए यह अर्थ किया है, कि हृषी अर्थात् आनन्ददायक और केश अर्थात् किरण, और कहा है कि सूर्य-चंद्र-रूप अपनी विभूतियों की किरणों से समस्त जगत् को हर्षित करता है, इसलिय उसे हृषीकेश कहते हैं (शांति. ३४१. ४७ और ३४२. ६४,६५ देखो; उद्यो. ६९.९);

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच।

§§ दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

और, पहले श्लोकों में कहा गया है, कि इसी प्रकार केशव शब्द भी केश अर्थात् किरण शब्द से बना है (शां. ३४१. ४७)। इनमें कोई भी अर्थ क्यों न लें, पर श्रीकृष्ण और अर्जुन के ये नाम रखे जाने के, सभी अंशों में, योग्य कारण बतलाये जा नहीं सकते। लेकिन यह दोष नैरुक्तिकों का नहीं है। जो व्यक्ति-वाचक या विशेष नाम अत्यन्त रूढ़ हो गये हैं, उनकी निरुक्ति बतलाने में इस प्रकार की अड़चनों का आना या मतभेद हो जाना बिलकुल सहज बात है।]

(२५) भीष्म, द्रोण, तथा सब राजाओं के सामने (वे) बोले, कि "अर्जुन! यहाँ एकत्रित हुए इन कौरवों को देखो"। (२६) तब अर्जुन को दिखाई दिया, कि वहाँ पर इकट्ठे हुऐ सब (अपने ही) बड़े-बूढ़े, आजा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती, मित्र, (२७) ससुर और स्नेही दोनों ही सेनाओं में हैं; (और इस प्रकार) यह देख कर, कि वे सभी एकत्रित हमारे बान्धव हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन (२८) परम करुणा से व्याप्त होता हुआ खिन्न हो कर यह कहने लगा—

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! युद्ध करने की इच्छा से (यहाँ) जमा हुए इन स्वजनों को देख कर (२९) मेरे गात्र शिथिल हो रहे हैं, मुंह सुख रहा है, शरीर

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

में कँपकँपी उठ कर रोएँ भी खड़े हो गये हैं; (३०) गाण्डीव (धनुष्य) हाथ से गिर पड़ता है और शरीर में भी सर्वत्र दाह हो रहा है; खड़ा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा गया है। (३१) इसी प्रकार हे केशव! (मुझे सब) लक्षण विपरीत दिखते हैं और स्वजनों को युद्ध में मार कर श्रेय अर्थात् कल्याण (होगा ऐसा) नहीं देख पड़ता। (३२) हे कृष्ण! मुझे विजय की इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुख ही। हे गोविंद! राज्य, उपभोग या जीवित रहने से ही हमें उसका क्या उपयोग है? (३३) जिनके लिये राज्य की, उपभोगों की और सुखों की इच्छा करनी थी, वे ही ये लोग जीव और सम्पत्ति की आशा छोड़ कर युद्ध के लिये खड़े हैं। (३४) आचार्य, बड़े-बूढ़े, लड़के, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और सम्बन्धी, (३५) यद्यपि ये (हमें) मारने के लिये खड़े हैं, तथापि हे मधुसूदन! त्रैलोक्य के राज्य तक के लिये, मैं (इन्हें) मारने की इच्छा नहीं करता; फिर पृथ्वी की बात है क्या चीज़? (३६) हे जनार्दन! इन कौरवों को मार कर हमारा

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
§§ यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कौन सा प्रिय होगा? यद्यपि ये आततायी हैं, तो भी इनको मारने से हमें पाप ही लगेगा। (३७) इसलिये हमें अपने ही बान्धव कौरवों को मारना उचित नहीं है; क्योंकि, हे माधव! स्वजनों को मार कर हम सुखी क्योंकर होंगे?

[अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः॥ (वसिष्ठस्मृ. ३. १६) अर्थात् घर जलाने के लिये आया हुआ, विष देनेवाला, हाथ में हथियार ले कर मारने के लिये आया हुवा, धन लूट कर ले जानेवाला और स्त्री या खेत का हरणकर्ता—ये छः आततायी हैं। मनु ने भी कहा है, कि इन दुष्टों को बेधड़क जान से मार डाले, इसमें कोई पातक नहीं है (मनु. ८. ३५०, ३५१)।]

(३८) लोभ से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, उन्हें कुल के क्षय से होनेवाला दोष और मित्रद्रोह का पातक यद्यपि दिखाई नहीं देता, (३९) तथापि, हे जनार्दन! कुलक्षय का दोष हमें स्पष्ट देख पड़ रहा है, अतः इस पाप से पराङ्मुख होने की बात हमारे मन में आये बिना कैसे रहेगी?

[प्रथम से ही यह प्रत्यक्ष हो जाने पर, कि युद्ध में गुरुवध, सुहृद्वध और कुलक्षय होगा, लड़ाई-सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के विषय में अर्जुन को जो व्यामोह हुआ, उसका क्या बीज है? गीता में जो आगे प्रतिपादन है, उससे इसका क्या सम्बन्ध है? और उस दृष्टि से प्रथमाध्याय का कौन सा महत्त्व है? इन सब प्रश्नों का विचार गीतारहस्य के पहले और फिर चौदहवें प्रकरण में हमने किया है, उसे देखो। इस स्थान पर ऐसी साधारण युक्तियों का उल्लेख किया गया है जैसे, लोभ से बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण दुष्टों को अपनी दुष्टता जान न पड़ती हो, तो चतुर पुरुषों को दुष्टों के फन्दे में पड़ कर दुष्ट न होना चाहिये—न पापे

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रिया: ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

प्रतिपापः स्यात्—उन्हें चुप रहना चाहिये। इस साधारण युक्तियों का ऐसे प्रसङ्ग पर कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है, अथवा करना चाहिये?—यह भी ऊपर के समान ही एक महत्त्व का प्रश्न है, और इसका गीता के अनुसार जो उत्तर है, उसका हमने गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृष्ठ ३९०–३९६) में निरूपण किया है। गीता के अगले अध्यायों में जो विवेचन है,वह अर्जुन की उन शंकाओं की निवृत्ति करने के लिये है, कि जो उसे पहले अध्याय में हुई थीं; इस बात पर ध्यान दिये रहने से गीता का तात्पर्य समझने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। भारतीय युद्ध में एक ही राष्ट्र और धर्म के लोगों में फूट हो गई थी और वे परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो गये थे। इसी कारण से उक्त शङ्काएँ उत्पन्न हुई हैं। अर्वाचीन इतिहास में जहाँ-जहाँ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ-वहाँ ऐसे ही प्रश्न उपस्थित हुए हैं। अस्तु; आगे कुल-क्षय से जो जो अनर्थ होते हैं, उन्हें अर्जुन स्पष्ट कर कहता है]

(४०) कुल का क्षय होने से सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं, और (कुल-) धर्मों के छूटने से समूचे कुल पर अधर्म की धाक जमती है; (४१) हे कृष्ण! अधर्म के फैलने से कुलस्त्रियाँ बिगड़ती हैं; हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के बिगड़ जाने पर, वर्ण-सङ्कर होता है। (४२) और वर्णसङ्कर होने से वह कुलघातक को और (समग्र) कुल को निश्चय ही नरक में ले जाता है, एवं पिण्डदान और तर्पणादि क्रियाओं के लुप्त हो जाने से उनके पितर भी पतन पाते हैं। (४३) कुलघातकों के इन वर्ण-

द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

दूसरा अध्याय ।

सञ्जय ने कहा—(१) इस प्रकार करुणा से व्याप्त, आँखों में आँसू भरे हुए और विषाद पानेवाले अर्जुन से मधुसूदन (श्रीकृष्ण) यह बोले—श्रीभगवान् ने कहा—(२) हे अर्जुन ! सङ्कट के इस प्रसङ्ग पर तेरे (मन में) यह मोह (कश्मल) कहाँ से आ गया, जिसका कि आर्य अर्थात् सत्पुरुषों ने (कभी) आचरण नहीं किया, जो अधोगति को पहुँचानेवाला है, और जो दुष्कीर्तिकारक है ? (३) हे पार्थ ! ऐसा नामर्द मत हो ! यह तुझे शोभा नहीं देता। अरे शत्रुओं को ताप देनेवाले ! अन्तःकरण की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़ कर (युद्ध के लिये) खड़ा हो !

[इस स्थान पर हम ने परन्तप शब्द का अर्थ कर तो दिया है; परन्तु, बहुतेरे टीकाकारों का यह मत हमारी राय में युक्तिसङ्गत नहीं है, कि अनेक स्थानों पर आनेवाले विशेषण-रूपी संबोधन या कृष्ण-अर्जुन के नाम गीता में हेतुगर्भित अथवा अभिप्राय सहित प्रयुक्त हुए हैं। हमारा मत है, कि पद्यरचना के लिये अनुकूल नामों का प्रयोग किया गया है, और उनमें कोई विशेष अर्थ उद्दिष्ट नहीं है। अतएव कई बार हम ने श्लोक में प्रयुक्त नामों का ही हूबहू अनुवाद न कर 'अर्जुन' या 'श्रीकृष्ण' ऐसा साधारण अनुवाद कर दिया है।]

अर्जुन उवाच !

§§ कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अर्जुन ने कहा-(४)हे मधुसूदन ! मैं(परम)पूज्य भीष्म और द्रोण के साथ हे शत्रुनाशन ! युद्ध में बाणों से कैसे लड़ूंगा? (५) महात्मा गुरु लोगों को न मार कर, इस लोक में भीख माँग करके पेट-पालना भी श्रेयस्कर है; परन्तु अर्थ-लोलुप (हों तो भी) गुरु लोगों को मार कर इसी जगत् में मुझे उनके रक्त से सने हुए भोग भोगने पड़ेंगे।

['गुरु लोगों' इस बहुवचनान्त शब्द से ' बड़े बूढ़ों ' का ही अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि, विद्या सिखलानेवाला गुरु एक द्रोणाचार्य को छोड़, सेना में और कोई दूसरा न था। युद्ध छिड़ने के पहले जब ऐसे गुरु लोगों—अर्थात् भीष्म, द्रोण और शल्य–की पादवन्दना कर उनका आशीर्वाद लेने के लिये युधिष्ठिर रणाङ्गण में, अपना कवच उतार कर, नम्रता से उनके समीप गये, तब शिष्टसम्प्रदाय का उचित पालन करनेवाले युधिष्ठिर का अभिनन्दन कर सब ने इसका कारण बतलाया, कि दुर्योधन की ओर से हम क्यों लड़ेंगे;

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

" सच तो यह है कि मनुष्य अर्थ का गुलाम है, अर्थ किसी का गुलाम नहीं; इसलिये, हे युधिष्टिर महाराज ! कौरवों ने मुझे अर्थ से जकड़ रखा है " (मभा.भी. अ. ४३, श्लो. ३५,५०,७६)। ऊपर जो यह "अर्थ-लोलुप " शब्द है, वह इसी श्लोक के अर्थ का द्योतक है।]

(६) हम जय प्राप्त करें या हमें (वे लोग) जीत लें—इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नहीं पड़ता। जिन्हें मार कर फिर जीवित रहने की इच्छा नहीं वे ही ये कौरव (युद्ध के लिये) सामने डटे हैं !

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

['गरीयः' शब्द से प्रगट होता है, कि अर्जुन के मन में 'अधिकांश लोगों के अधिक सुख' के समान कर्म और अकर्म की लघुता-गुरुता ठहराने की कसौटी थी; पर वह इस बात का निर्णय नहीं कर सकता था, कि उस कसौटी के अनुसार किसकी जीत होने में भलाई है। गीतारहस्य पृ. ८३-८५ देखो।]

(७) दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है, (मुझे अपने) धर्म अर्थात् कर्त्तव्य का मन में मोह हो गया है, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागत को समझाइये। (८) क्योंकि पृथ्वी का निष्कण्टक समृद्ध राज्य या देवताओं (स्वर्ग) का भी स्वामित्व मिल जाय, तथापि मुझे ऐसा कुछ भी (साधन) नहीं नज़र आता, कि जो इन्द्रियों को सुखा डालनेवाले मेरे इस शोक को दूर करे। सञ्जय ने कहा— (९) इस प्रकार शत्रुसन्तापी गुडाकेश अर्थात् अर्जुन ने हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से कहा; और "मैं न लडूँगा" कह कर वह चुप हो गया (१०)। (फिर) हे भारत (धृतराष्ट्र)! दोनों सेनाओं के बीच खिन्न होकर बैठे हुए अर्जुन से श्रीकृष्ण कुछ हँसते हुए से बोले।

[एक ओर तो क्षत्रिय का स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एवं कुलक्षय के पातकों का भय—इस खींचातानी में "मरें या मारें" के झमेले में पड़ कर, भिक्षा माँगने के लिये तैयार हो जानेवाले अर्जुन को अब भगवान् इस जगत् में उसके सच्चे कर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। अर्जुन की शङ्का थी, कि लड़ाई जैसे कर्म से

श्रीभगवानुवाच ।

§§ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

आत्मा का कल्याण न होगा। इसी से, जिन उदार पुरुषों ने परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अपने आत्मा का पूर्ण कल्याण कर लिया है, वे इस दुनिया में कैसा वर्ताव करते हैं, यहीं से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ है। भगवान् कहते हैं, कि संसार की चाल-ढाल के परखने से देख पडता है, कि आत्मज्ञानी पुरुषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं (गी. ३, ३; और गीता र. प्र. ११ देखो)। आत्मज्ञान सम्पादन करने पर शुक सरीखे पुरुष संसार छोड़ कर आनन्द से भिक्षा माँगते फिरते हैं, तो जनक सरीखे दूसरे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगों के कल्याणार्थ संसार के सैकडों व्यवहारों में अपना समय लगाया करते हैं। पहले मार्ग को सांख्य या सांख्यनिष्ठा कहते हैं, और दूसरे को कर्मयोग या योग कहते हैं (श्लोक ३९ देखो)। यद्यपि दोनों निष्ठाएँ प्रचलित हैं, तथापि इनमें कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है—गीता का यह सिद्धान्त आगे बतलाया जावेगा (गी. ५. २)। इन दोनों निष्ठाओं में से अब अर्जुन के मन की चाह संन्यासनिष्ठा की ओर ही अधिक बढ़ी हुई थी। अतएव उसी मार्ग के तत्त्वज्ञान से पहले अर्जुन की भूल उसे सुझा दी गई है; और आगे ३९ वें श्लोक से कर्मयोग का प्रतिपादन करना भगवान् ने आरम्भ कर दिया है। सांख्य-मार्गवाले पुरुष ज्ञान के पश्चात् कर्म भले ही न करते हों; पर उनका ब्रह्मज्ञान और कर्मयोग का ब्रह्मज्ञान कुछ जुदा-जुदा नहीं। तब सांख्यनिष्ठा के अनुसार देखने पर भी आत्मा यदि अविनाशी और नित्य है, तो फिर यह बकबक व्यर्थ है, कि "मैं अमुक को कैसे मारूँ"। इस प्रकार निश्चित् उपहासपूर्वक अर्जुन से भगवान् का प्रथम कथन है।]

श्रीभगवान् ने कहा-(११) जिनका शोक न करना चाहिये, तू उन्हीं का शोक कर रहा है और ज्ञान की बातें करता है! किसी के प्राण (चाहे) जायँ या (चाहे) रहें, ज्ञानी पुरुष उनका शोक नहीं करते।

[इस श्लोक में यह कहा गया है, कि पण्डित लोग प्राणों के जाने या रहने का शोक नहीं करते। इसमें जाने का शोक करना तो मामूली बात है, उसे

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

न करने का उपदेश करना उचित है। पर टीकाकारों ने, प्राण रहने का शोक कैसा और क्यों करना चाहिये, यह शङ्का करके बहुत कुछ चर्चा की है, और कई एकों ने कहा है, कि मूर्ख एवं अज्ञानी लोगों का प्राण रहना, यह शोक का ही कारण है। किन्तु इतनी बाल की खाल निकालते रहने की अपेक्षा 'शोक करना' शब्द का ही 'भला या बुरा लगना' अथवा 'परवा करना' ऐसा व्यापक अर्थ करने से कोई भी अड़चन रह नहीं जाती। यहाँ इतना ही वक्तव्य है, कि ज्ञानी पुरुष को दोनों बातें एक ही सी होती हैं।]

(१२) देखो न, ऐसा तो है ही नहीं कि मैं (पहले) कभी न था; तू और ये राजा लोग (पहले) न थे, और ऐसा भी नहीं हो सकता, कि हम सब लोक अब आगे न होंगे।

[इस श्लोक पर रामनुजभाष्य में जो टीका है, उसमें लिखा है:—इस श्लोक से ऐसा सिद्ध होता है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर और "तू एवं राजा लोग" अर्थात् अन्यान्य आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीतकाल में) थे और आगे होनेवाले हैं, तो परमेश्वर और आत्मा, दोनों ही पृथक्, स्वतन्त्र और नित्य हैं। किन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है, साम्प्रदायिक आग्रह का है। क्योंकि, इस स्थान पर प्रतिपाद्य इतना ही है, कि सभी नित्य हैं; उनका परस्परिक सम्बन्ध यहाँ बतलाया नहीं है और बतलाने की कोई आवश्यकता भी न थी। जहाँ वैसा प्रसङ्ग आया है, वहाँ गीता में ही ऐसा अद्वैत सिद्धान्त (गी. ८.४; १३. ३१) स्पष्ट रीति से बतला दिया है, कि समस्त प्राणियों के शरीरों में देहधारी आत्मा मैं अर्थात् एक ही परमेश्वर हूँ।]

(१३) जिस प्रकार देह धारण करनेवाले को इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे) दूसरी देह प्राप्त हुआ करती है। (इसलिये) इस विषय में ज्ञानी पुरुष को मोह नहीं होता।

§§ मात्रस्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

[अर्जुन के मन में यही तो बड़ा डर या मोह था, कि "अमुक को मैं कैसे मारूँ"। इसलिये उसे दूर करने के निमित्त तत्त्व की दृष्टि से भगवान् पहले इसी का विचार बतलाते हैं, कि मरना क्या है और मारना क्या है (श्लोक ११-३०)। मनुष्य केवल देहरूपी निरी वस्तु ही नहीं है, वरन् देह और आत्मा का समुच्चय है। इनमें–अहङ्कार-रूप से व्यक्त होनेवाला आत्मा नित्य और अमर है। वह आज है, कल था और कल भी रहेगा ही। अतएव मरना या मारना शब्द उसके लिये उपयुक्त ही नहीं किये जा सकते और उसका शोक भी न करना चाहिये। अब बाक़ी रह गई देह, सो यह प्रगट ही है, कि वह अनित्य और नाशवान् है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो सौ वर्ष में सही, उसका तो नाश होने ही का है—अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः (भाग १०. १.३८); और एक देह छूट भी गई, तो कर्मों के अनुसार आगे दूसरी देह मिले बिना नहीं रहती, अतएव उसका भी शोक करना उचित नहीं। सारांश, देह या आत्मा, दोनों दृष्टियों से विचार करें तो सिद्ध होता है, कि मरे हुए का शोक करना पागलपन है। पागलपन भले ही हो पर यह अवश्य बतलाना चाहिये, कि वर्तमान देह का नाश होते समय जो क्लेश होते हैं, उनके लिये शोक क्यों न करें। अतएव अब भगवान् इन कायिक सुख-दुःखों का स्वरूप बतला कर दिखलाते हैं, कि उनका भी शोक करना उचित नहीं है।]

(१४) हे कुंतिपुत्र! शीतोष्ण या सुख-दुःख देनेवाले, मात्राओं अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है; (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं। हे भारत! (शोक न करके) उनको तू सहन कर। (१५) क्योंकि, हे नरश्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान माननेवाले जिस ज्ञानी पुरुष को उनकी व्यथा नहीं होती, वही अमृतत्त्व अर्थात् अमृत ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त कर लेने में समर्थ होता है।

[जिस पुरुष को ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान नहीं हुआ और इसी लिये जिसे नाम-

§§ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

रूपात्मक जगत् मिथ्या नहीं जान पड़ा है, वह बाह्य पदार्थों और इन्द्रियों के संयोग से होनेवाले शीत-उष्ण आदि या सुख-दुःख आदि विकारों को सत्य मान कर, आत्मा में उनका अध्यारोप किया करता है, और इस कारण से उसको दुःख की पीड़ा होती है । परन्तु जिसने यह जान लिया है, कि ये सभी विकार प्रकृति के हैं, आत्मा अकर्ता और अलिप्त है, उसे सुख और दुःख एक ही से हैं। अब अर्जुन से भगवान् यह कहते हैं, कि इस समबुद्धि से तू उनको सहन कर । और यही अर्थ अगले अध्याय में अधिक विस्तार से वर्णित है । शाङ्करभाष्य में 'मात्रा' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है:— 'मीयते एभिरिति मात्राः' अर्थात् जिनसे बाहरी पदार्थ मापे जाते हैं या ज्ञात होते हैं, उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं । पर मात्रा का इन्द्रिय अर्थ न करके, कुछ लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं, कि इन्द्रियों से मापे जानेवाले शब्द-रूप आदि बाह्य पदार्थों को मात्रा कहते हैं और उनका इन्द्रियों से जो स्पर्श अर्थात् संयोग होता है; उसे मात्रास्पर्श कहते हैं । इसी अर्थ को हमने स्वीकृत किया है । क्योंकि, इस श्लोक के विचार गीता में आगे जहाँ पर आये हैं (गी. ५. २१–२३) वहाँ 'बाह्य-स्पर्श' शब्द है; और 'मात्रास्पर्श' शब्द का हमारे किये हुए अर्थ के समान अर्थ करने से, इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही सा हो जाता है । तथापि, इस प्रकार ये दोनों शब्द मिलते-जुलते हैं, तो भी मात्रास्पर्श शब्द पुराना देख पड़ता है । क्योंकि मनुस्मृति (६. ५७) में, इसी अर्थ में, मात्रासङ्ग शब्द आया है, और बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन है, कि मरने पर ज्ञानी पुरुष के आत्मा का मात्राओं से असंसर्ग (मात्राऽसंसर्गः) होता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है और उसे संज्ञा नहीं रहती (बृ. माध्यं. ४. ५. १४; वेसू. शांभा. १. ४. २२)। शीतोष्ण और सुख-दुःख पद उपलक्षणात्मक हैं; इनमें राग-द्वेष, सत्-असत् और मृत्यु-अमरत्व इत्यादि परस्पर-विरुद्ध द्वन्द्वों का समावेश होता है। ये सब माया-सृष्टि के द्वन्द्व हैं। इसलिये प्रगट है, कि अनित्य माया-सृष्टि के इन द्वन्द्वों को शान्तिपूर्वक सह कर, इन द्वन्द्वों से बुद्धि को छुड़ाये बिना, ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती (गी. २. ४५; ७. २८ और गी. र. प्र. ६ पृ. २२ और २५४ देखो) । अब अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से इसी अर्थ को व्यक्त कर दिखलाते हैं–]

(१६) जो नहीं (असत्) है, वह हो ही नहीं सकता, और जो है

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

(सत्) उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने 'सत् और असत्' दोनों का अन्त देख लिया है अर्थात् अन्त देख कर उनके स्वरूप का निर्णय किया है।

[इस श्लोक के 'अन्त' शब्द का अर्थ और 'राद्धान्त', 'सिद्धान्त' एवं 'कृतान्त' शब्दों (गी. १८. १३) के 'अन्त' का अर्थ एक ही है। शाश्वतकोश (३८१) में 'अन्त' शब्द के ये अर्थ हैं —" स्वरूपप्रान्तयोरन्तमंतिकेऽपि प्रयुज्यते "। इस श्लोक में सत् का अर्थ ब्रह्म और असत् का अर्थ नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् है (गी. र. प्र. ९ पृ. २२३–२२४; और २४३–२४५ देखो)। स्मरण रहे, कि " जो है, उसका अभाव नहीं होता " इत्यादि तत्त्व देखने में यद्यपि सत्कार्य-वाद के समान देख पड़ें, तो भी उसका अर्थ कुछ निराला है। जहाँ एक वस्तु से दूसरी वस्तु निर्मित होती है—उदा० बीज से वृक्ष—वहाँ सत्कार्य-वाद का तत्त्व उपयुक्त होता है। प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार का प्रश्न नहीं है; वक्तव्य इतना ही है, कि सत् अर्थात् जो है, उसका अस्तित्व (भाव) और असत् अर्थात् जो नहीं है उसका अभाव, ये दोनों नित्य यानी सदैव कायम रहनेवाले हैं। इस प्रकार क्रम से दोनों के भाव-अभाव को नित्य मान लें तो आगे फिर आप ही आप कहना पड़ता है, कि जो 'सत्' है उसका नाश हो कर, उस का 'असत्' नहीं हो जाता। परन्तु यह अनुमान, और सत्कार्य-वाद में पहले ही ग्रहण की हुई एक वस्तु से दूसरी वस्तु की कार्य-कारणरूप उत्पत्ति, ये दोनों एक सी नहीं हैं (गी. र. प्र. ७ पृ. १५६ देखो)। माध्वभाष्य में इस श्लोक के 'नासतो विद्यते भावः' इस पहले चरण के 'विद्यते भावः' का 'विद्यते+अभावः' ऐसा पदच्छेद है और उसका यह अर्थ किया है, कि असत् यानी अव्यक्त प्रकृति का अभाव, अर्थात् नाश नहीं होता। और, जब कि दूसरे चरण में यह कहा है, कि सत् का भी नाश नहीं होता, तब अपने द्वैती सम्प्रदाय के अनुसार मध्वाचार्य ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है, कि सत् और असत् दोनों नित्य हैं! परन्तु यह अर्थ सरल नहीं है; इसमें खींचातानी है। क्योंकि, स्वाभाविक रीति से देख पड़ता है, कि परस्पर-विरोधी असत् और सत् शब्दों के समान ही अभाव और भाव ये दो विरोधी शब्द भी इस स्थल पर प्रयुक्त हैं; एवं दूसरे चरण में अर्थात् 'नाभावो विद्यते सतः' यहाँ पर नाभावो में यदि अभाव शब्द ही लेना पड़ता है, तो प्रगट है कि पहले में भाव शब्द ही रहना

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अंतवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

चाहिये। इसके अतिरिक्त यह कहने के लिये, कि असत् और सत् ये दोनों नित्य हैं, 'अभाव' और 'विद्यते' इन पदों के दो बार प्रयोग करने की कोई आवश्यकता न थी। किन्तु मध्वाचार्य के कथनानुसार यदि इस द्विरुक्ति को आदरार्थक मान भी लें, तो आगे अठारहवें श्लोक में स्पष्ट कहा है, कि व्यक्त या दृश्य सृष्टि में आनेवाले मनुष्य का शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य है। अतएव आत्मा के साथ ही साथ भगवद्गीता के अनुसार, देह को भी नित्य नहीं मान सकते; प्रगट रूप से सिद्ध होता है, कि एक नित्य है और दुसरा अनित्य। पाठकों को यह दिखलाने के लिये, कि साम्प्रदायिक दृष्टि से कैसी खींचातानी की जाती है, हमने नमूने के ढ़ंग पर यहाँ इस श्लोक का मध्वभाष्यवाला अर्थ लिख दिया है। अस्तु; जो सत् है वह कभी नष्ट होने का नहीं, अतएव सत्स्वरूपी आत्मा का शोक न करना चाहिये; और तत्त्व की दृष्टि से नामरूपात्मक देह आदि अथवा सुख-दुःख आदि विकार मूल में ही विनाशी हैं, इसलिये उनके नाश होने का शोक करना भी उचित नहीं। फलतः आरम्भ में अर्जुन से जो यह कहा है, कि "जिसका शोक न करना चाहिये, उसका तू शोक कर रहा है" वह सिद्ध हो गया। अब 'सत्' और 'असत्' के अर्थों को ही अगले दो श्लोकों में और भी स्पष्ट कर बतलाते हैं—]

(१७) स्मरण रहे कि, यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है, वह (मूल आत्मस्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यय तत्त्व का विनाश करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है।

[पिछले श्लोक में जिसे सत् कहा है, उसी का यह वर्णन है। यह बतला दिया गया, कि शरीर का स्वामी अर्थात् आत्मा ही 'नित्य' श्रेणी में आता है। अब यह बतलाते हैं, कि अनित्य या असत् किसे कहना चाहिये—]

(१८) कहा है, कि जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य, अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। अतएव हे भारत! तू युद्ध कर!

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

[सारांश, इस प्रकार नित्य-अनित्य का विवेक करने से तो यह भाव ही झूठा होता है, कि "मैं अमुक को मारता हूँ," और युद्ध न करने के लिये अर्जुन ने जो कारण दिखलाया था, वह निर्मूल हो जाता है। इसी अर्थ को अब और अधिक स्पष्ट करते हैं—]

(१६) (शरीर के स्वामी या आत्मा) को ही जो मारनेवाला मानता है या ऐसा समझता है, कि वह मारा जाता है, उन दोनों को ही सच्चा ज्ञान नहीं है। (क्योंकि) यह (आत्मा) न तो मारता है और न मारा ही जाता है।

[क्योंकि यह आत्मा नित्य और स्वयं अकर्ता है, खेल तो सब प्रकृति का ही है। कठोपनिषद् में यह और अगला श्लोक आया है (कठ. २. १८. १६)। इसके अतिरिक्त महाभारत के अन्य स्थानों में भी ऐसा वर्णन है, कि काल से सब ग्रसे हुए हैं, इस काल की क्रीड़ा को ही यह "मारने और मरने" की लौकिक संज्ञाएँ हैं (शां. २५. १५)। गीता (११. ३३) में भी आगे भक्तिमार्ग की भाषा से यही तत्त्व भगवान् ने अर्जुन को फिर बतलाया है, कि भीष्म-द्रोण आदि को कालस्वरूप से मैं ने ही पहले मार डाला है, तू केवल निमित्त हो जा।]

(२०) यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है; ऐसा भी नहीं है, कि यह (एक बार) हो कर फिर होने का नहीं; यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीर का वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता। (२१) हे पार्थ! जिसने जान लिया, कि यह आत्मा अविनाशी, नित्य, अज और अव्यय है, वह पुरुष किसी को कैसे मरवावेगा और किसी को कैसे मारेगा? (२२) जिस प्रकार (कोई) मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है।

[वस्त्र की यह उपमा प्रचलित है। महाभारत में एक स्थान पर,

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥
§§ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

एक घर (शाला) छोड़ कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है (शां. १५. ५६) और एक अमेरिकन ग्रन्थकार ने यही कल्पना पुस्तक में नई जिल्द बाँधने का दृष्टान्त देकर व्यक्त की है। पिछले तेरहवें श्लोक में बालपन, जवानी और बुढ़ापा, इन तीन अवस्थाओं को जो न्याय उपयुक्त किया गया है, वही अब सब शरीर के विषय में किया गया है।]

(२३) इसे अर्थात् आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसे आग जला नहीं सकती, वैसे ही इसे पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है। (२४) (कभी भी) न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सुखनेवाला यह (आत्मा) नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन अर्थात् चिरन्तन है। (२५) इस आत्मा को ही अव्यक्त (अर्थात् जो इन्द्रियों को गोचर नहीं हो सकता), अचिन्त्य (अर्थात् जो मन से भी जाना नहीं जा सकता), और अविकार्य (अर्थात् जिसे किसी भी विकार की उपाधि नहीं है) कहते हैं। इसलिये उसे (आत्मा को) इस प्रकार का समझ कर उसका शोक करना तुझ को उचित नहीं है।

[यह वर्णन उपनिषदों से लिया है। यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है, सगुण का नहीं। क्योंकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण को लग नहीं सकते (गीतारहस्य प्र. ९ देखो)। आत्मा के विषय में वेदान्तशास्त्र का जो अन्तिम सिद्धान्त है, उसके आधार से शोक न करने के लिये यह उपपत्ति बतलाई गई है। अब कदाचित् कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे, कि हम आत्मा को नित्य नहीं समझते, इसलिये तुम्हारी उपपत्ति हमें ग्राह्य नहीं, तो इस पूर्वपक्ष का प्रथम उल्लेख करके भगवान् उसका यह उत्तर देते हैं, कि—]

(२६) अथवा, यदि तू ऐसा मानता हो, कि यह आत्मा (नित्य नहीं, शरीर

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
§§ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

के साथ ही) सदा जन्मता या सदा मरता है, तो भी हे महाबाहु! उसका शोक करना तुझे उचित नहीं। (२७) क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है, उसका जन्म निश्चित है; इसलिये (इस) अपरिहार्य बात का (ऊपर उल्लिखित तेरे मत के अनुसार भी) शोक करना तुझ को उचित नहीं।

[स्मरण रहे, कि ऊपर के दो श्लोकों में बतलाई हुई उपपत्ति सिद्धान्तपक्ष की नहीं है। यह 'अथ च = अथवा' शब्द से बीच में ही उपस्थित किये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर है। आत्मा को नित्य मानों चाहे अनित्य, दिखलाना इतना ही है, कि दोनों ही पक्षों में शोक करने का प्रयोजन नहीं है। गीता का यह सच्चा सिद्धान्त पहले ही बतला चुके हैं, कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य और अचिन्त्य या निर्गुण है। अस्तु; देह अनित्य है, अतएव शोक करना उचित नहीं; इसी की, सांख्यशास्त्र के अनुसार, दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं—]

(२८) सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त और मरण समय में फिर अव्यक्त होते हैं; (ऐसी यदि सभी की स्थिति है) तो हे भारत! उसमें शोक किस बात का?

['अव्यक्त' शब्द का ही अर्थ है—'इन्द्रियों को गोचर न होनेवाला'। मूल एक अव्यक्त द्रव्य से ही आगे क्रम-क्रम से समस्त व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है, और अन्त में अर्थात् प्रलयकाल में सब व्यक्त सृष्टि का फिर अव्यक्त में ही लय हो जाता है (गी. ८.१८); इस सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण कर, इस श्लोक की दलीलें हैं। सांख्यमतवालों के इस सिद्धान्त का खुलासा गीता-रहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में किया गया है। किसी भी पदार्थ की व्यक्त स्थिति यदि इस प्रकार कभी न कभी नष्ट होनेवाली है, तो जो व्यक्त स्वरूप निसर्ग से ही नाशवान् है, उसके विषय में शोक करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। यही श्लोक 'अव्यक्त' के बदले 'अभाव' शब्द से संयुक्त हो कर महाभारत के स्त्रीपर्व (मभा. स्त्री. २६) में आया है। आगे "अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः। न ते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना॥" (स्त्री. २.१३) इस श्लोक में

§§ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

'अदर्शन' अर्थात् 'नज़र से दूर हो जाना' इस शब्द का भी मृत्यु को उद्देश कर उपयोग किया गया है। सांख्य और वेदान्त, दोनों शास्त्रों के अनुसार शोक करना यदि व्यर्थ सिद्ध होता है, और आत्मा को अनित्य मानने से भी यदि यही बात सिद्ध होती है, तो फिर लोग मृत्यु के विषय में शोक क्यों करते हैं? आत्मस्वरूप सम्बन्धी अज्ञान ही इसका उत्तर है। क्योंकि—]

(२९) मानों कोई तो आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) समझ कर इसकी ओर देखते हैं, कोई आश्चर्य सरीखा इसका वर्णन करता है, और कोई मानों आश्चर्य समझ कर सुनता है। परन्तु (इस प्रकार देख कर, वर्णन कर और) सुन कर भी (इनमें) कोई इसे (तत्त्वतः) नहीं जानता है।

[अपूर्व वस्तु समझ कर बड़े-बड़े लोग आश्चर्य से आत्मा के विषय में कितना ही विचार क्यों न किया करें, पर उसके सच्चे स्वरूप को जाननेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। इसी से बहुतेरे लोग मृत्यु के विषय में शोक किया करते हैं। इससे तू ऐसा न करके, पूर्ण विचार से आत्मस्वरूप को यथार्थ रीति पर समझ ले और शोक करना छोड़ दे। इसका यही अर्थ है। कठोपनिषद् (२.७) में आत्मा का वर्णन इसी ढँग का है।]

(३०) सब के शरीर में (रहनेवाला) शरीर का स्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जानेवाला है; अतएव हे भारत (अर्जुन)! सब अर्थात् किसी भी प्राणी के विषय में शोक करना तुझे उचित नहीं है।

[अब तक यह सिद्ध किया गया, कि सांख्य या संन्यास-मार्ग के तत्त्वज्ञानानुसार आत्मा अमर है और देह तो स्वभाव से ही अनित्य है, इस कारण कोई मरे या मारे उसमें, 'शोक' करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि कोई इससे यह अनुमान कर ले, कि कोई किसी को मारे तो इसमें भी 'पाप' नहीं, तो वह भयङ्कर भूल होगी। मरना या मारना, इन दो शब्दों के अर्थों का यह पृथक्करण है, मरने या मारने में जो डर लगता है उसे पहले दूर करने के लिये ही यह ज्ञान बतलाया है। मनुष्य तो आत्मा और देह का समुच्चय है। इनमें आत्मा

§§ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अमर है, इसलिये मरना या मारना ये दोनों शब्द उसे उपयुक्त नहीं होते। बाकी रह गई देह, सो वह तो स्वभाव से ही अनित्य है, यदि उसका नाश हो जाय तो शोक करने योग्य कुछ है नहीं। परन्तु यदृच्छा या काल की गति से कोई मर जाय या किसी को कोई मार डाले, तो उसका सुख-दुःख न मान कर शोक करना छोड़ दें, तो भी इस प्रश्न का निपटनारा हो नहीं जाता, कि युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिये जान बूझ कर, प्रवृत्त हो कर लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें। क्योंकि देह यद्यपि अनित्य है, तथापि आत्मा का पक्का कल्याण का मोक्ष सम्पादन कर देने के लिये देह ही तो एक साधन है, अतएव आत्महत्या करना अथवा बिना योग्य कारणों के किसी दूसरे को मार डालना, ये दोनों शास्त्रानुसार घोर पातक ही हैं। इसलिये मरे हुए का शोक करना यद्यपि उचित नहीं है तो भी इसका कुछ न कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है, कि एक दूसरे को क्यों मारे। इसी का नाम धर्माधर्म-विवेक है और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है। अब, जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था सांख्यमार्ग को ही सम्मत है, उसके अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं, कि तू मरने-मारने का शोक मत कर; इतना ही नहीं, बल्कि लड़ाई में मरना या मार डालना ये दोनों बातें क्षत्रियधर्मानुसार तुझ को आवश्यक ही हैं—]

(३१) इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें तो भी (इस समय) हिम्मत हारना तुझे उचित नहीं है। क्योंकि धर्मोचित युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय को श्रेयस्कर और कुछ है ही नहीं।

[स्वधर्म की यह उपपत्ति आगे भी दो बार (गी. ३.३५ और १८.४७) बतलाई गई है। संन्यास अथवा सांख्य मार्ग के अनुसार यद्यपि कर्मसंन्यासरूपी चतुर्थ आश्रम अन्त की सीढ़ी है, तो भी मनु आदि स्मृति-कर्ताओं का कथन है, कि इसके पहले चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मणधर्म और क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म का पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिये अतएव इस श्लोक का और आगे के श्लोक का तात्पर्य यह है, कि गृहस्थाश्रमी अर्जुन को युद्ध करना आवश्यक है]

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

(३२) और हे पार्थ! यह युद्ध आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार ही है; ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों ही को मिला करता है। (३३) अतएव यदि तू (अपने) धर्म के अनुकूल यह युद्ध न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खो कर पाप बटोरेगा; (३४) यही नहीं, बल्कि (सब) लोग तेरी अक्षय्य दुष्कीर्ति गाते रहेंगे! और अपयश तो सम्भावित पुरुष के लिये मृत्यु से भी बढ़ कर है।

[श्रीकृष्ण ने यही तत्त्व उद्योगपर्व में युधिष्ठिर को भी बतलाया है (मभा.उ.७२.२४)। वहाँ यह श्लोक है—"कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्षणम्। महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥" परन्तु गीता में इसकी अपेक्षा यह अर्थ संक्षेप में है; और गीता ग्रन्थ का प्रचार भी अधिक है इस कारण गीता के "सम्भावितस्य०" इत्यादि वाक्य का कहावत का सा उपयोग होने लगा है। गीता के और बहुतेरे श्लोक भी इसी के समान सर्वसाधारण लोगों में प्रचलित हो गये हैं। अब दुष्कीर्ति का स्वरूप बतलाते हैं—]

(३५) (सब) महारथी समझेंगे, कि तू डर कर रण से भाग गया, और जिन्हें (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वे ही तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे। (३६) ऐसे ही तेरे सामर्थ्य की निन्दा कर, तेरे शत्रु ऐसी ऐसी अनेक बातें (तेरे विषय में) कहेंगे जो न कहनी चाहिये। इससे अधिक दुःखकारक और है ही क्या? (३७) मर

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥
§§ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

गया तो स्वर्ग को जावेगा और जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा ! इस लिये हे अर्जुन ! युद्ध का निश्चय करके उठ !

[उल्लिखित विवेचन से न केवल यही सिद्ध हुआ, कि सांख्य-ज्ञान के अनुसार मारने-मरने का शोक न करना चाहिये, प्रस्तुत यह भी सिद्ध हो गया, कि स्वधर्म के अनुसार युद्ध करना ही कर्तव्य है । तो भी अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है, कि लड़ाई में होनेवाली हत्या का 'पाप' कर्त्ता को लगता है या नहीं । वास्तव में इस उत्तर की युक्तियाँ कर्मयोगमार्ग की हैं, इसलिये उस मार्ग की प्रस्तावना यहीं हुई है ।]

(३८) सुख-दुःख, नफ़ा-नुकसान और जय-पराजय को एक सा मान कर फिर युद्ध में लग जा । ऐसा करने से तुझे (कोई भी) पाप लगने का नहीं ।

[संसार में आयु बिताने के दो मार्ग हैं—एक सांख्य और दूसरा योग । इनमें जिस सांख्य अथवा संन्यास-मार्ग के आचार को ध्यान में ला कर अर्जुन युद्ध छोड़ भिक्षा माँगने के लिये तैयार हुआ था, उस संन्यास-मार्ग के तत्त्व-ज्ञानानुसार ही आत्मा का या देह का शोक करना उचित नहीं है । भगवान् ने अर्जुन को सिद्ध कर दिखलाया है, कि सुख और दुःखों को समबुद्धि से सह लेना चाहिये एवं स्वधर्म की ओर ध्यान दे कर युद्ध करना ही क्षत्रिय को उचित है, तथा समबुद्धि से युद्ध करने में कोई भी पाप नहीं लगता । परन्तु इस मार्ग (सांख्य) का मत है, कि कभी न कभी संसार छोड़ कर संन्यास ले लेना ही प्रत्येक मनुष्य का इस जगत् में परम कर्त्तव्य है; इसलिये इष्ट जान पड़े तो अभी ही युद्ध छोड़ कर संन्यास क्यों न ले लें अथवा स्वधर्म का पालन ही क्यों करें इत्यादि शंकाओं का निवारण सांख्यज्ञान से नहीं होता और इसी से यह कह सकते हैं, कि अर्जुन का मूल आक्षेप ज्यों का त्यों बना है । अतएव अब भगवान् कहते हैं—]

(३९) सांख्य अर्थात् संन्यासनिष्ठा के अनुसार तुझे यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान या उपपत्ति बतलाई गई । अब जिस बुद्धि से युक्त होने पर (कर्मों के न छोड़ने पर

§§ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

भी) हे पार्थ ! तू कर्मबन्ध छोड़ेगा, ऐसी यह (कर्म-) योग की बुद्धि अर्थात् ज्ञान (तुझ से बतलाता हूँ) सुन।

[भगवद्गीता का रहस्य समझने के लिये यह श्लोक अत्यन्त महत्त्व का है। सांख्य शब्द से कपिल का सांख्य या निरा वेदान्त, और योग शब्द से पातञ्जल योग यहाँ पर उद्दिष्ट नहीं है—सांख्य से संन्यासमार्ग और योग से कर्म-मार्ग ही का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिये। यह बात गीता के ३. ३ श्लोक से प्रगट होती है। ये दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं, इनके अनुयायियों को भी क्रम से 'सांख्य' =संन्यासमार्गी और 'योग'=कर्मयोगमार्गी कहते हैं (गी. ५. ५)। इनमें सांख्यनिष्ठावाले लोग कभी न कभी अन्त में कर्मों को छोड़ देना ही श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिये इस मार्ग के तत्त्वज्ञान से अर्जुन की इस शङ्का का पूरा पूरा समाधान नहीं होता, कि युद्ध क्यों करें ? अतएव जिस कर्मयोगनिष्ठा का ऐसा मत है, कि संन्यास न लेकर ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से सदैव कर्म करते रहना ही प्रत्येक का सच्चा पुरुषार्थ है, उसी कर्मयोग का (अथवा संक्षेप में योगमार्ग का) ज्ञान बतलाना अब आरम्भ किया गया है, और गीता के अन्तिम अध्याय तक, अनेक कारण दिखलाते हुए, अनेक शंकाओं का निवारण कर, इसी मार्ग का पुष्टीकरण किया गया है। गीता के विषय-निरूपण का, स्वयं भगवान् का किया हुआ, यह स्पष्टीकरण ध्यान में रखने से इस विषय में कोई शंका रह नहीं जाती, कि कर्मयोग ही गीता में प्रतिपाद्य है। कर्मयोग के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का पहले निर्देश करते हैं—]

(४०) यहाँ अर्थात् इस कर्मयोगमार्ग में (एक बार) आरम्भ किये हुऐ कर्म का नाश नहीं होता और (आगे) विघ्न भी नहीं होते। इस धर्म का थोड़ा सा भी (आचरण) बड़े भय से संरक्षण करता है।

[इस सिद्धान्त का महत्त्व गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ० २८४) में दिखलाया गया है, और अधिक खुलासा आगे गीता में भी किया गया है (गी. ६. ४०–४६)। इसका यह अर्थ है, कि कर्मयोगमार्ग में यदि एक जन्म में सिद्धि न मिले, तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जा कर अगले जन्म में उपयोगी होता है और प्रत्येक जन्म में इसकी बढ़ती होती है एवं अंत में कभी न कभी सच्ची सद्गति

§§ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
§§ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

मिलती ही है। अब कर्मयोगमार्ग का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं—]

(४१) हे कुरुनन्दन ! इस मार्ग में व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करनेवाली (इन्द्रियरूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पड़ती है; क्योंकि, जिनकी बुद्धि का (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं से युक्त और अनन्त (प्रकार की) होती हैं।

[संस्कृत में बुद्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं। ३९ वें श्लोक में यह शब्द ज्ञान के अर्थ में आया है और आगे ४९ वें श्लोक में इस 'बुद्धि' शब्द का ही "समझ, इच्छा, वासना, या हेतु" अर्थ है। परन्तु बुद्धि शब्द के पीछे 'व्यवसायात्मिका' विशेषण है इसलिये इस श्लोक के पूर्वार्ध में उसी शब्द का अर्थ यों होता है,व्यवसाय अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय (गीतार. प्र.६ पृ.१३३–१३८ देखो)। पहले इस बुद्धि-इन्द्रिय से किसी भी बात का भला-बुरा विचार कर लेने पर फिर तदनुसार कर्म करने की इच्छा या वासना मन में हुआ करती है; अतएव इस इच्छा या वासना को भी बुद्धि ही कहते हैं। परन्तु उस समय 'व्यवसायात्मिका' यह विशेषण उसके पीछे नहीं लगाते। भेद दिखलाना ही आवश्यक हो, तो 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। इस श्लोक के दूसरे चरण में सिर्फ़ 'बुद्धि' शब्द है, उसके पीछे 'व्यवसायात्मक' यह विशेषण नहीं है। इसलिये बहुवचनान्त 'बुद्धयः' से "वासना, कल्पनातरङ्ग" अर्थ होकर पूरे श्लोक का यह अर्थ होता है, कि "जिनकी व्यवसायात्मक बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि-इन्द्रिय स्थिर नहीं होती, उनके मन में क्षण-क्षण में नई तरङ्गें या वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं।" बुद्धि शब्द के 'निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' और 'वासना' इन दोनों अर्थ को ध्यान में रखे विना कर्मयोग की बुद्धि के विवेचन का मर्म भली भाँति समझ में आने का नहीं। व्यवसायात्मक बुद्धि के स्थिर या एकाग्र न रहने से प्रतिदिन भिन्न भिन्न वासनाओं से मन व्यग्र हो जाता है और मनुष्य ऐसी अनेक झंझटों में पड़ जाता है, कि आज पुत्र-प्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो, तो कल स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अमुक कर्म करो। बस, अब इसी का वर्णन करते हैं—]

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

(४२) हे पार्थ ! (कर्मकांडात्मक) वेदों के (फलश्रुति-युक्त) वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ा कर कहा करते हैं, कि—(४३) "अनेक प्रकार के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है,"—स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य-बुद्धिवाले (लोग), (४४) उल्लिखित भाषण की ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं; इस कारण उनकी व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करने-वाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती।

[ऊपर के तीनों श्लोकों का मिल कर एक वाक्य है। उसमें उन ज्ञानविरहित कर्मठ मीमांसामार्गवालों का वर्णन है, जो श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड के अनुसार आज अमुक हेतु की सिद्धि के लिये तो कल और किसी हेतु से, सदैव स्वार्थ के लिये ही, यज्ञ-याग आदि कर्म करने में निमग्न रहते हैं। यह वर्णन उपनिषदों के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ,मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

"इष्टापूर्त ही श्रेष्ठ है, दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं–यह माननेवाले मूढ़ लोग स्वर्ग में पुण्य का उपभोग कर चुकने पर फिर नीचे के इस मनुष्य-लोक में आते हैं" (मुण्ड. १. २. १०)। ज्ञानविरहित कर्मों की इसी ढङ्ग की निन्दा ईशावास्य और कठ उपनिषदों में भी की गई है (कठ. २. ५; ईश. ९. १२)। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त न करके केवल कर्मों में ही फँसे रहनेवाले इन लोगों को (देखो गी. ९. २१) अपने अपने कर्मों के स्वर्ग आदि फल मिलते तो हैं, पर उनकी वासना आज एक कर्म में तो कल किसी दूसरे ही कर्म में रत होकर चारों ओर घुड़दौड़ सी मचाये रहती है; इस कारण उन्हें स्वर्ग का आवागमन नसीब हो जाने पर भी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति के लिये बुद्धि-इन्द्रिय

§§ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

को स्थिर या एकाग्र रहना चाहिये। आगे छठे अध्याय में विचार किया गया है, कि इसको एकाग्र किस प्रकार करना चाहिये। अभी तो इतना ही कहते हैं, कि—]

(४५) हे अर्जुन! (कर्मकाण्डात्मक) वेद (इस रीति से) त्रैगुण्य की बातों से भरे पड़े हैं, इसलिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्त्वस्थ और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अलिप्त हो, एवं योग-क्षेम आदि स्वार्थों में न पड़ कर आत्मनिष्ठ हो!

[सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से मिश्रित प्रकृति की सृष्टि को त्रैगुण्य कहते हैं। सृष्टि सुख-दुःख आदि अथवा जन्म-मरण आदि विनाशवान् द्वन्द्वों से भरी हुई है और सत्य ब्रह्म इसके परे है—यह बात गीतारहस्य (पृ. २२८ और २४५) में स्पष्ट कर दिखलाई गई है। इसी अध्याय के ४३ वें श्लोक में कहा है, कि प्रकृति के, अर्थात् माया के, इस संसार के सुखों की प्राप्ति के लिये मीमांसक-मार्गवाले लोग श्रौत यज्ञ-याग आदि किया करते हैं और वे इन्हीं में निमग्न रहा करते हैं। कोई पुत्र-प्राप्ति के लिये एक विशेष यज्ञ करता है, तो कोई पानी बरसाने के लिये दूसरी इष्टि करता है। ये सब कर्म इस लोक में संसारी व्यवहारों के लिये अर्थात् अपने योग-क्षेम के लिये हैं। अतएव प्रगट ही है, कि जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो वह वैदिक कर्मकाण्ड के इन त्रिगुणात्मक और निरे योग-क्षेम सम्पादन करानेवाले कर्मों को छोड़ कर अपना चित्त इसके परे परब्रह्म की ओर लगावे। इसी अर्थ में निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेमवान् शब्द ऊपर आये हैं। यहाँ ऐसी शङ्का हो सकती है, कि वैदिक कर्मकाण्ड के इन काम्य कर्मों को छोड़ देने से योग-क्षेम (निर्वाह) कैसे होगा (गी. र. पृ. २९३ और ३८४ देखो)। किन्तु इसका उत्तर यहाँ नहीं दिया, यह विषय आगे फिर नवें अध्याय में आया है। वहाँ कहा है, कि इस योग-क्षेम को भगवान् करते हैं; और इन्हीं दो स्थानों पर गीता में 'योग-क्षेम' शब्द आया है (गी. ९. २२ और उस पर हमारी टिप्पणी देखो)। नित्यसत्त्वस्थ पद का ही अर्थ त्रिगुणातीत होता है। क्योंकि आगे कहा है, कि सत्त्वगुण के नित्य उत्कर्ष से ही फिर त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है जोकि सच्ची सिद्धावस्था है (गी. १४.१४ और २०, गी. र. पृ.१६६ और १६७ देखो)। तात्पर्य यह है, कि

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

[मीमांसकों के योगक्षेमकारक त्रिगुणात्मक काम्य कर्म छोड़ कर एवं सुख-दुःख के द्वन्द्वों से निपट कर ब्रह्मनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ होने के विषय में यहाँ उपदेश किया गया है। किन्तु इस बात पर फिर भी ध्यान देना चाहिये, कि आत्मनिष्ठ होने का अर्थ सब कर्मों को स्वरूपतः एकदम छोड़ देना नहीं है। ऊपर के श्लोक में वैदिक काम्य कर्मों की जो निन्दा की गई है, या जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह कर्मों की नहीं, बल्कि उन कर्मों के विषय में जो काम्यबुद्धि होती है, उस की है। यदि यह काम्यबुद्धि मन में न हो, तो निरे यज्ञ-याग किसी भी प्रकार से मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते (गी. र. पृ २९२–२९५)। आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अपना निश्चित और उत्तम मत बतलाया है, कि मीमांसकों के इन्हीं यज्ञ-याग आदि कर्मों को फलाशा और सङ्ग छोड़ कर चित्त की शुद्धि और लोकसंग्रह के लिये अवश्य करना चाहिये (गी. १८.६)। गीता की इन दो स्थानों की बातों को एकत्र करने से यह प्रगट हो जाता है, कि इस अध्याय के श्लोक में मीमांसकों के कर्मकाण्ड की जो न्यूनता दिखलाई गई है, वह उनकी काम्यबुद्धि को उद्देश करके है—क्रिया के लिये नहीं है। इसी अभिप्राय को मन में ला कर भागवत में भी कहा है–

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

"वेदोक्त कर्मों की वेद में जो फलश्रुति कही है, वह रोचनार्थ है, अर्थात् इसी लिये है कि कर्त्ता को ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मों को उस फल-प्राप्ति के लिये न करे, किन्तु निःसङ्ग बुद्धि अर्थात् फल की आशा छोड़ कर ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्य से प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है" (भाग. ११. ३,४६)। सारांश, यद्यपि वेदों में कहा है, कि अमुक अमुक कारणों के निमित्त यज्ञ करे, तथापि इसमें न भूल कर केवल इसी लिये यज्ञ करे कि वे यष्टव्य हैं अर्थात् यज्ञ करना अपना कर्त्तव्य है; काम्यबुद्धि को तो छोड़ दे, पर यज्ञ को न छोड़े (गी. १७.११); और इसी प्रकार अन्यान्य कर्म भी किया करे—यह गीता के उपदेश का सार है और यही अर्थ अगले श्लोक में व्यक्त किया गया है।]

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

(४६) चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मण को सब (कर्मकाण्डात्मक) वेद का रहता है (अर्थात् सिर्फ काम्यकर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्ड की उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती)।

[इस श्लोक के फलितार्थ के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है। पर टीकाकारों ने इसके शब्दों की नाहक खींचातानी की है। 'सर्वतः संप्लुतोदके' यह सप्तम्यन्त सामासिक पद है। परन्तु इसे निरी सप्तमी या उदपान का विशेषण भी न समझ कर 'सति सप्तमी' मान लेने से, "सर्वतः संप्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः (न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते) तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु अर्थः"--इस प्रकार किसी भी बाहर के पद को अध्याहृत मानना नहीं पड़ता, सरल अन्वय लग जाता है और उसका यह सरल अर्थ भी हो जाता है, कि "चारों ओर पानी ही पानी होने पर (पीने के लिये कहीं भी बिना प्रयत्न के यथेष्ट पानी मिलने लगने पर) जिस प्रकार कुएँ को कोई भी नहीं पूछता, उसी प्रकार ज्ञान-प्राप्त पुरुष को यज्ञ-याग आदि केवल वैदिककर्म का कुछ भी उपयोग नहीं रहता"। क्योंकि, वैदिककर्म केवल स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ही नहीं, बल्कि अन्त में मोक्षसाधक ज्ञान-प्राप्ति के लिये करना होता है, और इस पुरुष को तो ज्ञान-प्राप्ति पहले ही हो जाती है, इस कारण इसे वैदिककर्म करके कोई नई वस्तु पाने के लिये शेष रह नहीं जाती। इसी हेतु से आगे तीसरे अध्याय (३.१७) में कहा है, कि "जो ज्ञानी हो गया, उसे इस जगत् में कर्तव्य शेष नहीं रहता"। बड़े भारी तालाब या नदी पर अनायास ही, जितना चाहिये उतना, पानी पीने की सुविधा होने पर कुएँ की ओर कौन झाँकेगा? ऐसे समय कोई भी कुएँ की अपेक्षा नहीं रखता। सनत्सुजातीय के अन्तिम अध्याय (मभा. उद्योग. ४५.२६) में यही श्लोक कुछ थोड़े से शब्दों के हेरफेर से आया है। माधवाचार्य ने इसकी टीका में वैसा ही अर्थ किया है, जैसा कि हमने ऊपर किया है; एवं शुकानुप्रश्न में ज्ञान और कर्म के तारतम्य का विवेचन करते समय साफ़ कह दिया है:--"न ते (ज्ञानिनः) कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव"--अर्थात् नदी पर जिसे पानी मिलता है, वह जिस प्रकार कुएँ की परवा नहीं करता, उसी प्रकार 'ते' अर्थात् ज्ञानी पुरुष कर्म की कुछ परवा नहीं करते

§§ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

(मभा. शां. २४०. १०)। ऐसे ही पाण्डवगीता के सत्रहवें श्लोक में कुएँ का दृष्टान्त यों दिया है—जो वासुदेव को छोड़ कर दूसरे देवता की उपासना करता है, वह "तृषितो जान्हवीतीरे कूपं वांच्छति दुर्मतिः" भागीरथी के तट पर पीने के लिये पानी मिलने पर भी कुएँ की इच्छा करनेवाले प्यासे पुरुष के समान मूर्ख है। यह दृष्टान्त केवल वैदिक संस्कृत ग्रन्थों में ही नहीं है, प्रत्युत पाली के बौद्ध ग्रन्थों में भी उसके प्रयोग हैं। यह सिद्धान्त बौद्धधर्म को भी मान्य है, कि जिस पुरुष ने अपनी तृष्णा समूल नष्ट कर डाली हो, उसे आगे और कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रह जाता; और इस सिद्धान्त को बतलाते हुए उदान नामक पाली ग्रन्थ के (७.६) उस श्लोक में यह दृष्टान्त दिया है—"किं कयिरा उदपानेन आपा चे सब्बदा सियुम्,'—सर्वदा पानी मिलने योग्य हो जाने से कुएँ को लेकर क्या करना है। आजकल बड़े-बड़े शहरों में यह देखा ही जाता है, कि घर में नल हो जाने से फिर कोई कुएँ की परवा नहीं करता। इससे और विशेष कर शुकानुप्रश्न के विवेचन से गीता के दृष्टान्त का स्वारस्य ज्ञात हो जायगा और यह देख पड़ेगा, कि हमने इस श्लोक का ऊपर जो अर्थ किया है, वही सरल और ठीक है। परन्तु, चाहे इस कारण से हो कि ऐसे अर्थ से वेदों को कुछ गौणता आ जाती है, अथवा इस साम्प्रदायिक सिद्धान्त की ओर दृष्टि देने से हो, कि ज्ञान में ही समस्त कर्मों का समावेश रहने के कारण ज्ञानी को कर्म करने की ज़रूरत नहीं, गीता के टीकाकार इस श्लोक के पदों का अन्वय कुछ निराले ढँग से लगाते हैं। वे इस श्लोक के पहले चरण में 'तावान्' और दूसरे चरण में 'यावान्' पदों को अध्याहृत मान कर ऐसा अर्थ लगाते हैं "उदपाने यावानर्थः तावानेव सर्वतः संप्लुतोदके यथा सम्पद्यते तथा यावान्सर्वेषु वेदेषु अर्थः तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सम्पद्यते" अर्थात् स्नानपान आदि कर्मों के लिये कुएँ का जितना उपयोग होता है, उतना ही बड़े तालाब में (सर्वतः संप्लुतोदके) भी हो सकता है; इसी प्रकार वेदों का जितना उपयोग है, उतना सब ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से हो सकता है। परन्तु इस अन्वय में पहली श्लोक-पंक्ति में 'तावान्' और दूसरी पंक्ति में 'यावान्' इन दो पदों के अध्याहार कर लेने की आवश्यकता पड़ने के कारण हमने उस अन्वय और अर्थ को स्वीकृत नहीं किया। हमारा अन्वय और अर्थ किसी भी पद के

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अध्याहार किये विना ही लग जाता है और पूर्व के श्लोक से सिद्ध होता है कि, इसमें प्रतिपादित वेदों के कोरे अर्थात् ज्ञानव्यतिरिक्त कर्मकाण्ड का गौणत्व इस स्थल पर विवक्षित है। अब ज्ञानी पुरुष को यज्ञ-याग आदि कर्मों की कोई आवश्यकता न रह जाने से कुछ लोग जो यह अनुमान किया करते हैं, कि इन कर्मों को ज्ञानी पुरुष न करे, बिलकुल छोड़ दे—यह बात गीता को सम्मत नहीं है। क्योंकि, यद्यपि इन कर्मों का फल ज्ञानी पुरुष को अभीष्ट नहीं तथापि फल के लिये न सही, तो भी यज्ञ-याग आदि कर्मों को, अपने शास्त्रविहित कर्त्तव्य समझ कर, वह कभी छोड़ नहीं सकता। अठारहवें अध्याय में भगवान् ने अपना निश्चित मत स्पष्ट कह दिया है, कि फलाशा न रहे, तो भी अन्यान्य निष्काम-कर्मों के अनुसार यज्ञ-याग आदि कर्म भी ज्ञानी पुरुष को निःसङ्ग बुद्धि से करना ही चाहिये (पिछले श्लोक पर और गी. ३. १९ पर हमारी जो टिप्पणी है, उसे देखो)। यही निष्काम-विषयक अर्थ अब अगले श्लोक में व्यक्त कर दिखलाते हैं—]

(४७) कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है; फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार अर्थात् तावे में नहीं; (इसलिये मेरे कर्म का) अमुक फल मिले, यह हेतु (मन में) रख कर काम करनेवाला न हो; और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर।

[इस श्लोक के चारों चरण परस्पर एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं, इस कारण अतिव्याप्ति न हो कर कर्मयोग का सारा रहस्य थोड़े में उत्तम रीति से बतला दिया गया है। और तो क्या, यह कहने में भी कोई हानि नहीं, कि ये चारों चरण कर्मयोग की चतुःसूत्री ही हैं। यह पहले कह दिया है, कि "कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है" परन्तु इस पर यह शङ्का होती है, कि कर्म का फल कर्म से ही संयुक्त होने के कारण 'जिसका पेड़, उसी का फल' इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है, वही फल का भी अधिकारी होगा। अतएव इस शङ्का को दूर करने के निमित्त दूसरे चरण में स्पष्ट कह दिया है, कि "फल में तेरा अधिकार नहीं है"। फिर इससे निष्पन्न होनेवाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है, कि "मन में फलाशा रख कर कर्म करनेवाला मत हो।" (कर्मफलहेतुः कर्मफले हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः, ऐसा बहुव्रीहि समास होता

§§ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

है।) परन्तु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं, इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे, कि फलाशा के साथ ही साथ फल को भी छोड़ ही देना चाहिये, तो इसे भी सच न मानने के लिये अन्त में स्पष्ट उपदेश किया है, कि फलाशा को तो छोड़ दे, पर इसके साथ ही कर्म न करने का अर्थात् कर्म छोड़ने का आग्रह न कर।" सारांश 'कर्म कर' कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता, कि फल की आशा रख; और 'फल की आशा को छोड़' कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता, कि कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है, कि फलाशा छोड़ कर कर्तव्य कर्म अवश्य करना चाहिये, किन्तु न तो कर्म की आसक्ति में फँसे और न कर्म ही छोड़े—त्यागो न युक्त इह कर्मसु नापि रागः (योग.५.२.५४)। और यह दिखला कर कि फल मिलने की बात अपने वश में नहीं है, किन्तु उसके लिये और अनेक बातों की अनुकूलता आवश्यक है; अठारहवें अध्याय में फिर यही अर्थ और भी दृढ़ किया गया है (गी.१८.१४–१६ और रहस्य पृ. ११४ एवं प्र. १२ देखो) अब कर्मयोग का स्पष्ट लक्षण बतलाते हैं, कि इसे ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं—]

(४८) हे धनञ्जय! आसक्ति छोड कर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि, दोनों को समान ही मान कर, 'योगस्थ' हो करके कर्म कर, (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली) समता की (मनो-) वृत्ति को ही (कर्म-) योग कहते हैं। (४९) क्योंकि, हे धनञ्जय! बुद्धि के (साम्य-) योग की अपेक्षा (बाह्य) कर्म बहुत ही कनिष्ठ है। अतएव इस (साम्य-) बुद्धि की शरण में जा। फलहेतुक अर्थात् फल पर दृष्टि रख कर काम करनेवाले लोग कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जे के हैं। (५०) जो (साम्य-) बुद्धि से युक्त हो जाय, वह इस लोग में पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है, अतएव योग का आश्रय कर। (पाप-पुण्य से बच कर) कर्म करने की चतुराई (कुशलता या युक्ति) को ही (कर्मयोग) कहते हैं।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

[इन श्लोकों में कर्मयोग का जो लक्षण बतलाया है, वह महत्व का है; इस सम्बन्ध में गीतारहस्य के तीसरे प्रकरण (पृष्ठ ५५–६३) में जो विवचन किया गया है, उसे देखो। पर इसमें भी कर्मयोग का जो तत्त्व–' कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है'–४६ वें श्लोक में बतलाया है, वह अत्यन्त महत्त्व का है। ' बुद्धि' शब्द के पीछे ' व्यवसायात्मिक ' विशेषण नहीं है इसलिये इस श्लोक में उसका अर्थ ' वासना ' या ' समझ ' होना चाहिये। कुछ लोग बुद्धि का ' ज्ञान ' अर्थ करके इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया चाहते हैं, कि ज्ञान की अपेक्षा कर्म हलके दर्जे का है; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि पीछे ४८ वें श्लोक में समत्व का लक्षण बतलाया है और ४६ वें तथा अगले श्लोक में भी वही वर्णित है। इस कारण यहाँ बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि ही करना चाहिये। किसी भी कर्म की भलाई-बुराई कर्म पर अवलम्बित नहीं होती; कर्म एक ही क्यों न हो, पर करनेवाले की भली या बुरी बुद्धि के अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ हुआ करता है; अतः कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है; इत्यादि नीति के तत्त्वों का विचार गीतारहस्य के चौथे, बारहवें और पन्द्रहवें प्रकरण में (पृ. ८७, ३८०–३८१ और ४७३–४७८) किया गया है; इस कारण यहाँ और अधिक चर्चा नहीं करते। ४१ वें श्लोक में बतलाया ही है, कि वासनात्मक बुद्धि को सम और शुद्ध रखने के लिये कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मक बुद्धि पहले ही स्थिर हो जानी चाहिये। इसलिये ' साम्यबुद्धि ' इस शब्द से ही स्थिर व्यवसायात्मक बुद्धि और शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि) इन दोनों का बोध हो जाता है। यह साम्यबुद्धि ही शुद्ध आचरण अथवा कर्मयोग की जड़ है, इसलिये ३६ वें श्लोक में भगवान् ने पहले जो यह कहा है, कि कर्म करके भी कर्म की बाधा न लगनेवाली युक्ति अथवा योग तुम्हे बतलाता हूँ, उसी के अनुसार इस श्लोक में कहा है कि "कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर, पवित्र, सम और शुद्ध रखना ही " वह ' युक्ति ' या ' कौशल्य ' है और इसी को ' योग ' कहते हैं–इस प्रकार योग शब्द की दो बार व्याख्या की गई है। ५० वें श्लोक के "योगः कर्मसु कौशलम्" इस पद का इस प्रकार सरल अर्थ लगने पर भी, कुछ लोगों ने ऐसी खींचातानी से अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है, कि " कर्मसु योगः कौशलम् " कर्म में जो योग है, उसको कौशल

§§ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

कहते हैं। पर "कौशल" शब्द की व्याख्या करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, 'योग' शब्द का लक्षण बतलाना ही अभीष्ट है, इसलिये यह अर्थ सच्चा नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त जब कि 'कर्मसु कौशलम्' ऐसा सरल अन्वय लग सकता है, तब "कर्मसु योगः" ऐसा औंधा-सीधा अन्वय करना ठीक भी नहीं है। अब बतलाते हैं, कि इस प्रकार साम्य बुद्धि में समस्त कर्म करते रहने से व्यवहार का लोप नहीं होता और पूर्ण सिद्धि अथवा मोक्ष प्राप्त हुए विना नहीं रहता—]

(५१) (समत्व) बुद्धि से युक्त (जो) ज्ञानी पुरुष कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म के बन्ध से मुक्त होकर (परमेश्वर के) दुःखविरहित पद को जा पहुँचते हैं (५२) जब तेरी बुद्धि मोह के गँदले आवरण से पार हो जायगी, तब उन बातों से तू विरक्त हो जायगा जो सुनी हैं और सुनने की हैं।

[अर्थात् तुझे कुछ अधिक सुनने की इच्छा न होगी; क्योंकि इन बातों के सुनने से मिलनेवाला फल तुझे पहले ही प्राप्त हो चुका होगा। 'निर्वेद' शब्द का उपयोग प्रायः संसारी प्रपञ्च से उकताहट या वैराग्य के लिये किया जाता है। इस श्लोक में उसका सामान्य अर्थ "ऊब जाना" या "चाह न रहना" ही है। अगले श्लोक से देख पड़ेगा, कि यह उकताहट, विशेष करके पीछे बतलाये हुए, त्रैगुण्य-विषयक श्रौत कर्मों के सम्बन्ध में है।]

(५३) (नाना प्रकार के) वेदवाक्यों से घबड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब समाधि-वृत्ति में स्थिर और निश्चल होगी, तब (यह साम्यबुद्धिरूप) योग तुझे प्राप्त होगा।

[सारांश, द्वितीय अध्याय के ४४ वें श्लोक के अनुसार, जो लोग वेदवाक्य की फलश्रुति में भूले हुए हैं, और जो लोग किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये कुछ न कुछ कर्म करने की धुन में लगे रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती— और भी अधिक गड़बड़ा जाती है। इसलिये अनेक उपदेशों का सुनना छोड़

अर्जुन उवाच ।

§§ स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

कर चित्त को निश्चल समाधि अवस्था में रख; ऐसा करने से साम्यबुद्धिरूप कर्म-योग तुझे प्राप्त होगा और अधिक उपदेश की ज़रूरत न रहेगी; एवं कर्म करने पर भी तुझे उनका कुछ पाप न लगेगा। इस रीति से जिस कर्मयोगी की बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर हो जाय, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। अब अर्जुन का प्रश्न है कि उसका व्यवहार कैसा होता है।]

अर्जुन ने कहा—(५४) हे केशव ! (मुझे बतलाओ कि) समाधिस्थ स्थित-प्रज्ञ किसे कहे ? उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना और चलना कैसा रहता है ?

[इस श्लोक में 'भाषा' शब्द 'लक्षण' के अर्थ में प्रयुक्त है और हमने उसका भाषान्तर, उसकी भाष् धातु के अनुसार "किसे कहें" किया है। गीता-रहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३६६-३७७) में स्पष्ट कर दिया है, कि स्थितप्रज्ञ का बर्ताव कर्मयोगशास्त्र का आधार है और इससे अगले वर्णन का महत्त्व ज्ञात हो जावेगा।]

श्रीभगवान् ने कहा:—(५५) हे पार्थ ! जब (कोई मनुष्य अपने) मन के समस्त काम अर्थात् वासनाओं को छोड़ता है, और अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। (५६) दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और प्रीति, भय एवं क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं। (५७) सब बातों में जिसका मन निःसङ्ग हो गया, और यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का जिसे आनन्द या विषाद भी

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

नहीं, (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५८) जिस प्रकार कछुवा अपने (हाथ-पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हुई। (५९) निराहारी पुरुष के विषय छूट जावें, तो भी (उनका) रस अर्थात् चाह नहीं छूटती। परन्तु परब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है, अर्थात् विषय और उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं।

[अन्न से इन्द्रियों का पोषण होता है। अतएव निराहार या उपवास करने से इन्द्रियाँ अशक्त होकर अपने-अपने विषयों का सेवन करने में असमर्थ हो जाती हैं। पर इस रीति से विषयोपभोग का छूटना केवल ज़बर्दस्ती की अशक्तता की, बाह्य क्रिया हुई। इससे मन की विषयवासना (रस) कुछ कम नहीं होती, इसलिये यह वासना जिससे नष्ट हो उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना चाहिये; इस प्रकार ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर मन एवं उसके साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी आप ही आप ताबे में रहती हैं; इन्द्रियों को ताबे में रखने के लिये निराहार आदि उपाय आवश्यक नहीं,—यही इस श्लोक का भावार्थ है। और, यही अर्थ आगे छठे अध्याय के श्लोक में स्पष्टता से वर्णित है (गी. ६. १६, १७ और ३. ६, ७ देखो), कि योगी का आहार नियमित रहे, वह आहार-विहार आदि को बिलकुल ही न छोड़ दे। सारांश, गीता का यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये, कि शरीर को कृश करनेवाले निराहार आदि साधन एकाङ्गी हैं अतएव वे त्याज्य हैं; नियमित आहार-विहार और ब्रह्मज्ञान ही इन्द्रिय-निग्रह का उत्तम साधन है। इस श्लोक में रस शब्द का 'जिह्वा से अनुभव किया जानेवाला मीठा, कड़ुवा, इत्यादि रस' ऐसा अर्थ करके कुछ लोग यह अर्थ करते हैं, कि उपवासों से शेष इन्द्रियों के विषय यदि छूट भी जायँ, तो भी जिह्वा का रस अर्थात् खाने-पीने की इच्छा कम न होकर बहुत दिनों के निराहार से और भी अधिक तीव्र हो जाती है। और, भागवत में ऐसे अर्थ का एक

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

श्लोक भी है (भाग. ११. ८. २०)। पर हमारी राय में गीता के इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि, दूसरे चरण से वह मेल नहीं रखता। इसके अतिरिक्त भागवत में 'रस' शब्द नहीं 'रसनं' शब्द है, और गीता के श्लोक का दूसरा चरण भी वहाँ नहीं है। अतएव, भागवत और गीता के श्लोक को एकार्थक मान लेना उचित नहीं है। अब आगे के दो श्लोकों में और अधिक स्पष्ट कर बतलाते हैं, कि विना ब्रह्मसाक्षात्कार के पूरा-पूरा इन्द्रियनिग्रह हो नहीं सकता है—]

(६०) कारण यह है, कि केवल (इन्द्रियों के दमन करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले विद्वान् के भी मन को, हे कुन्तिपुत्र! ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से मनमानी ओर खींच लेती हैं। (६१) (अतएव) इन सब इन्द्रियों का संयमन कर युक्त अर्थात् योगयुक्त और मत्परायण होकर रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ अपने स्वाधीन हो जायँ (कहना चाहिये कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो गई।

[इस श्लोक में कहा है, कि नियमित आहार से इन्द्रियनिग्रह करके साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये मत्परायण होना चाहिये, अर्थात् ईश्वर में चित्त लगाना चाहिये; और ५९ वें श्लोक का हमने जो अर्थ किया है, उससे प्रगट होगा, कि इसका हेतु क्या है। मनु ने भी निरे इन्द्रियनिग्रह करनेवाले पुरुष को यह इशारा किया है कि "बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु. २. २१५) और उसी का अनुवाद ऊपर के ६० वें श्लोक में किया गया है। सारांश, इन तीन श्लोकों का भावार्थ यह है कि जिसे स्थितप्रज्ञ होना हो, उसे अपना आहार-विहार नियमित रख कर ब्रह्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये, ब्रह्मज्ञान होने पर ही मन निर्विषय होता है, शरीर-क्लेश के उपाय तो ऊपरी हैं—सच्चे नहीं। 'मत्परायण' पद से यहाँ भक्तिमार्ग का भी आरंभ हो गया है (गी. ९. ३४ देखो)। ऊपर के श्लोक में जो 'युक्त' शब्द है, उसका अर्थ 'योग से तैयार या बना हुआ' है। गीता ६.१७ में 'युक्त' शब्द का अर्थ 'नियमित' है। पर गीता में इस शब्द का सदैव का अर्थ है—साम्यबुद्धि का

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

जो योग गीता में बतलाया गया है उसका उपयोग करके, तदनुसार समस्त सुख-दुःखों को शान्तिपूर्वक सहन कर, व्यवहार करने में चतुर पुरुष" (गी. ५. २३ देखो)। इस रीति से निष्णात हुए पुरुष को ही 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। उसकी अवस्था ही सिद्धावस्था कहलाती है, और इस अध्याय के तथा पाँचवें एवं बारहवें अध्याय के अन्त में इसी का वर्णन है। यह बतला दिया, कि विषयों की चाह छोड़ कर स्थितप्रज्ञ होने के लिये क्या आवश्यक है। अब अगले श्लोकों में यह वर्णन करते हैं, कि विषयों में चाह कैसे उत्पन्न होती है, इसी चाह से आगे चलकर काम-क्रोध आदि विकार कैसे उत्पन्न होते हैं और अंत में उनसे मनुष्य का नाश कैसे हो जाता है, एवं इनसे छुटकारा किस प्रकार मिल सकता है—]

(६२) विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुष का इन विषयों में सङ्ग बढ़ता जाता है। फिर इस सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये। और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है; (६३) क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्व नाश हो जाता है। (६४) परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके क़ाबू में है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी (चित्त से) प्रसन्न रहता है। (६५) चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है।

[इन दो श्लोकों में स्पष्ट वर्णन है, कि विषय या कर्म को न छोड़ स्थितप्रज्ञ

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

केवल उनका सङ्ग छोड़ कर विषय में ही निःसङ्ग बुद्धि से बर्तता रहता है और उसे जो शान्ति मिलती है, वह कर्मयाग से नहीं किन्तु फलाशा के त्याग से प्राप्त होती है। क्योंकि इसके सिवा, अन्य बातों में इस स्थितप्रज्ञ में और संन्यास-मार्गवाले स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। इन्द्रियसंयमन, निरिच्छा और शान्ति ये गुण दोनों को ही चाहिये; परन्तु इन दोनों में महत्त्व का भेद यह है, कि गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मों का संन्यास नहीं करता किन्तु लोकसंग्रह के निमित्त समस्त कर्म निष्काम बुद्धि से किया करता है और संन्यासमार्गवाला स्थितप्रज्ञ करता ही नहीं है (देखो गी. ३. २५)। किन्तु गीता के संन्यासमार्गीय टीकाकार इस भेद को गौण समझ कर साम्प्रदायिक आग्रह से प्रतिपादन किया करते हैं, कि स्थितप्रज्ञ का उक्त वर्णन संन्यासमार्ग का ही है। अब इस प्रकार जिसका चित्त प्रसन्न नहीं, उसका वर्णन कर स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को और भी अधिक व्यक्त करते हैं—]

(६६) जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है, उसमें (स्थिर-) बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़ बुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं और जिसे शान्ति नहीं उसे सुख मिलेगा कहाँ से? (६७) (विषयों में) सञ्चार अर्थात् व्यवहार करनेवाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है जैसे कि पानी में नौका को वायु खींचती है। (६८) अतएव हे महाबाहु अर्जुन! इंद्रियों के विषयों से जिस की इन्द्रियाँ चहुँ ओर से हटी हुई हों, (कहना चाहिये कि) उसी की बुद्धि स्थिर हुई।

[सारांश, मन के निग्रह के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करना सब साधनों का मूल है। विषयों में व्यग्र होकर इन्द्रियाँ इधर-उधर दौड़ती रहें तो आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने की (वासनात्मक) बुद्धि ही नहीं हो सकती। अर्थ यह है, कि बुद्धि न हो तो उसके विषय में दृढ़ उद्योग भी नहीं होता और फिर शांति एवं

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

सुख भी नहीं मिलता। गीतारहस्य के चौथे प्रकरण में दिखलाया है, कि इन्द्रियनिग्रह का यह अर्थ नहीं है कि, इन्द्रियों को एकाएक दबा कर सब कर्मों को बिलकुल छोड़ दे। किन्तु गीता का अभिप्राय यह है, कि ६४ वें श्लोक में जो वर्णन है, उसके अनुसार निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहना चाहिये।]

(६९) सब लोगों की जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है और जब समस्त प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुष को रात मालूम होती है।

[यह विरोधाभासात्मक वर्णन अलङ्कारिक है। अज्ञान अन्धकार को और ज्ञान प्रकाश को कहते हैं (गी. १४ ११)। अर्थ यह है, कि अज्ञानी लोगों को जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है (अर्थात् उन्हें जो अन्धकार है) वही ज्ञानियों को आवश्यक होती है; और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं—उन्हें जहाँ उजेला मालूम होता है—वहीं ज्ञानी को अँधेरा देख पड़ता है अर्थात् वह ज्ञानी को अभीष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, ज्ञानी पुरुष काम्य कर्मों को तुच्छ मानता है, तो सामान्य लोग उसमें लिपटे रहते हैं, और ज्ञानी पुरुष को जो निष्काम कर्म चाहिये, उसकी औरों को चाह नहीं होती।]

(७०) चारों ओर से (पानी) भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार जिस पुरुष में समस्त विषय (उसकी शान्ति भङ्ग हुए बिना ही) प्रवेश करते हैं, उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है। विषयों की इच्छा करनेवाले को (यह शान्ति) नहीं (मिलती)।

[इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है, कि शान्ति प्राप्त करने के लिये कर्म न करना चाहिये, प्रत्युत भावार्थ यह है, कि साधारण लोगों का मन फलाशा से या काम्य-वासना से घबड़ा जाता है और उनके कर्मों से उनके मन की शांति बिगड़ जाती है; परन्तु जो सिद्धावस्था में पहुँचा गया है, उसका मन फलाशा से क्षुब्ध नहीं होता, कितने ही कर्म करने को क्यों न हों, पर उसके मन की शांति नहीं डिगती, वह समुद्र सरीखा शान्त बना रहता है और सब काम किया करता है, अतएव उसे सुखदुःख की व्यथा नहीं होती है। (उक्त ६४ वाँ श्लोक और

§§ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

गी. ४.१९ देखो)। अब इस विषय का उपसंहार करके बतलाते हैं, कि स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति का क्या नाम है—]

(७१) जो पुरुष सब काम, अर्थात् आसक्ति, छोड़ कर और निःस्पृह हो करके (व्यवहार में) बर्तता है, एवं जिसे ममत्व और अहङ्कार नहीं होता, उसे ही शांति मिलती है।

[संन्यास-मार्ग के टीकाकार इस 'चरति' (बर्तता है) पद का "भीख माँगता फिरता है" ऐसा अर्थ करते हैं; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। पिछले ६४ वें और ६७ वें श्लोक में 'चरन्' एवं 'चरतां' का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँ भी करना चाहिये। गीता में ऐसा उपदेश कहीं भी नहीं है, कि स्थितप्रज्ञ भिक्षा माँगा करे। हाँ, इसके विरुद्ध ६४ वें श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया है, कि स्थितप्रज्ञ पुरुष इन्द्रियों को अपने स्वाधीन रख कर 'विषयों में बर्ते'। अतएव 'चरति' का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि 'बर्तता है,' अर्थात् 'जगत् के व्यवहार करता है'। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने दासबोध के उत्तरार्ध में इस बात का उत्तम वर्णन किया है कि 'निःस्पृह' चतुर पुरुष (स्थितप्रज्ञ) व्यवहार में कैसे बर्तता है; और गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण का विषय ही वही है।]

(७२) हे पार्थ! ब्राह्मी स्थिति यही है। इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नहीं फँसता; और अन्तकाल में अर्थात् मरने के समय में भी इस स्थिति में रह कर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने के स्वरूप का मोक्ष पाता है।

[यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अन्तिम और अत्युत्तम स्थिति है (देखो गी. र. प्र. ९. पृ. २३३ और २४९); और इसमें विशेषता यह है कि, इसमें प्राप्त हो जाने से फिर मोह नहीं होता। यहाँ पर इस विशेषता के बतलाने का कुछ कारण है। वह यह कि, यदि किसी दिन दैवयोग से घड़ी-दो-घड़ी के लिये इस ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ चिरकालिक लाभ नहीं होता। क्योंकि, किसी भी मनुष्य की यदि मरते समय यह स्थिति न रहेगी, तो

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

मरण-काल में जैसी वासना रहेगी उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (देखो गीतारहस्य पृ.२८८)। यही कारण है जो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्टतया कह दिया है कि 'अन्तकालेऽपि' = अन्तकाल में भी स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था स्थिर बनी रहती है। अन्तकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन उपनिषदों में (छां. ३. १४. १; प्र. ३. १०) और गीता में भी (गी. ८. ५-१०) है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है, इसलिये प्रगट ही है, कि अन्ततः मरने के समय तो वासना शून्य हो जानी चाहिये। और फिर यह भी कहना पड़ता है, कि मरण-समय में वासना शून्य होने के लिये पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये। क्योंकि वासना को शून्य करने का कर्म अत्यन्त कठिन है, और बिना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है, वरन् असम्भव भी है। यह तत्त्व वैदिकधर्म में ही नहीं है, कि मरण समय में वासना शुद्ध होनी चाहिये; किंतु अन्यान्य धर्मों में भी यह तत्त्व अङ्गीकृत हुआ है। देखो गीतारहस्य पृ. ४३९।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

[इस अध्याय में, आरम्भ में सांख्य अथवा संन्यासमार्ग का विवेचन है इस कारण इसको सांख्ययोग नाम दिया गया है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये, कि पूरे अध्याय में वही विषय है। एक ही अध्याय में प्रायः अनेक विषयों का वर्णन होता है। जिस अध्याय में, जो विषय आरम्भ में आ गया है, अथवा जो विषय उसमें प्रमुख है, उसी के अनुसार उस अध्याय का नाम रख दिया जाता है। देखो गीतारहस्य प्रकरण १४ पृ. ४४४।]

तृतीयोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच!

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

तीसरा अध्याय।

[अर्जुन को यह भय हो गया था, कि मुझे भीष्म-द्रोण आदि को मारना पड़ेगा। अतः सांख्यमार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अशोच्यत्व से यह सिद्ध किया गया, कि अर्जुन का भय वृथा है। फिर स्वधर्म का थोड़ा सा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय, कर्मयोग का दूसरे अध्याय में ही आरम्भ किया गया है और कहा गया है, कि कर्म करने पर भी उनके पाप-पुण्य से बचने के लिये केवल यही एक युक्ति या योग है, कि वे कर्म साम्यबुद्धि से किये जावें। इसके अनन्तर अंत में उस कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ का वर्णन भी किया गया है, कि जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो। परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूरा नहीं हो जाता। यह बात सच है, कि कोई भी काम समबुद्धि से किया जावे तो उसका पाप नहीं लगता; परन्तु जब कर्म की अपेक्षा समबुद्धि की ही श्रेष्ठता विवादरहित सिद्ध होती है (गी. २. ४९), तब फिर स्थितप्रज्ञ की नाईं बुद्धि को सम कर लेने से ही काम चल जाता है—इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्म करना ही चाहिये। अतएव जब अर्जुन ने यही शंका प्रश्नरूप में उपस्थित की, तब भगवान् इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में प्रतिपादन करते हैं कि "कर्म करना ही चाहिये।"]

अर्जुन ने कहा—(१) हे जनार्दन! यदि तुम्हारा यही मत है, कि कर्म की अपेक्षा (साम्य-) बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव! मुझे (युद्ध के) घोर कर्म में क्यों लगाते हो? (२) (देखने में) व्यामिश्र अर्थात् सन्दिग्ध भाषण करके तुम मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हो। इसलिये तुम ऐसी एक ही बात निश्चित करके मुझे बतलाओ, जिससे मुझे श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहाः—(३) हे निष्पाप अर्जुन! पहले (अर्थात् दूसरे अध्याय में) मैंने यह बतलाया है कि, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—अर्थात् ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की।

[हमने 'पुरा' शब्द का अर्थ "पहले" अर्थात् "दूसरे अध्याय में" किया है। यही अर्थ सरल है, क्योंकि दूसरे अध्याय में पहले सांख्यनिष्ठा के अनुसार ज्ञान का वर्णन करके फिर कर्मयोगनिष्ठा का आरम्भ किया गया है। परन्तु 'पुरा' शब्द का अर्थ "सृष्टि के आरम्भ में" भी हो सकता है। क्योंकि महाभारत में, नारायणीय या भागवतधर्म के निरूपण में यह वर्णन है, कि सांख्य और योग (निवृत्ति और प्रवृत्ति) दोनों प्रकार की निष्ठाओं को भगवान् ने जगत् के आरम्भ में ही उत्पन्न किया है (देखो शां. ३४० और ३४७)। 'निष्ठा' शब्द के पहले 'मोक्ष' शब्द अध्याहृत है। 'निष्ठा' शब्द का अर्थ वह मार्ग है कि जिससे चलने पर अन्त में मोक्ष मिलता है; गीता के अनुसार ऐसी निष्ठाएँ दो ही हैं, और वे दोनों स्वतंत्र हैं, कोई किसी का अङ्ग नहीं है—इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३०४–३१९) में किया गया है, इसलिये उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। ग्यारहवें प्रकरण के अन्त (पृष्ठ ३१२) में नक्शा देकर इस बात का भी वर्णन कर दिया गया है, कि दोनों निष्ठाओं में भेद क्या है। मोक्ष की दो निष्ठाएँ बतला दी गईं; अब तदंगभूत नैष्कर्म्यसिद्धि का स्वरूप स्पष्ट करके बतलाते हैं—]

(४) (परन्तु) कर्मों का प्रारम्भ न करने से ही पुरुष को नैष्कर्म्य-प्राप्ति नहीं हो जाती, और कर्मों का प्रारम्भ (त्याग) न करने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती। (५) क्योंकि कोई मनुष्य (कुछ न कुछ) कर्म किये विना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक परतन्त्र मनुष्य को (सदा कुछ न कुछ) कर्म करने में लगाया ही करते हैं।

[चौथे श्लोक के पहले चरण में जो 'नैष्कर्म्य' पद है, उसका 'ज्ञान'

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

अर्थ मान कर संन्यासमार्गवाले टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इस प्रकार बना लिया है—"कर्मों का आरंभ न करने से ज्ञान नहीं होता, अर्थात् कर्मों से ही ज्ञान होता है, क्योंकि कर्म ज्ञानप्राप्ति का साधन है।" परन्तु यह अर्थ न तो सरल है और न ठीक हैं। नैष्कर्म्य शब्द का उपयोग वेदान्त और मीमांसा दोनों शास्त्रों में कई बार किया गया है और सुरेश्वराचार्य का "नैष्कर्म्यसिद्धि" नामक इस विषय पर एक ग्रंथ भी है। तथापि, नैष्कर्म्य के ये तत्त्व कुछ नये नहीं हैं। न केवल सुरेश्वराचार्य ही के किन्तु मीमांसा और वेदान्त के सूत्र बनने के भी, पूर्व से ही उनका प्रचार होता आ रहा है। यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं, कि कर्म बन्धक होता ही है। इसलिये पारे का उपयोग करने के पहले उसे मार कर जिस प्रकार वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं, उसी प्रकार कर्म करने के पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है, कि जिससे उसका बन्धकत्व या दोष मिट जाय। और, ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। इस प्रकार बन्धकत्वरहित कर्म मोक्ष के लिये बाधक नहीं होते, अतएव मोक्ष-शास्त्र का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कि यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय? मीमांसक लोग इसका यह उत्तर देते हैं, कि नित्य और (निमित्त होने पर) नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिये, पर काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये। इससे कर्म का बन्धकत्व नहीं रहता और नैष्कर्म्यावस्था सुलभ रीति से प्राप्त हो जाती है। परन्तु वेदान्तशास्त्र ने सिद्धान्त किया है, कि मीमांसकों की यह युक्ति गलत है; और इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ.२७४) में किया गया है। कुछ और लोगों का कथन है, कि यदि कर्म किये ही न जावें तो उनसे बाधा कैसे हो सकती है? इसलिये, उनके मतानुसार, नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त करने के लिये सब कर्मों ही को छोड़ देना चाहिये। इनके मत से कर्मशून्यता को ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। चौथे श्लोक में बतलाया गया है, कि यह मत ठीक नहीं है, इससे तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष भी नहीं मिलता; और पाँचवें श्लोक में इसका कारण भी बतला दिया है। यदि हम कर्म को छोड़ देने का विचार करें, तो जब तक यह देह है तब तक सोना, बैठना इत्यादि कर्म कभी रुक ही नहीं सकते (गी. ५. ९ और १८.), इसलिये कोई भी मनुष्य कर्मशून्य कभी नहीं हो सकता।

इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

फलतः कर्मशून्यरूपी नैष्कर्म्य असम्भव है। सारांश, कर्मरूपी बिच्छू कभी नहीं मरता। इसलिये ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिये कि जिससे वह विपरहित हो जाय। गीता का सिद्धान्त है, कि कर्मों में से अपनी आसक्ति को हटा लेना ही इसका एक मात्र उपाय है। आगे अनेक स्थानों में इसी उपाय का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। परन्तु इस पर भी शङ्का हो सकती है, कि यद्यपि कर्मों को छोड़ देना नैष्कर्म्य नहीं है, तथापि संन्यासमार्गवाले तो सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग करके ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिये कर्मों का त्याग करना आवश्यक है। इसका उत्तर गीता इस प्रकार देती है, कि संन्यासमार्गवालों को मोक्ष तो मिलता है सही, परन्तु वह कुछ उन्हें कर्मों का त्याग करने से नहीं मिलता, किन्तु मोक्ष-सिद्धि उनके ज्ञान का फल है। यदि केवल कर्मों का त्याग करने से ही मोक्ष-सिद्धि होती हो, तो फिर पत्थरों को भी मुक्ति मिलनी चाहिये! इससे ये तीन बातें सिद्ध होती हैं:—(१) नैष्कर्म्य कुछ कर्मशून्यता नहीं है, (२) कर्मों को बिलकुल त्याग देने का कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, परन्तु वे छूट नहीं सकते, और (३) कर्मों को त्याग देना सिद्धि प्राप्त करने का उपाय नहीं है; यही बातें ऊपर के श्लोक में बतलाई गई हैं। जब ये तीनों बातें सिद्ध हो गईं, तब अठारहवें अध्याय के कथनानुसार 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' की (देखो गी. १८. ४८ और ४९) प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग शेष रह जाता है, कि कर्म करना तो छोड़े नहीं, पर ज्ञान के द्वारा आसक्ति का क्षय करके सब कर्म सदा करता रहे! क्योंकि ज्ञान मोक्ष का साधन है तो सही, पर कर्मशून्य रहना भी कभी सम्भव नहीं, इसलिये कर्मों के बन्धकत्व (बन्धन) को नष्ट करने के लिये आसक्ति छोड़ कर उन्हें करना आवश्यक होता है। इसी को कर्मयोग कहते हैं; और अब बतलाते हैं कि यही ज्ञान-कर्मसमुच्चयात्मक मार्ग विशेष योग्यता का, अर्थात् श्रेष्ठ है—]

(६) जो मूढ़ (हाथ पैर आदि) कर्मेंद्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं। (७) परन्तु हे अर्जुन! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है, कि जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके, (केवल) कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

[पिछले अध्याय में जो यह बतलाया गया है, कि कर्मयोग में कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४६) उसी का इन दोनों श्लोकों में स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ साफ़ साफ़ कह दिया है, कि जिस मनुष्य का मन तो शुद्ध नहीं है, पर केवल दूसरों के भय से या इस अभिलाषा से कि दूसरे मुझे भला कहें, केवल बाह्येन्द्रियों के व्यापार को रोकता है, वह सच्चा सदाचारी नहीं है, वह ढोंगी है। जो लोग इस वचन का प्रमाण देकर, कि "कलौ कर्ता च लिप्यते"– कलियुग में दोष बुद्धि में नहीं, किन्तु कर्म में रहता है–यह प्रतिपादन किया करते हैं कि बुद्धि चाहे जैसी हो, परन्तु कर्म बुरा न हों; उन्हें इस श्लोक में वर्णित गीता के तत्त्व पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सातवें श्लोक से यह बात प्रगट होती है, कि निष्काम बुद्धि से कर्म करने के योग को ही गीता में 'कर्मयोग' कहा है। संन्यासमार्गीय कुछ टीकाकार इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं, कि यद्यपि यह कर्मयोग छठे श्लोक में बतलाये हुए दांभिक मार्ग से श्रेष्ठ है, तथापि यह संन्यासमार्ग से श्रेष्ठ नहीं है। परन्तु यह युक्ति साम्प्रदायिक आग्रह की है, क्योंकि न केवल इसी श्लोक में, बरन् फिर पाँचवें अध्याय के आरम्भ में और अन्यत्र भी, यह स्पष्ट कह दिया गया है कि संन्यासमार्ग से भी कर्मयोग अधिक योग्यता का या श्रेष्ठ है (गीतार. पृ.३०७–३०८)। इस प्रकार जब कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, तब अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने के लिये उपदेश करते हैं—]

(८) (अपने धर्म के अनुसार) नियत अर्थात् नियमित कर्म को तू कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। इसके अतिरिक्त (यह समझ ले कि यदि) तू कर्म न करेगा, तो (भोजन भी न मिलने से) तेरा शरीर-निर्वाह तक न हो सकेगा।

['अतिरिक्त' और 'तक' (अपि च) पदों से शरीरयात्रा को कम से कम हेतु कहा है। अब यह बतलाने के लिये यज्ञ-प्रकरण का आरम्भ किया जाता है, कि 'नियत' अर्थात् 'नियत किया हुआ कर्म' कौन सा है और दूसरे किस महत्त्व के कारण उसका आचरण अवश्य करना चाहिये। आजकल यज्ञ-याग आदि श्रौतधर्म लुप्त सा हो गया है, इसलिये इस विषय का आधुनिक पाठकों को कोई विशेष महत्त्व मालूम नहीं होता। परन्तु गीता के समय में इन

§§ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ-यागों का पूरा पूरा प्रचार था और 'कर्म' शब्द से मुख्यतः इन्हीं का बोध हुआ करता था; अतएव गीताधर्म में इस बात का विवेचन करना अत्यावश्यक था कि ये धर्मकृत्य किये जावें या नहीं, और यदि किये जावें, तो किस प्रकार। इसके सिवा, यह भी स्मरण रहे, कि यज्ञ शब्द का अर्थ केवल ज्योतिष्टोम आदि श्रौतयज्ञ या अग्नि में किसी भी वस्तु का हवन करना ही नहीं है (देखो गी.४. ३२)। सृष्टि निर्माण करके उसका काम ठीक ठीक चलते रहने के लिये, अर्थात् लोकसंग्रहार्थ, प्रजा को ब्रह्मा ने चातुर्वर्ण्यविहित जो जो काम बाँट दिये हैं, उन सब का 'यज्ञ' शब्द में समावेश होता है (देखो म.भा. अनु. ४८.३; और गी.र. पृ.२८९-२९५)। धर्मशास्त्रों में इन्हीं कर्मों का उल्लेख है और यह 'नियत' शब्द से वे ही विवक्षित हैं। इसलिये कहना चाहिये, कि यद्यपि आज-कल यज्ञ-याग लुप्तप्राय हो गये हैं, तथापि यज्ञ-चक्र का यह विवेचन अब भी निरर्थक नहीं है। शास्त्रों के अनुसार ये सब कर्म काम्य हैं, अर्थात् इसलिये बत-लाये गये हैं कि मनुष्य का इस जगत् में कल्याण होवे और उसे सुख मिले। परन्तु पीछे दूसरे अध्याय (गी.२.४१-४४) में यह सिद्धान्त है, कि मीमांसकों के ये सहेतुक या काम्य कर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक हैं, अतएव वे नीचे दर्जे के हैं। और मानना पड़ता है, कि अब तो उन्हीं कर्मों को करना चाहिये; इसलिये अगले श्लोकों में इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है, कि कर्मों का शुभा-शुभ लेप अथवा बन्धकत्व कैसे मिट जाता है, और उन्हें करते रहने पर भी नैष्कर्म्यावस्था क्योंकर प्राप्त होती है। यह समग्र विवेचन भारत में वर्णित नारायणीय या भागवतधर्म के अनुसार है (देखो म. भा. शां. ३४०)।]

(९) यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त, अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ (किये जानेवाले) कर्म (भी) तू आसक्ति या फलाशा छोड़ कर करता जा।

[इस श्लोक के पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकों का कथन है, कि जब वेदों ने ही यज्ञ-यागादि कर्म मनुष्यों के लिये नियत कर दिये हैं, और जब कि ईश्वरनिर्मित सृष्टि का व्यवहार ठीक ठीक चलते रहने के लिये यह यज्ञ-चक्र आवश्यक है,

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

तब कोई भी इन कर्मों का त्याग नहीं कर सकता; यदि कोई इनका त्याग कर देगा, तो समझना होगा कि वह श्रौतधर्म से वञ्चित हो गया। परन्तु कर्म-विपाकप्रक्रिया का सिद्धान्त है, कि प्रत्येक कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है; उसके अनुसार कहना पड़ता है, कि यज्ञ के लिये मनुष्य जो जो कर्म करेगा उसका भला या बुरा फल भी उसे भोगना ही पड़ेगा। मीमांसकों का इस पर यह उत्तर है कि, वेदों की ही आज्ञा है कि 'यज्ञ' करना चाहिये, इसलिये यज्ञार्थ जो जो कर्म किये जावेंगे वे सब ईश्वरसम्मत होंगे; अतः उन कर्मों से कर्त्ता बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु यज्ञों के सिवा दूसरे कर्मों के लिये—उदाहरणार्थ, केवल अपना पेट भरने के लिये,—मनुष्य जो कुछ करता है वह, यज्ञार्थ नहीं हो सकता; उसमें तो केवल मनुष्य का ही निजी लाभ है। यही कारण है जो मीमांसक उसे 'पुरुषार्थ' कर्म कहते हैं, और उन्होंने निश्चित किया है, कि ऐसे यानी यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्म अर्थात् पुरुषार्थ कर्म का जो कुछ भला या बुरा फल होता है वह मनुष्य को भोगना पड़ता है—यही सिद्धान्त उक्त श्लोक की पहली पंक्ति में है (देखो गीतार. प्र. ३ पृ. ५२-५५)। कोई कोई टीकाकार यज्ञ=विष्णु ऐसा गौण अर्थ करके कहते हैं, कि यज्ञार्थ शब्द का अर्थ विष्णुप्रीत्यर्थ या परमेश्वरार्पणपूर्वक है। परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ खींचातानी का और क्लिष्ट है। यहाँ पर प्रश्न होता है, कि यज्ञ के लिये जो कर्म करने पड़ते हैं, उनके सिवा यदि मनुष्य दूसरे कर्म कुछ भी न करे तो क्या वह कर्म-बंधन से छूट सकता है? क्योंकि यज्ञ भी तो कर्म ही है, और उसका स्वर्गप्राप्तिरूप जो शास्त्रोक्त फल है वह मिले बिना नहीं रहता। परन्तु गीता के दूसरे ही अध्याय में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है, कि यह स्वर्ग-प्राप्तिरूप फल मोक्ष-प्राप्ति के विरुद्ध है (देखो गी. २.४०-४४; और ९.२०,२१)। इसी लिये उक्त श्लोक के दूसरे चरण में यह बात फिर बतलाई गई है, कि मनुष्य को यज्ञार्थ जो कुछ नियत कर्म करना होता है उसे वह फल की आशा छोड़ कर अर्थात् केवल कर्त्तव्य समझ कर करे, और इसी अर्थ का प्रतिपादन आगे सात्त्विक यज्ञ की व्याख्या करते समय किया गया है (देखो गी. १७.११. और १८.६)। इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि इस प्रकार सब कर्म यज्ञार्थ और सो भी फलाशा छोड़ कर करने से, (१) वे मीमांसकों के न्यायानुसार ही किसी भी प्रकार

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

[मनुष्य को बद्ध नहीं करते, क्योंकि वे तो यज्ञार्थ किये जाते हैं और (२) उनका स्वर्ग-प्राप्तिरूप शास्त्रोक्त एवं अनित्य फल मिलने के बदले मोक्ष-प्राप्ति होती है, क्योंकि वे फलाशा छोड़ कर किये जाते हैं। आगे १९ वें श्लोक में और फिर चौथे अध्याय के २३ वें श्लोक में यही अर्थ दुबारा प्रतिपादित हुआ है। तात्पर्य यह है कि, मीमांसकों के इस सिद्धान्त—"यज्ञार्थ कर्म करना चाहिये क्योंकि वे बन्धक नहीं होते"—में भगवतद्गीता ने और भी यह सुधार कर दिया है, कि "जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़ कर करना चाहिये।" किन्तु इस पर भी यह शंका होती है कि, मीमांसकों के सिद्धान्त को इस प्रकार सुधारने का प्रयत्न करके यज्ञ-याग आदि गार्हस्थ्यवृत्ति को जारी रखने की अपेक्षा, क्या यह अधिक अच्छा नहीं है, कि कर्मों की झंझट से छूट कर मोक्ष-प्राप्ति के लिये सब कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लें? भगवद्गीता इस प्रश्न का साफ़ यही एक उत्तर देती है कि 'नहीं'। क्योंकि यज्ञ-चक्र के बिना इस जगत् के व्यवहार जारी नहीं रह सकते। अधिक क्या कहें, जगत् के धारण-पोषण के लिये ब्रह्मा ने इस चक्र को प्रथम उत्पन्न किया है; और जबकि जगत् की सुस्थिति या संग्रह ही भगवान् को इष्ट है, तब इस यज्ञ-चक्र को कोई भी नहीं छोड़ सकता। अब यही अर्थ अगले श्लोक में बतलाया गया है। इस प्रकरण में, पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि 'यज्ञ' शब्द यहाँ केवल श्रौत यज्ञ के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, किन्तु उसमें स्मार्त यज्ञों का तथा चातुर्वर्ण्य आदि के यथाधिकार सब व्यावहारिक कर्मों का समावेश है।]

(१०) प्रारम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (उनसे) कहा, "इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो; यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह तुम्हारे इच्छित फलों को देनेवाला होवे। (११) तुम इस से देवताओं को संतुष्ट करते रहो, (और) वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो"। (१२) क्योंकि, यज्ञ से संतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब)

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न दे कर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है ।

[जब ब्रह्मा ने इस सृष्टि अर्थात् देव आदि सब लोगों को उत्पन्न किया, तब उसे चिंता हुई कि इन लोगों का धारण-पोषण कैसे होगा। महाभारत के नारायणीय धर्म में वर्णन है, कि ब्रह्मा ने इसके बाद हजार वर्ष तक तप करके भगवान् को संतुष्ट किया; तब भगवान् ने सब लोगों के निर्वाह के लिये प्रवृत्ति-प्रधान यज्ञ-चक्र उत्पन्न किया और देवता तथा मनुष्य दोनों से कहा, कि इस प्रकार बर्ताव करके एक दूसरे की रक्षा करो। उक्त श्लोक में इसी कथा का कुछ शब्द-भेद से अनुवाद किया गया है (देखो मभा. शां. ३४०. ३८ से ६२)। इससे यह सिद्धान्त और भी अधिक दृढ़ हो जाता है, कि प्रवृत्ति-प्रधान भागवतधर्म के तत्त्व का ही गीता में प्रतिपादन किया गया है। परन्तु भागवत-धर्म में यज्ञों में की जानेवाली हिंसा गर्ह्य मानी गई है (देखो. मभा. शां. ३३६ और ३३७), इसलिये पशुयज्ञ के स्थान में प्रथम द्रव्यमय यज्ञ शुरू हुआ और अंत में यह मत प्रचलित हो गया कि जपमय यज्ञ अथवा ज्ञानमय यज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है (गी. ४. २३–३३)। यज्ञ शब्द से मतलब चातुर्वर्ण्य के सब कर्मों से है; और यह बात स्पष्ट है, कि समाज का उचित रीति से धारण-पोषण होने के लिये इस यज्ञ-कर्म या यज्ञ-चक्र को अच्छी तरह जारी रखना चाहिये (देखो मनु. १. ८७)। अधिक क्या कहें; यह यज्ञ-चक्र आगे बीसवें श्लोक में वर्णित लोकसंग्रह का ही एक स्वरूप है (देखो. गीतार. प्र. ११)। इसी लिये स्मृतियों में भी लिखा है, कि देवलोग और मनुष्यलोग दोनों के संग्रहार्थ भगवान् ने ही प्रथम जिस लोकसंग्रहकारक कर्म को निर्माण किया है, उसे आगे अच्छी तरह प्रचलित रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है; और यही अर्थ अब अगले श्लोक में स्पष्ट रीति से बतलाया गया है—]

(१३) यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिये जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापी लोग पाप भक्षण करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

[ऋग्वेद के १०. ११७. ६ मंत्र में भी यही अर्थ है । उसमें कहा है कि " नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी "–अर्थात् जो मनुष्य अर्यमा या सखा का पोषण नहीं करता, अकेला ही भोजन करता है, उसे केवल पापी समझना चाहिये । इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा है कि " अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ " (३. ११८)–अर्थात् जो मनुष्य अपने लिये ही (अन्न) पकाता है वह केवल पाप भक्षण करता है । यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है उसे ' अमृत ' और दूसरों के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है (भुक्तशेष) उसे ' विघस ' कहते हैं (मनु.३.२८५) । और, भले मनुष्यों के लिये यही अन्न विहित कहा गया है (देखो गी.४.३१) । अब इस बात का और भी स्पष्टीकरण करते हैं कि यज्ञ आदि कर्म न तो केवल तिल और चावलों को आग में झोंकने के लिये ही हैं और न स्वर्ग-प्राप्ति के लिये ही; वरन् जगत् का धारण-पोषण होने के लिये उनकी बहुत आवश्यकता है, अर्थात् यज्ञ पर ही सारा जगत् अवलम्बित है—]

(१४) प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है; और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है ।

[मनुस्मृति में भी मनुष्य की और उसके धारण के लिये आवश्यक अन्न की उत्पत्ति के विषय में इसी प्रकार का वर्णन है । मनु के श्लोक का भाव यह है "यज्ञ की आग में दी हुई आहुति सूर्य को मिलती है और फिर सूर्य से (अर्थात् परम्परा द्वारा यज्ञ से ही) पर्जन्य उपजता है, पर्जन्य से अन्न, और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है " (मनु.३.७६)। यही श्लोक महाभारत में भी है (देखो मभा. शां. २६२. ११)। तैत्तिरीय उपनिषद् (२.१) में यह पूर्वपरम्परा इससे भी पीछे हटा दी गई है और ऐसा क्रम दिया गया है—" प्रथम परमात्मा से आकाश हुआ और फिर क्रम से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई; पृथ्वी से ओषधि, ओषधि से अन्न, और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ । ", अतएव इस परम्परा के अनुसार, प्राणिमात्र की कर्मपर्यन्त बतलाई हुई पूर्वपरम्परा को, अब कर्म के पहले प्रकृति और प्रकृति के पहले ठेठ अक्षर-ब्रह्म पर्यन्त पहुँचा कर, पूरी करते हैं–]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

(१५) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है, और यह ब्रह्म अक्षर से अर्थात् परमेश्वर से हुआ है। इसलिये (यह समझो कि) सर्वगत ब्रह्म ही यज्ञ में सदा अधिष्ठित रहता है।

[कोई कोई इस श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'प्रकृति' नहीं समझते, वे कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'वेद' है। परन्तु 'ब्रह्म' शब्द का 'वेद' अर्थ करने से यद्यपि इस वाक्य में आपत्ति नहीं हुई कि "ब्रह्म अर्थात् 'वेद' परमेश्वर से हुए हैं;" तथापि वैसा अर्थ करने से "सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में है" इसका अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। इसलिये "मम योनिर्महत् ब्रह्म" (गी. १४.३) श्लोक में "ब्रह्म" पद का जो प्रकृति अर्थ है, उसके अनुसार रामानुज-भाष्य में यह अर्थ किया गया है, कि इस स्थान में भी 'ब्रह्म' शब्द से जगत् की मूल प्रकृति विवक्षित है; और वही अर्थ हमें भी ठीक मालूम होता है। इसके सिवा महाभारत के शान्तिपर्व में, यज्ञप्रकरण में यह वर्णन है कि "अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत्सदा" (शां. २६७. ३४)—अर्थात् यज्ञ के पीछे जगत् है और जगत् के पीछे पीछे यज्ञ है। ब्रह्म का अर्थ 'प्रकृति' करने से इस वर्णन का भी प्रस्तुत श्लोक से मेल हो जाता है, क्योंकि जगत् ही प्रकृति है। गीतारहस्य के सातवें और आठवें प्रकरण में यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई गई है, कि परमेश्वर से प्रकृति और त्रिगुणात्मक प्रकृति से जगत् के सब कर्म कैसे निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पुरुषसूक्त में भी यह वर्णन है, कि देवताओं ने प्रथम यज्ञ करके ही सृष्टि को निर्माण किया है!]

(१६) हे पार्थ! इस प्रकार (जगत् के धारणार्थ) चलाये हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता, उसकी आयु पापरूप है; उस इन्द्रियलम्पट का (अर्थात् देवताओं को न दे कर, स्वयं उपभोग करनेवाले का) जीवन व्यर्थ है।

[स्वयं ब्रह्मा ने ही—मनुष्यों ने नहीं—लोगों के धारण-पोषण के लिये यज्ञमय कर्म या चातुर्वर्ण्य-वृत्ति उत्पन्न की है। इस सृष्टि का क्रम चलते रहने के लिये (श्लोक १४) और साथ ही साथ अपना निर्वाह होने के लिये (श्लोक ८),

§§ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

इन दोनों कारणों से, इस वृत्ति की आवश्यकता है; इससे सिद्ध होता है, कि यज्ञचक्र को अनासक्त बुद्धि से जगत् में सदा चलाते जाना चाहिये। अब यह बात मालूम हो चुकी, कि मीमांसकों का या त्रयीधर्म का कर्मकाण्ड (यज्ञ-चक्र) गीता-धर्म में अनासक्त बुद्धि की युक्ति से कैसे स्थिर रखा गया है (देखो गीतार. प्र. ११.पृ.३४५–३४६)। कई संन्यास-मार्गवाले वेदान्ती इस विषय में शङ्का करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुष को जब यहाँ मोक्ष प्राप्त हो जाता है और उसे जो कुछ प्राप्त करना होता है,वह सब उसे यहीं मिल जाता है,तब उसे कुछ भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं है-और उसको कर्म करना भी न चाहिये। इस का उत्तर अगले तीन श्लोकों में दिया जाता है।]

(१७) परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है, उसके लिये (स्वयं अपना) कुछ भी कार्य (शेष) नहीं रह जाता; (१८) इसी प्रकार यहाँ अर्थात्, इस जगत् में (कोई काम) करने से या न करने से भी उसका लाभ नहीं होता; और सब प्राणियों में उसका कुछ भी (निजी) मतलब अटका नहीं रहता। (१९) तस्मात् अर्थात् जब ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कोई भी अपेक्षा नहीं रखता तब, तू भी (फल की) आसक्ति छोड़ कर अपना कर्त्तव्यकर्म सदैव किया कर; क्योंकि आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है।

[१७ से १९ तक के श्लोकों का टीकाकारों ने बहुत विपर्यास कर डाला है, इसलिये हम पहले उनका सरल भावार्थ ही बतलाते हैं। तीनों श्लोक मिल कर हेतु-अनुमान-युक्त एक ही वाक्य है। इनमें से १७ वें और १८ वें श्लोकों में पहले उन कारणों का उल्लेख किया गया है, कि जो साधारण रीति से ज्ञानी पुरुष के कर्म न करने के विषय में बतलाये जाते हैं; और इन्हीं कारणों से गीता ने जो अनुमान निकाला है वह १९ वें श्लोक में कारण-बोधक 'तस्मात्' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है। इस जगत् में सोना, बैठना, उठना या जिन्दा

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

रहना आदि सब कर्मों को, कोई छोड़ने की इच्छा करे, तो वे छूट नहीं सकते। अतः इस अध्याय के आरम्भ में चौथे और पाँचवें श्लोकों में स्पष्ट कह दिया गया है, कि कर्म को छोड़ देने से न तो नैष्कर्म्य होता है और न वह सिद्धि प्राप्त करने का उपाय ही है। परन्तु इस पर संन्यास-मार्गवालों की यह दलील है, कि "हम कुछ सिद्धि प्राप्त करने के लिये कर्म करना नहीं छोड़ते हैं। प्रत्येक मनुष्य इस जगत् में जो कुछ करता है; वह अपने या पराये लाभ के लिये ही करता है; किन्तु मनुष्य का स्वकीय परमसाध्य सिद्धावस्था अथवा मोक्ष है और वह ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञान से प्राप्त हुआ करता है, इसलिये उसको ज्ञान-प्राप्ति हो जाने पर कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं रहता (श्लोक १७)। ऐसी अवस्था में, चाहे वह कर्म करे या न करे—उसे दोनों बातें समान हैं। अच्छा; यदि कहें कि उसे लोकोपयोगार्थ कर्म करना चाहिये, तो उसे लोगों से भी कुछ लेना-देना नहीं (श्लोक १८)। फिर वह कर्म करे ही क्यों"? इसका उत्तर गीता यों देती है कि, जब कर्म करना और न करना तुम्हें दोनों एक से हैं, तब कर्म न करने का ही इतना हठ तुम्हें क्यों है? जो कुछ शास्त्र के अनुसार प्राप्त होता जाय, उसे आग्रह-विहीन बुद्धि से करके छुट्टी पा जाओ। इस जगत् में कर्म किसी से भी छूटते नहीं हैं, फिर चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी। अब देखने में तो यह बड़ी जटिल समस्या जान पड़ती है, कि कर्म तो छूटने से रहे और ज्ञानी पुरुष को स्वयं अपने लिये उनकी आवश्यकता नहीं! परन्तु गीता को यह समस्या कुछ कठिन नहीं जँचती। गीता का कथन यह है, कि जब कर्म छूटता है ही नहीं, तब उसे करना ही चाहिये। किन्तु अब स्वार्थबुद्धि न रहने से उसे निःस्वार्थ अर्थात् निष्काम बुद्धि से किया करो। १६ वें श्लोक में 'तस्मात्' पद का प्रयोग करके यही उपदेश अर्जुन को किया गया है; एवं इसकी पुष्टि में आगे २२ वें श्लोक में यह दृष्टान्त दिया गया है, कि सब से श्रेष्ठ ज्ञानी भगवान् स्वयं अपना कुछ भी कर्त्तव्य न होने पर भी, कर्म ही करते हैं। सारांश, संन्यास-मार्ग के लोग ज्ञानी पुरुष की जिस स्थिति का वर्णन करते हैं, उसे ठीक मान लें तो गीता का यह वक्तव्य है, कि उसी स्थिति से कर्मसंन्यास-पक्ष सिद्ध होने के बदले, सदा निष्काम कर्म करते रहने का पक्ष ही और भी दृढ़ हो जाता है। परन्तु संन्यासमार्गवाले टीकाकारों को कर्मयोग की उक्त युक्ति और सिद्धान्त

§§ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

(श्लो.७,८,९) मान्य नहीं है; इसलिये वे उक्त कार्य-कारण-भाव को अथवा समूचे अर्थ-प्रवाह को, या आगे बतलाये हुए भगवान् के दृष्टान्त को भी नहीं मानते (श्लो.२२,२५ और ३०)। उन्होंने तीनों श्लोकों को तोड़ मरोड़ कर स्वतन्त्र मान लिया है; और इनमें से पहले दो श्लोकों में जो यह निर्देश है कि "ज्ञानी पुरुष को स्वयं अपना कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता," इसी को गीता का अन्तिम सिद्धान्त मान कर इसी आधार पर यह प्रतिपादन किया है, कि भगवान् ज्ञानी पुरुष से कहते हैं कि कर्म छोड़ दे! परन्तु ऐसा करने से तीसरे अर्थात् १९ वें श्लोक में अर्जुन को जो लगे हाथ यह उपदेश किया है कि "आसक्ति छोड़ कर, कर्म कर" यह अलग हुआ जाता है और इसकी उपपत्ति भी नहीं लगती। इस पेंच से बचने के लिये इन टीकाकारों ने यह अर्थ करके अपना समाधान कर लिया है कि, अर्जुन को कर्म करने का उपदेश तो इसलिये किया है कि वह अज्ञानी था! परन्तु इतनी माथापच्ची करने पर भी १९ वें श्लोक का 'तस्मात्' पद निरर्थक ही रह जाता है; और संन्यासमार्गवालों का किया हुआ यह अर्थ इसी अध्याय के पूर्वापर सन्दर्भ से भी विरुद्ध होता है, एवं गीता के अन्यान्य स्थलों के इस उल्लेख से भी विरुद्ध हो जाता है, कि ज्ञानी पुरुष को भी आसक्ति छोड़ कर कर्म करना चाहिये; तथा आगे भगवान् ने जो अपना दृष्टान्त दिया है, उससे भी यह अर्थ विरुद्ध हो जाता है (देखो गी. २.४७; ३.७,२५; ४.२३; ६.१; १८.६–९; और गी. र. प्र. ११ पृ. ३२१–३२४)। इसके सिवा एक बात और भी है; वह यह कि, इस अध्याय में उस कर्मयोग का विवेचन चल रहा है, कि जिसके कारण कर्म करने पर भी वे बन्धक नहीं होते (गी. २.३९); इस विवेचन के बीच में ही यह बे-सिर-पैर की सी बात कोई भी समझदार मनुष्य न कहेगा कि "कर्म छोड़ना उत्तम है"। फिर भला भगवान् यह बात क्यों कहने लगे? अतएव निरे साम्प्रदायिक आग्रह के और खींचातानी के ये अर्थ माने नहीं जा सकते। योगवासिष्ठ में लिखा है, कि जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिये और जब राम ने पूछा—'मुझे बतलाइये कि मुक्त पुरुष कर्म क्यों करें' तब वसिष्ठ ने उत्तर दिया है—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

"ज्ञ अर्थात् ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई लाभ नहीं उठाना होता, अतएव वह जो जैसा प्राप्त हो जाय, उसे वैसा किया करता है" (योग. ६. उ. १९९.४)। इसी ग्रन्थ के अन्त में, उपसंहार में फिर गीता के ही शब्दों में पहले कारण दिखलाया है—

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः॥

"किसी बात का करना या न करना मुझे एक सा ही है;" और दूसरी ही पंक्ति में कहा है कि जब दोनों बातें एक ही सी हैं, तब फिर "कर्म न करने का आग्रह ही क्यों है? जो जो शास्त्र की रीति से प्राप्त होता जाय उसे मैं करता रहता हूँ" (यो. ६. उ. २१६. १४)। इसी प्रकार इसके पहले, योगवासिष्ठ में "नैव तस्य कृतेनार्थो०" आदि गीता का श्लोक ही शब्दशः लिया गया है, और आगे के श्लोक में कहा है कि "यद्यथा नाम सम्पन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्"—जो प्राप्त हो उसे ही (जीवन्मुक्त) किया करता है, और कुछ प्रतीक्षा करता हुआ नहीं बैठता (यो. ६. उ. १२५.४९. ५०)। योगवासिष्ठ में ही नहीं, किन्तु गणेशगीता में भी इसी अर्थ के प्रतिपादन में यह श्लोक आया है—

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा।
अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः॥

"उसका अन्य प्राणियों में कोई साध्य (प्रयोजन) शेष नहीं रहता, अतएव हे राजन्! लोगों को अपने अपने कर्त्तव्य असक्त बुद्धि से करते रहना चाहिये" (गणेश-गीता २. १८)। इन सब उदाहरणों पर ध्यान देने से ज्ञात होगा, कि यहाँ पर गीता के तीनों श्लोकों का जो कार्य-कारण-सम्बन्ध हमने ऊपर दिखलाया है, वही ठीक है। और, गीता के तीनों श्लोकों का पूरा अर्थ योगवासिष्ठ के एक ही श्लोक में आ गया है, अतएव उसके कार्य-कारण-भाव के विषय में शंका करने के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। गीता की इन्हीं युक्तियों को महायानपन्थ के बौद्ध ग्रन्थकारों ने भी पीछे से ले लिया है (देखो गी. र. पृ. ५६८-५६९ और ५८३)। ऊपर जो यह कहा गया है; कि स्वार्थ न रहने के कारण से ही ज्ञानी पुरुष को अपना कर्त्तव्य निष्काम बुद्धि से करना चाहिये, और इस प्रकार से किये हुए

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

निष्काम कर्म का मोक्ष में बाधक होना तो दूर रहा, उसी से सिद्धि मिलती है—इसी की पुष्टि के लिये अब दृष्टान्त देते हैं—]

(२०) जनक आदि ने भी इस प्रकार कर्म से ही सिद्धि पाई है। इसी प्रकार लोक-संग्रह पर भी दृष्टि दे कर तुझे कर्म करना ही उचित है।

[पहले चरण में इस बात का उदाहरण दिया है, कि निष्काम कर्मों से सिद्धि मिलती है और दूसरे चरण से भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ कर दिया है। यह तो सिद्ध किया, कि ज्ञानी पुरुषों का लोगों में कुछ अटका नहीं रहता; तो भी जब उनके कर्म छूट ही नहीं सकते तब तो उन्हें निष्काम कर्म ही करना चाहिये। परन्तु, यद्यपि यह युक्ति नियमसङ्गत है, कि कर्म जब छूट नहीं सकते हैं तब उन्हें करना ही चाहिये; तथापि सिर्फ़ इसी से साधारण मनुष्यों का पूरा पूरा विश्वास नहीं हो जाता। मन में शंका होती है कि, क्या कर्म टाले नहीं टलते हैं इसी लिये उन्हें करना चाहिये, उसमें और कोई साध्य नहीं है ? अतएव इस श्लोक के दूसरे चरण में यह दिखलाने का आरम्भ कर दिया है, कि इस जगत् में अपने कर्म से लोकसंग्रह करना ज्ञानी पुरुष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष साध्य है। "लोकसंग्रहमेवापि" के 'एवापि' पद का यही तात्पर्य है, और इससे स्पष्ट होता है कि अब भिन्न रीति के प्रतिपादन का आरम्भ होगया है। 'लोकसंग्रह' शब्द में 'लोक' का अर्थ व्यापक है; अतः इस शब्द में न केवल मनुष्यजाति को ही, वरन् सारे जगत् को सन्मार्ग पर लाकर, उसको नाश से बचाते हुए संग्रह करना, अर्थात् भली भाँति धारण, पोषण-पालन या बचाव करना इत्यादि सभी बातों का समावेश हो जाता है। गीता-रहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३२८–३३६) में इन सब बातों का विस्तृत विचार किया गया है, इसलिये हम यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। अब पहले यह बतलाते हैं, कि लोकसंग्रह करने का यह कर्तव्य या अधिकार ज्ञानी पुरुष का ही क्यों है—]

(२१) श्रेष्ठ (अर्थात् आत्मज्ञानी कर्मयोगी) पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य अर्थात् साधारण मनुष्य भी किया करते हैं। वह जिसे प्रमाण मान कर अंगीकार करता है लोग उसी का अनुकरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

[तैत्तिरीय उपनिषद् में भी पहले 'सत्यं वद,' 'धर्मं चर' इत्यादि उपदेश किया है और फिर अन्त में कहा है कि "जब संसार में तुम्हें सन्देह हो कि यहाँ कैसा बर्ताव करें, तब वैसा ही बर्ताव करो कि जैसा ज्ञानी, युक्त और धर्मिष्ठ ब्राह्मण करते हों" (तै. १.११.४)। इसी अर्थ का एक श्लोक नारायणीय धर्म में भी है (मभा. शां. ३४१. २५); और इसी आशय का मराठी में एक श्लोक है जो इसी का अनुवाद है और जिसका सार यह है "लोककल्याणकारी मनुष्य जैसे बर्ताव करता है वैसे ही, इस संसार में, सब लोग भी किया करते हैं।" यही भाव इस प्रकार प्रगट किया जा सकता है—"देख भलों की चाल को वर्ते सब संसार।" यही लोककल्याणकारी पुरुष गीता का 'श्रेष्ठ' कर्मयोगी है। श्रेष्ठ शब्द का अर्थ 'आत्मज्ञानी संन्यासी' नहीं है (देखो गी. ५. २)। अब भगवान् स्वयं अपना उदाहरण दे कर इसी अर्थ को और भी दृढ़ करते हैं, कि आत्मज्ञानी पुरुष की स्वार्थबुद्धि छूट जाने पर भी, लोककल्याण के कर्म उससे छूट नहीं जाते—]

(२२) हे पार्थ! (देखो कि,) त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ भी कर्त्तव्य (शेष) रहा है, (और) न कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को रह गई है; तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। (२३) क्योंकि जो मैं कदाचित् आलस्य छोड़ कर कर्मों में न वर्तूंगा तो हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुकरण करेंगे। (२४) जो मैं कर्म न करूं तो ये सारे लोक उत्सन्न अर्थात् नष्ट हो जावेंगे, मैं सङ्करकर्ता होऊंगा और इन प्रजाजनों का मेरे हाथ से नाश होगा।

[भगवान् ने अपना उदाहरण दे कर इस श्लोक में भली भाँति स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि लोकसंग्रह कुछ पाखण्ड नहीं है। इसी प्रकार हमने ऊपर १७ से १९ वें श्लोक तक का जो यह अर्थ किया है कि, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ

§§ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

कर्त्तव्य भले न रह गया हो, फिर भी ज्ञाता को निष्काम बुद्धि से सारे कर्म करते रहना चाहिये; वह भी स्वयं भगवान् के इस दृष्टान्त से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो यह दृष्टान्त भी निरर्थक हो जायगा (देखो गी.र.पृ.३२२–३२३)। सांख्यमार्ग और कर्ममार्ग में यह बड़ा भारी भेद है, कि सांख्यमार्ग के ज्ञानी पुरुष सारे कर्म छोड़ बैठते हैं, फिर चाहे इस कर्म-त्याग से यज्ञ-चक्र डूब जाय और जगत् का कुछ भी हुआ करे—उन्हें इसकी कुछ परवा नहीं होती; और कर्ममार्ग के ज्ञानी पुरुष, स्वयं अपने लिये आवश्यक न भी हो तो भी, लोकसंग्रह को महत्त्वपूर्ण आवश्यक साध्य समझ कर, तदर्थ अपने धर्म के अनुसार सारे काम किया करते हैं (देखो गीतारहस्य प्रकरण ११. पृ.३५२–३५५)। यह बतला दिया गया कि, स्वयं भगवान् क्या हैं। अब ज्ञानियों और अज्ञानियों के कर्मों का भेद दिखला कर बतलाते हैं, कि अज्ञानियों को सुधारने के लिये ज्ञाता का आवश्यक कर्तव्य क्या है—]

(२५) हे अर्जुन! लोकसंग्रह करने की इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति छोड़ कर उसी प्रकार वर्तना चाहिये, जिस प्रकार कि (व्यावहारिक) कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग वर्ताव करते हैं। (२६) कर्म में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में ज्ञानी पुरुष भेद-भाव उत्पन्न न करे; (आप स्वयं) युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर सभी काम करे और लोगों से खुशी से करावे।

[इस श्लोक का यह अर्थ है, कि अज्ञानियों की बुद्धि में भेद-भाव उत्पन्न न करें और आगे चल कर २९ वें श्लोक में भी यही बात फिर से कही गई है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि लोगों को अज्ञान में बनाये रखे। २५ वें श्लोक में कहा है, कि ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह करना चाहिये, और लोकसंग्रह का अर्थ ही लोगों को चतुर बनाना है। इस पर कोई शङ्का करे कि, जो लोकसंग्रह ही करना हो, तो फिर यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं कर्म करे; लोगों को समझा देने—ज्ञान का उपदेश कर देने—से ही काम चल जाता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

इसका भगवान् यह उत्तर देते हैं, कि जिनको सदाचरण का दृढ़ अभ्यास हो नहीं गया है, (और साधारण लोग ऐसे ही होते हैं) उनको यदि केवल मुंह से उपदेश किया जाय—सिर्फ ज्ञान बतला दिया जाय—तो वे अपने अनुचित बर्ताव के समर्थन में ही इस ब्रह्मज्ञान का दुरुपयोग किया करते हैं; और वे उलटे, ऐसी व्यर्थ बातें कहते-सुनते सदैव देखे जाते हैं, कि " अमुक ज्ञानी पुरुष तो ऐसा कहता है "। इसी प्रकार यदि ज्ञानी पुरुष कर्मों को एकाएक छोड़ बैठे, तो वह अज्ञानी लोगों को निरुपयोगी बनाने के लिये एक उदाहरण ही बन जाता है। मनुष्य का उस प्रकार बातूनी, गोच-पेंच लडानेवाला अथवा निरुपयोगी हो जाना ही बुद्धि-भेद है; और मनुष्य की बुद्धि में इस प्रकार से भेद-भाव उत्पन्न कर देना ज्ञाता पुरुष को उचित नहीं है। अतएव गीता ने यह सिद्धान्त किया है, कि जो पुरुष ज्ञानी हो जाय, वह लोक-संग्रह के लिये—लोगों को चतुर और सदाचरणी बनाने के लिये—स्वयं संसार में रह कर निष्काम कर्म अर्थात् सदाचरण का प्रत्यक्ष नमूना लोगों को दिखलावे और तदनुसार उनसे आचरण करावे। इस जगत् में उसका यही बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है (देखो गीतार. पृ.४०१)। किन्तु गीता के इस अभिप्राय को बे-समझे-बूझे कुछ टीकाकार इस का यों विपरीत अर्थ किया करते हैं कि "ज्ञानी पुरुष को अज्ञानियों के समान ही कर्म करने का स्वाँग इसलिये करना चाहिये, जिसमें कि अज्ञानी लोग नादान बने रह कर ही अपने कर्म करते रहें!" मानों दम्भाचरण सिखलाने अथवा लोगों को अज्ञानी बने रहने दे कर जानवरों के समान उनसे कर्म करा लेने के लिये ही गीता प्रवृत्त हुई है! जिनका यह दृढ़ निश्चय है कि ज्ञानी पुरुष कर्म न करे, सम्भव है कि उन्हें लोकसंग्रह एक ढोंग सा प्रतीत हो; परन्तु गीता का वास्तविक अभिप्राय ऐसा नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी पुरुष के कामों में लोकसंग्रह एक महत्त्वपूर्ण काम है; और ज्ञानी पुरुष अपने उत्तम आदर्श के द्वारा उन्हें सुधारने के लिये—नादान बनाये रखने के लिये नहीं—कर्म ही किया करे (देखो गीतारहस्य प्र. ११.१२)। अब यह शङ्का हो सकती है, कि यदि आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार लोकसंग्रह के लिये सांसारिक कर्म करने लगे, तो वह भी अज्ञानी ही बन जायगा; अतएव स्पष्ट कर बतलाते हैं, कि यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही संसारी बन जायँ, तथापि इन दोनों के बर्ताव में भेद क्या है और

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

[ज्ञानवान् से अज्ञानी को किस बात की शिक्षा लेनी चाहिये—]

(२७) प्रकृति के (सत्त्व-रज-तम) गुणों से सब प्रकार कर्म हुआ करते हैं; पर अहङ्कार से मोहित (अज्ञानी पुरुष) समझता है कि मैं कर्ता हूँ; (२८) परन्तु हे महाबाहु अर्जुन ! "गुण और कर्म दोनों ही मुझ से भिन्न हैं" इस तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी पुरुष), यह समझ कर इनमें आसक्त नहीं होता, कि गुणों का यह खेल आपस में हो रहा है । (२९) प्रकृति के गुणों से बहके हुए लोग गुण और कर्मों में ही आसक्त रहते हैं; इन असर्वज्ञ और मन्द जनों को सर्वज्ञ पुरुष (अपने कर्मत्याग से किसी अनुचित मार्ग में लगा कर) विचला न दे ।

[यहाँ २९ वें श्लोक के अर्थ का ही अनुवाद किया गया है । इस श्लोक में जो ये सिद्धान्त हैं, कि प्रकृति भिन्न है और आत्मा भिन्न है, प्रकृति अथवा माया ही सब कुछ करती है, आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है, जो इस तत्त्व को जान लेता है वही बुद्ध अथवा ज्ञानी हो जाता है, उसे कर्म का बन्धन नहीं होता इत्यादि—वे मूल में कापिल-सांख्यशास्त्र के हैं। गीतारहस्य के ७ वें प्रकरण (पृ.१६४-१६६) में इनका पूर्ण विवेचन किया गया है; उसे देखिये । २८ वें श्लोक का कुछ लोग यों अर्थ करते हैं, कि गुण यानी इंद्रियाँ गुणों में यानी विषयों में, बर्तती हैं। यह अर्थ कुछ शुद्ध नहीं है; क्योंकि सांख्य-शास्त्र के अनुसार ग्यारह इंद्रियाँ और शब्द-स्पर्श आदि पाँच विषय मूल-प्रकृति के २३ गुणों में से ही गुण हैं। परन्तु इससे अच्छा अर्थ तो यह है, कि प्रकृति के समस्त अर्थात् चौबीसो गुणों को लक्ष्य करके ही यह "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" का सिद्धान्त स्थिर किया गया है (देखो गी.१३.१९–२२; और १४.२३)। हमने उसका शब्दशः और व्यापक रीति से अनुवाद किया है । भगवान् ने यह बतलाया है, कि ज्ञानी और अज्ञानी एक ही कर्म करें तो भी उनमें बुद्धि की दृष्टि से बहुत बड़ा भेद रहता है (गीतार. पृ. ३१० और ३२८)। अब इस पूरे विवेचन के सार-रूप से यह उपदेश करते हैं—]

§§ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥
§§ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
§§ सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इंद्रियस्यैंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

(३०) (इसलिये हे अर्जुन !) मुझ में अध्यात्म बुद्धि से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके और (फल की) आशा एवं ममता छोड़ कर तू निश्चिन्त हो करके युद्ध कर !

[अब यह बतलाते हैं कि, इस उपदेश के अनुसार बर्ताव करने से क्या फल मिलता है और बर्ताव न करने से कैसी गति होती है—]

(३१) जो श्रद्धावान् (पुरुप) दोषों को न खोज कर मेरे इस मत के अनुसार नित्य बर्ताव करते हैं, वे भी कर्म से अर्थात् कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। (३२) परन्तु जो दोषदृष्टि से शंकाएँ करके मेरे इस मत के अनुसार नहीं बर्तते, उन सर्वज्ञान-विमूढ़ अर्थात् पक्के मूर्ख अविवेकियों को नष्ट हुए समझो ।

[कर्मयोग निष्काम बुद्धि से कर्म करने के लिये कहता है। उसकी श्रेयस्करता के सम्बन्ध में, ऊपर अन्वयव्यतिरेक से जो फलश्रुति बतलाई गई है, उससे पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, कि गीता में कौन सा विषय प्रतिपादन है। इसी कर्मयोग-निरूपण की पूर्ति के हेतु भगवान् प्रकृति की प्रबलता का और फिर उसे रोकने के लिये इन्द्रिय-निग्रह का वर्णन करते हैं—]

(३३) ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार बर्तता है। सभी प्राणी (अपनी-अपनी) प्रकृति के अनुसार रहते हैं, (वहाँ) निग्रह (जबर्दस्ती) क्या करेगा ? (३४) इन्द्रिय और उसके (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष (दोनों) व्यवस्थित हैं अर्थात् स्वभावतः निश्चित हैं। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिये (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं।

§§ श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

[तेतीसवें श्लोक के 'निग्रह' शब्द का अर्थ 'निरा संयमन' ही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ 'ज़बर्दस्ती' अथवा 'हठ' है। इन्द्रियों का योग्य संयमन तो गीता को इष्ट है, किन्तु यहाँ पर कहना यह है कि हठ से ज़बर्दस्ती से इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति को ही एकदम मार डालना सम्भव नहीं है। उदाहरण लीजिये, जब तक देह तब तक भूख-प्यास आदि धर्म, प्रकृतिसिद्ध होने के कारण, छूट नहीं सकते; मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, भूख लगते ही भिक्षा माँगने के लिये उसे बाहर निकलना पड़ता है, इसलिये चतुर पुरुषों का यही कर्त्तव्य है, कि ज़बर्दस्ती से इन्द्रियों को बिलकुल ही मार डालने का वृथा हठ न करें; और योग्य संयम के द्वारा उन्हें अपने वश में करके, उनकी स्वभावसिद्ध वृत्तियों का लोकसंग्रहार्थ उपयोग किया करें। इसी प्रकार ३४ वें श्लोक के 'व्यवस्थित' पद से प्रगट होता है, कि सुख और दुःख दोनों विकार स्वतन्त्र हैं; एक दूसरे का अभाव नहीं है (देखो गीतार प्र. ४ पृ. ६६ और ११३)। प्रकृति अर्थात् सृष्टि के अखण्डित व्यापार में कई बार हमें ऐसी बातें भी करनी पड़ती हैं, कि जो हमें स्वयं पसन्द नहीं (देखो गी. १८.५६); और यदि नहीं करते हैं,तो निर्वाह नहीं होता। ऐसे समय ज्ञानी पुरुष इन कर्मों को निरिच्छ बुद्धि से केवल कर्त्तव्य समझ कर करता जाता है, अतः पाप-पुण्य से अलिप्त रहता है; और अज्ञानी उसी में आसक्ति रख कर दुःख पाता है। भास कवि के वर्णनानुसार बुद्धि की दृष्टि से यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। परन्तु अब एक और शङ्का होती है, कि यद्यपि यह सिद्ध हो गया, कि इन्द्रियों को ज़बर्दस्ती मार कर कर्मत्याग न करे, किन्तु निःसङ्ग बुद्धि से सभी काम करता जावे; परन्तु यदि ज्ञानी पुरुष युद्ध के समान हिंसात्मक घोर कर्म करने की अपेक्षा खेती, व्यापार या भिक्षा माँगना आदि कोई निरुपद्रवी और सौम्य कर्म करे तो क्या अधिक प्रशस्त नहीं है? भगवान् इसका यह उत्तर देते हैं—]

(३५) पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है; (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म के अनुसार (बर्तने में) मृत्यु हो जावे तो भी उसमें कल्याण है, (परन्तु) परधर्म भयङ्कर होता है!

अर्जुन उवाच।

§ § अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

[स्वधर्म वह व्यवसाय है, कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रद्वारा नियत कर दिया गया है; स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है। सब लोगों के कल्याण के लिये ही गुण-कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को (गी. १८.४१) शास्त्र कारों ने प्रवृत्त कर दिया है। अतएव भगवान् कहते हैं, कि ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि ज्ञानी हो जाने पर भी अपना अपना व्यवसाय करते रहें, इसी में उनका और समाज का कल्याण है; इस व्यवस्था में वारवार गड़बड़ करना योग्य नहीं है (देखो गीतार. पृ. ३३४ और ४९५–४९६)। "तेली का काम तँबोली करे, दैव न मारे आपै मरे" इस प्रचलित लोकोक्ति का भावार्थ भी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का चलन नहीं है वहाँ भी,सब को यही श्रेयस्कर जँचेगा कि जिसने सारी जिन्दगी फ़ौजी मुहकमे में बिताई हो, उसे यदि फ़िर काम पड़े तो उसको सिपाही का पेशा ही सुभीते का होगा; न कि दर्ज़ी का रोज़गार; और यही न्याय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के लिये भी उपयोगी है। यह प्रश्न भिन्न है, कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भली है या बुरी; और वह यहाँ उपस्थित भी नहीं होता। यह बात तो निर्विवाद है, कि समाज का समुचित धारण-पोषण होने के लिये खेती के ऐसे निरुपद्रवी और सौम्य व्यवसाय की ही भाँति अन्यान्य कर्म भी आवश्यक हैं। अतएव जहाँ एक बार किसी उद्योग को अङ्गीकार किया—फिर चाहे उसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार स्वीकार करो या अपनी मर्ज़ी से—कि वह धर्म हो गया। फिर किसी विशेष अवसर पर उसमें मीन-मेख निकाल कर, अपना कर्त्तव्यकर्म छोड़ बैठना अच्छा नहीं है; आवश्यकता होने पर उसी व्यवसाय में ही मर जाना चाहिये। बस, यही इस श्लोक का भावार्थ है। कोई भी व्यापार या रोज़गार हो, उसमें कुछ न कुछ दोष सहज ही निकाला जा सकता है (देखो गी. १८.४८)। परन्तु इस नुक्ताचीनी के मारे अपना नियत कर्तव्य ही छोड़ देना, कुछ धर्म नहीं है। महाभारत के ब्राह्मण-व्याध-संवाद में और तुलाधार-जाजलि-संवाद में भी यही तत्त्व बतलाया गया है, एवं वहाँ के ३५ वें श्लोक का पूर्वार्ध मनुस्मृति (१०.९७) में और गीता (१८. ४७) में भी आया है। भगवान् ने ३३ वें श्लोक में कहा है कि " इन्द्रियों को मारने का हट नहीं चलता,"

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥
श्रीभगवानुवाच ।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।

इस पर अब अर्जुन ने पूछा है, कि इन्द्रियों को मारने का हठ क्यों नहीं चलता और मनुष्य अपनी मर्जी न होने पर भी बुरे कामों की ओर क्यों घसीटा जाता है।

अर्जुन ने कहा—(३६) हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण) ! अब (यह बतलाओ कि) मनुष्य अपनी इच्छा न रहने पर भी किस की प्ररणा से पाप करता है, मानों कोई जबरदस्ती सी करता हो। श्रीभगवान् ने कहा—(३७) इस विषय में यह समझो, कि रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला बड़ा पेटू और बड़ा पापी यह काम एवं यह क्रोध ही शत्रु है। (३८) जिस प्रकार धुएं से अग्नि, धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इससे यह सब ढका हुआ है। (३९) हे कौन्तेय! ज्ञाता का यह कामरूपी नित्यबैरी कभी भी तृप्त न होनेवाला अग्नि ही है; इसने ज्ञान को ढक रखा है।

[यह मनु के ही कथन का अनुवाद है; मनु ने कहा है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" (मनु २.९४)—काम के उपभोगों से काम कभी अघाता नहीं है, बल्कि ईंधन डालने पर अग्नि जैसा बढ़ जाता है, उसी प्रकार यह भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है (देखो गीतार. पृ. १०९)।]

(४०) इंद्रियों को, मन को, और बुद्धि को, इसका अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढक कर) यह मनुष्य को भुलावे में डाल देता है। (४१) अतएव हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इंद्रियों का संयम

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
§§ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

करके ज्ञान (अध्यात्म) और विज्ञान (विशेष ज्ञान) का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार डाल ।

(४२) कहा है कि (स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जाननेवाली) इन्द्रियाँ पर अर्थात् परे हैं, इन्द्रियों के परे मन है, मन से भी परे (व्यवसायात्मक) बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है। (४३) हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (जो) बुद्धि से परे है उसको पहचान कर और अपने आपको रोक करके दुरासाद्य कामरूपी शत्रू को तू मार डाल ।

[कामरूपी आसक्ति को छोड़ कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिये इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिये, वे अपने क़ाबू में रहें बस, यहाँ इतना ही इन्द्रिय-निग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है, कि इंद्रियों को ज़बर्दस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे (देखो गीतार. पृ. ११४)॥ गीतारहस्य (परि. पृ. ५२६) में दिखलाया गया है कि "इंद्रियाणि पराण्याहु०" इत्यादि ४२ वाँ श्लोक कठोपनिषद् का है और उपनिषद् के अन्य चार पाँच श्लोक भी गीता में लिये गये हैं । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का यह तात्पर्य है, कि बाह्य पदार्थों के संस्कार ग्रहण करना इंद्रियों का काम है, मन का काम इनकी व्यवस्था करना है, और फिर बुद्धि इनको अलग अलग छाँटती है, एवं आत्मा इन सब से परे है तथा सब से भिन्न है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्य के छटे प्रकरण के अन्त (पृ. १३१-१४८) में किया गया है । कर्म-विपाक के ऐसे ऐसे गूढ़ प्रश्नों का विचार, गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २२७-२८५) में किया गया है कि, अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य काम-क्रोध आदि प्रवृत्ति-धर्मों के कारण कोई काम करने में क्यों कर प्रवृत्त हो जाता है; और आत्मस्वतन्त्रता के कारण इंद्रिय-निग्रहरूप साधन के द्वारा इससे छुटकारा पाने

चतुर्थोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ २॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।

का मार्ग कैसे मिल जाता है। गीता के छठे अध्याय में विचार किया गया है, कि इन्द्रिय-निग्रह कैसे करना चाहिये।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय।

[कर्म किसी से छूटते नहीं हैं, इसलिये निष्काम बुद्धि हो जाने पर भी कर्म करना ही चाहिये; कर्म के मानी ही यज्ञ-याग आदि कर्म हैं; पर मीमांसकों के ये कर्म स्वर्गपद हैं अतएव एक प्रकार से बन्धक हैं, इस कारण इन्हें आसक्ति छोड़ करके करना चाहिये; ज्ञान से स्वार्थबुद्धि छूट जावे, तो भी कर्म छूटते नहीं हैं, अतएव ज्ञाता को भी निष्काम कर्म करना ही चाहिये; लोकसंग्रह के लिए यह आवश्यक है;—इत्यादि प्रकार से अब तक कर्मयोग का जो विवेचन किया गया, उसी को इस अध्याय में दृढ़ किया है। कहीं यह शङ्का न हो, कि आयुष्य बिताने का यह मार्ग अर्थात् निष्ठा अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये नई बतलाई गई है; एतदर्थ इस मार्ग की प्राचीन गुरु-परम्परा पहले बतलाते हैं–]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) अव्यय अर्थात् कभी भी क्षीण न होनेवाला अथवा त्रिकाल में भी अबाधित और नित्य यह (कर्म-)योग (मार्ग) मैं ने विवस्वान् अर्थात् सूर्य को बतलाया था; विवस्वान् ने (अपने पुत्र) मनु को और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया। (२) ऐसी परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षियों ने जाना। परन्तु हे शत्रुतापन (अर्जुन)! दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। (३)(सब रहस्यों में) उत्तम रहस्य समझ

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

कर इस पुरातन योग (कर्मयोगमार्ग) को, मैंने तुझे आज इसलिये बतला दिया, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

[गीतारहस्य के तीसरे प्रकरण (पृ. ५५-६४) में हम ने सिद्ध किया है, कि इन तीनों श्लोकों में 'योग' शब्द से, आयु बिताने के उन दोनों मार्गों में से कि जिन्हें सांख्य और योग कहते हैं, योग अर्थात् कर्मयोग यानी साम्यबुद्धि से कर्म करने का मार्ग ही अभिप्रेत है। गीता के उस मार्ग की परम्परा ऊपर के श्लोक में बतलाई गई है, वह यद्यपि इस मार्ग की जड़ को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्व की है, तथापि टीकाकारों ने उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में भागवतधर्म का जो निरूपण है उसमें जनमेजय से वैशम्पायन कहते हैं, कि यह धर्म पहले श्वेतद्वीप में भगवान् से ही—

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः।
एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप॥
एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

"नारद को प्राप्त हुआ, हे राजा! वही महान् धर्म तुझे पहले हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में समासविधि सहित बतलाया है"—(मभा. शां. ३४६. ९, १०)। और फिर कहा है, कि 'युद्ध में विमनस्क हुए अर्जुन को यह धर्म बतलाया गया है" (मभा. शां. ३४८. ८)। इससे प्रगट होता है, कि गीता का योग अर्थात् कर्मयोग भागवतधर्म का है (गीतार. पृ. ८-१०)। विस्तार हो जाने के भय से गीता में उसकी सम्प्रदाय-परम्परा सृष्टि के मूल आरम्भ से नहीं दी है; विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु इन्हीं तीनों का उल्लेख कर दिया है। परन्तु इसका सच्चा अर्थ नारायणीय धर्म की समस्त परंपरा देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। ब्रह्मा के कुल सात जन्म हैं। इनमें से पहले छः जन्मों की, नारायणीय धर्म में कथित, परम्परा का वर्णन हो चुकने पर, जब ब्रह्मा के सातवें, अर्थात् वर्तमान, जन्म का कृतयुग समाप्त हुआ, तब—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।

अर्जुन उवाच।

§§ अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायणं नृप ॥
यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

"त्रेतायुग के आरम्भ में विवस्वान् ने मनु को (यह धर्म) दिया, मनु ने लोकधारणार्थ यह अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया, और इक्ष्वाकु से आगे सब लोगों में फैल गया। हे राजा! सृष्टि का क्षय होने पर (यह धर्म) फिर नारायण के यहाँ चला जावेगा। यह धर्म और 'यतीनां चापि' अर्थात् इसके साथ ही संन्यासधर्म भी तुझ से पहले भगवद्गीता में कह दिया है"—ऐसा नारायणीय धर्म में ही वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा है (मभा. शां. ३४८.५१–५३)। इससे देख पड़ता है, कि जिस द्वापारयुग के अन्त में भारतीय युद्ध हुआ था, उससे पहले के त्रेतायुग भर की ही भागवतधर्म की परम्परा गीता में वर्णित है; विस्तारभय से अधिक वर्णन नहीं किया है। यह भागवतधर्म ही योग या कर्मयोग है; और मनु को इस कर्मयोग के उपदेश किये जाने की कथा, न केवल गीता में है, प्रत्युत भागवतपुराण (८. २४. ५५) में भी इस कथा का उल्लेख है, और मत्स्यपुराण के ५२ वें अध्याय में मनु को उपदिष्ट कर्मयोग का महत्त्व भी बतलाया गया है। परन्तु इनमें से कोई भी वर्णन नारायणीयोपाख्यान में किये गये वर्णन के समान पूर्ण नहीं है। विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा सांख्यमार्ग को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होती और सांख्य एवं योग दोनों के अतिरिक्त तीसरी निष्ठा गीता में वर्णित ही नहीं है, इस बात पर लक्ष देने से दूसरी रीति से भी सिद्ध होता है, कि यह परम्परा कर्मयोग की ही है (गी. २. ३९)। परन्तु सांख्य और योग दोनों निष्ठाओं की परंपरा यद्यपि एक न हो, तो भी कर्मयोग अर्थात् भागवतधर्म के निरूपण में ही सांख्य या संन्यासनिष्ठा के निरूपण का पर्याय से समावेश हो जाता है (गीतार. पृ. ४६७ देखो)। इस कारण वैशम्पायन ने कहा है, कि भगवद्गीता में यतिधर्म अर्थात् संन्यासधर्म भी वर्णित है। मनुस्मृति में चार आश्रम-धर्मों का जो वर्णन है, उसके छठे अध्याय में पहले यति अर्थात् संन्यास आश्रम का धर्म कह चुकने पर विकल्प से "वेदसंन्यासिकों का कर्मयोग" इस नाम से गीता या भागवतधर्म के

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

कर्मयोग का वर्णन है और स्पष्ट कहा है, कि "निःस्पृहता से अपना कार्य करते रहने से ही अन्त में परम सिद्धि मिलती है" (मनु. ६. ९६)। इससे स्पष्ट देख पड़ता है, कि कर्मयोग मनु को भी ग्राह्य था। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारों को भी यह मान्य था और इस विषय के अनेक प्रमाण गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण के अन्त (पृ. ३६१–३६५) में दिये गये हैं। अब अर्जुन को इस परम्परा पर यह शंका है कि—

अर्जुन ने कहा—(४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का इससे बहुत पहले हो चुका है; (ऐसी दशा में) मैं यह कैसे जानूँ कि तुमने (यह योग) पहले बतलाया?

[अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान् अपने अवतारों के कार्यों का वर्णन कर आसक्ति-विरहित कर्मयोग या भागवतधर्म का ही फिर समर्थन करते हैं कि "इस प्रकार मैं भी कर्मों को करता आ रहा हूँ"—]

श्रीभगवान् ने कहा –(५) हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। उन सब को मैं जानता हूँ (और) हे परन्तप! तू नहीं जानता (यही भेद है)। (६) मैं (सब) प्राणियों का स्वामी और जन्म-विरहित हूँ, यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप में कभी भी व्यय अर्थात् विकार नहीं होता तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ।

[इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिल-सांख्य और वेदान्त दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है। सांख्यमत-वालों का कथन है, कि प्रकृति आप ही स्वयं सृष्टि निर्माण करती है; परन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप समझ कर यह मानते हैं, कि प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है। अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत् को निर्माण करने की परमेश्वर की इस अचिन्त्य शक्ति को ही गीता में 'माया' कहा

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

है। और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" अर्थात् प्रकृति ही माया है और उस माया का अधिपति परमेश्वर है (श्वे. ४. १०), और 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्'—इससे माया का अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे. ४. ९)। प्रकृति को माया क्यों कहते हैं, इस माया का स्वरूप क्या है; और इस कथन का क्या अर्थ, कि माया से सृष्टि उत्पन्न होती है?—इत्यादि प्रश्नों का अधिक विवरण गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में किया गया है। यह बतला दिया कि, अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त कैसे होता है अर्थात् कर्म उपजा हुआ सा कैसे देख पड़ता है; अब इस बात का खुलासा करते हैं, कि यह ऐसा कब और किस लिये करता है—]

(७) हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि होती और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब (तब) मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। (८) साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिये, युग-युग में धर्म की संस्थापना के अर्थ मैं जन्म लिया करता हूँ।

[इन दोनों श्लोकों में 'धर्म' शब्द का अर्थ केवल पारलौकिक वैदिक धर्म नहीं है, किन्तु चारों वर्णों के धर्म, न्याय और नीति प्रभृति बातों का भी उसमें मुख्यता से समावेश होता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि जगत् में जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अँधाधुन्धी मच कर साधुओं को कष्ट होने लगता है और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किए हुए जगत् की सुस्थिति को स्थिर रख कर उसका कल्याण करने के लिये तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप से (गी. १०. ४१) अवतार ले कर, भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार ले कर भगवान् जो काम करते हैं, उसी को 'लोकसंग्रह' भी कहते हैं। पिछले अध्याय में कह दिया गया है, कि यही काम अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार आत्मज्ञानी पुरुषों को भी करना चाहिये (गी. ३. २०)। यह बतला दिया गया, कि परमेश्वर कब और किस लिये अवतार लेता है। अब यह बतलाते

§§ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥
§§ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हैं, कि इस तत्त्व को परख कर जो पुरुष तदनुसार बर्ताव करते हैं, उनको कौन सी गति मिलती है—]

(९) हे अर्जुन! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के तत्त्व को जो जानता है, वह देह त्यागने के पश्चात् फिर जन्म न ले कर मुझ से आ मिलता है। (१०) प्रीति, भय और क्रोध से छूटे हुए, मत्परायण और मेरे आश्रय में आये हुए, अनेक लोग (इस प्रकार) ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे स्वरूप में आकर मिल गये हैं।

[भगवान् के दिव्य जन्म को समझने के लिये यह जानना पड़ता है, कि अव्यक्त परमेश्वर माया से सगुण कैसे होता है; और इसके जान लेने से अध्यात्म-ज्ञान हो जाता है एवं दिव्य कर्म को जान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का, अर्थात् निष्काम कर्म के तत्त्व का, ज्ञान हो जाता है। सारांश, परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा पूरा जान लें तो अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी पूरी पहचान हो जाती है; और मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसकी आवश्यकता होने के कारण, ऐसे मनुष्य को अन्त में भगवत्प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अर्थात् भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब कुछ आ गया; फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता। अतएव वक्तव्य यह है, कि भगवान् के जन्म और कृत्य का विचार करो, एवँ उसके तत्त्व को परख कर बर्ताव करो, भगवत्प्राप्ति होने के लिये दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है। भगवान् की यही सच्ची उपासना है। अब इसकी अपेक्षा नीचे के दर्जे की उपासनाओं के फल और उपयोग बतलाते हैं—]

(११) जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार के फल देता हूँ। हे पार्थ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं।

['मम वर्त्मानुवर्तन्ते' इत्यादि उत्तरार्ध पहले (३. २३) कुछ निराले अर्थ में आया है, और इससे ध्यान में आवेगा, कि गीता में पूर्वापर सन्दर्भ के अनु-

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥
§§ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

सारअर्थ कैसे बदल जाता है । यद्यपि यह सच है, कि किसी मार्ग से जाने पर भी मनुष्य परमेश्वर की ही ओर जाता है, तो भी यह जानना चाहिये कि अनेक लोग अनेक मार्गों से क्यों जाते हैं ? अब इसका कारण बतलाते हैं—]

(१२) (कर्मबन्धन के नाश की नहीं, केवल) कर्मफल की इच्छा करनेवाले लोग इस लोक में देवताओं की पूजा इसलिये किया करते हैं, कि (ये) कर्मफल (इसी मनुष्यलोक में शीघ्र ही मिल जाते हैं ।

[यही विचार सातवें अध्याय (२१,२२) में फिर आये हैं । परमेश्वर की आराधना का सच्चा फल है मोक्ष, परन्तु वह तभी प्राप्त होता है कि जब कालान्तर से एवं दीर्घ और एकान्त उपासना से कर्मबन्ध का पूर्ण नाश हो जाता है; परन्तु, इतने दूरदर्शी और दीर्घ-उद्योगी पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं । इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि बहुतेरों को तो अपने उद्योग अर्थात् कर्म से इसी लोक में कुछ न कुछ प्राप्त करना होता है, और ऐसे ही लोग देवताओं की पूजा किया करते हैं (गीतार.पृ० ४२२ देखो)। गीता का यह भी कथन है, कि पर्याय से यह भी तो परमेश्वर का ही पूजन होता है, और बढ़ते बढ़ते इस योग का पर्यवसान निष्काम भक्ति में होकर अन्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है (गी.७.१६)। पहले कह चुके हैं, कि धर्म की संस्थापना करने के लिये परमेश्वर अवतार लेता है, अब संक्षेप में बतलाते हैं, कि धर्म की संस्थापना करने के लिये क्या करना पड़ता है—]

(१३) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार) चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के भेद से मैंने निर्माण की है । इसे तू ध्यान में रख, कि मैं उसका कर्ता भी हूँ और अकर्ता अर्थात् उसे न करनेवाला अव्यय (मैं ही) हूँ ।

[अर्थ यह है, कि परमेश्वर कर्ता भले ही हो, पर अगले श्लोक के वर्णनानुसार वह सदैव निःसङ्ग है, इस कारण अकर्ता ही है (गी. ५.१४ देखो)। परमेश्वर के स्वरूप के 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' ऐसे दूसरे भी विरोधाभासात्मक वर्णन हैं (गी. १३.१४)। चातुर्वर्ण्य के गुण और भेद का

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्धयते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
§§ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

निरूपण आगे अठारहवें अध्याय (१८. ४१–४८) में किया गया है। अब भगवान् ने "करके न करनेवाला" ऐसा जो अपना वर्णन किया है, उसका मर्म बतलाते हैं—]

(१४) मुझे का कर्म लेप अर्थात् बाधा नहीं होती; (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी इच्छा नहीं है। जो मुझे इस प्रकार जानता है, उसे कर्म की बाधा नहीं होती।

[ऊपर नवम श्लोक में जो दो बातें कही हैं, कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म' को जो जानता है वह मुक्त हो जाता है, उनमें से कर्म के तत्त्व का स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया है। 'जानता है' शब्द से यहाँ "जान कर तदनुसार बर्तने लगता है" इतना अर्थ विवक्षित है। भावार्थ यह है, कि भगवान् को उनके कर्म की बाधा नहीं होती, इसका यह कारण है कि वे फलाशा रख कर काम ही नहीं करते; और इसे जान कर तदनुसार जो बर्तता है उसको कर्मों का बन्धन नहीं होता। अब, इस श्लोक के सिद्धान्त को ही प्रत्यक्ष उदाहरण से दृढ़ करते हैं—]

(१५) इसे जान कर प्राचीन समय के मुमुक्षु लोगों ने भी कर्म किया था। इसलिये पूर्व के लोगों के किये हुए अति प्राचीन कर्म को ही तू कर!

[इस प्रकार मोक्ष और कर्म का विरोध नहीं है, अतएव अर्जुन को निश्चित उपदेश किया है, तू कर्म कर। परन्तु संन्यासमार्गवालों का कथन है, कि "कर्मों के छोड़ने से अर्थात् अकर्म से ही मोक्ष मिलता है;" इस पर यह शंका होती है, कि ऐसे कथन का बीज क्या है? अतएव अब कर्म और अकर्म के विवेचन का आरम्भ करके तेईसवें श्लोक में सिद्धान्त करते हैं, कि अकर्म कुछ कर्मत्याग नहीं है, निष्काम-कर्म को ही अकर्म कहना चाहिये।]

(१६) इस विषय में बड़े बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है, कि कौन कर्म है और कौन अकर्म; (अतएव) वैसा कर्म तुझे बतलाता हूँ कि जिसे जान लेने से तू पाप से मुक्त होगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोधव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

['अकर्म' नञ् समास है। व्याकरण की रीति से उसके अ=नञ् शब्द के 'अभाव' अथवा 'अप्राशस्त्य' दो अर्थ हो सकते हैं; और यह नहीं कह सकते, कि इस स्थल पर ये दोनों ही अर्थ विवक्षित न होंगे। परन्तु अगले श्लोक में 'विकर्म' नाम से कर्म का एक और तीसरा भेद किया है, अतएव इस श्लोक में अकर्म शब्द से विशेषतः वही कर्मत्याग उद्दिष्ट है, जिसे संन्यासमार्ग-वाले लोग 'कर्म का स्वरूपतः त्याग' कहते हैं। संन्यास-मार्गवाले कहते हैं कि 'सब कर्म छोड़ दो;' परंतु १८ वें श्लोक की टिप्पणी से देख पड़ेगा, कि इस बात को दिखलाने के लिये ही यह विवेचन किया गया है, कि कर्म को बिलकुल ही त्याग देने की कोई आवश्यकता नहीं है, संन्यास-मार्गवालों का कर्मत्याग सच्चा 'अकर्म' नहीं है; अकर्म का मर्म ही कुछ और है।

(१७) कर्म की गति गहन है; (अतएव) यह जान लेना चाहिये, कि कर्म क्या है और समझना चाहिये, कि विकर्म (विपरीत कर्म) क्या है और यह भी ज्ञात कर लेना चाहिये, कि अकर्म (कर्म न करना) क्या है। (१८) कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म जिसे देख पड़ता है, वह पुरुष सब मनुष्यों में ज्ञानी और वही युक्त अर्थात् योगयुक्त एवँ समस्त कर्म करनेवाला है।

[इसमें और अगलें पाँच श्लोकों में कर्म, अकर्म एवं विकर्म का खुलासा किया गया है; इसमें जो कुछ कमी रह गई है, वह अगले अठारहवें अध्याय में कर्मत्याग, कर्म और कर्ता के त्रिविध भेद-वर्णन में पूरी कर दी गई है (गी. १८. ४-७; १८. २३-२५; १८. २६-२८)। यहाँ संक्षेप में स्पष्टतापूर्वक यह बतला देना आवश्यक है, कि दोनों स्थलों के कर्म-विवेचन से कर्म, अकर्म और विकर्म के सम्बन्ध में गीता के सिद्धान्त क्या हैं। क्योंकि, टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ कर दी है। संन्यासमार्गवालों को सब कर्मों का स्वरूपतः त्याग इष्ट है, इसलिये वे गीता के 'अकर्म' पद का अर्थ खींचातानी से अपने मार्ग की ओर लाना चाहते हैं। मीमांसकों को यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म इष्ट हैं, इसलिये उन्हें उनके अतिरिक्त और सभी कर्म 'विकर्म' जँचते हैं। इसके सिवा मीमांसकों के नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मभेद भी इसी में आ जाते हैं, और

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

फिर इसी में धर्मशास्त्री अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाने की इच्छा रखते हैं। सारांश, चारों ओर से ऐसी खींचातानी होने के कारण अन्त में यह जान लेना कठिन हो जाता है, कि गीता 'अकर्म' किसे कहती है, और 'विकर्म' किसे। अतएव पहले से ही इस बात पर ध्यान दिये रहना चाहिये, कि गीता में जिस तात्त्विक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी की है; काम्य कर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियों की नहीं है। गीता की इस दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर पहले तो यही कहना पड़ता है, कि 'कर्मशून्यता' के अर्थ में 'अकर्म' इस जगत् में कहीं भी नहीं रह सकता अथवा कोई भी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता (गी. ३. ५; १८. ११); क्योंकि सोना, उठना-बैठना और जीवित रहना तक किसी से भी छूट नहीं जाता। और, यदि कर्मशून्यता होना सम्भव नहीं है तो यह निश्चय करना पड़ता है, कि अकर्म कहें किसे। इसके लिये गीता का यह उत्तर है, कि कर्म का मतलब निरी क्रिया न समझ कर उससे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विचार करके कर्म का कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टि के मानी ही कर्म है, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो, वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिये, कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिये, कि उसका कर्मत्व अर्थात् बन्धकत्व नष्ट हो गया; और यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जायँ तो फिर वह कर्म 'अकर्म' ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है; परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं, कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करना भी कई बार कर्म ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने मा-बाप को कोई मारता-पीटता हो, तो उसके न रोक कर चुप्पी मारे बैठा रहना, उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात् कर्मशून्यता हो तो भी, कर्म ही—अधिक क्या कहें, विकर्म—है; और कर्मविपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा। अतएव गीता इस श्लोक में विरोधाभास की रीति से बड़ी खूबी के साथ कहती है, कि ज्ञानी वही

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।

है जिसने जान लिया कि अकर्म में भी (कभी कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है, और कर्म करके भी वह कर्मविपाक की दृष्टि से मरा सा, अर्थात् अकर्म, होता है; तथा यही अर्थ अगले श्लोक में भिन्न-भिन्न रीतियों से वर्णित है। कर्म के फल का बन्धन न लगने के लिये गीताशास्त्र के अनुसार यही एक सच्चा साधन है, कि निःसङ्ग बुद्धि से अर्थात् फलाशा छोड़ कर निष्काम बुद्धि से कर्म किया जावे (गीतारहस्य पृ. ११०-११४; २८५ देखो)। अतः इस साधन का उपयोग कर निःसङ्ग बुद्धि से जो कर्म किया जायँ वही गीता के अनुसार प्रशस्त—सात्त्विक—कर्म है (गी. १८.९); और गीता के मत में वही सच्चा 'अकर्म' है। क्योंकि उसका कर्मत्व, अर्थात् कर्म-विपाक की क्रिया के अनुसार बन्धकत्व, निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और 'करते हैं' पद में चुपचाप निठल्ले बैठे रहने का भी समावेश करना चाहिये) उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् 'सात्त्विक कर्म', अथवा गीता के अनुसार अकर्म घटा देने से बाकी जो कर्म रह जाते हैं उनके दो भाग हो सकते हैं; एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं इसलिये उन्हें विकर्म कहते हैं—फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जायँ तो भी वह विकर्म ही है, अकर्म नहीं (गी. १८.७)। अब रह गये राजस कर्म। ये कर्म पहले दर्जे के अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं, अथवा ये वे कर्म भी नहीं हैं जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है। गीता इन्हें 'राजस' कर्म कहती है; परन्तु यदि कोई चाहे, तो ऐसे राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है! तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूप अथवा कोरे धर्मशास्त्र से कर्म-अकर्म का निश्चय नहीं होता; किन्तु कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है, कि कर्म है या अकर्म। अष्टावक्रगीता संन्यासमार्ग की है, तथापि उसमें भी कहा है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खों की निवृत्ति (अथवा हठ से या मोह के द्वारा कर्म से विमुखता) ही वास्तव में प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है और पण्डित लोगों की प्रवृत्ति (अर्थात् निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति यानी कर्म-त्याग का फल मिलता है (अष्टा. १८.६१)। गीता के उक्त श्लोक में यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलङ्कार की रीति से बड़ी

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

सुन्दरता से बतलाया गया है। गीता के अकर्म के इस लक्षण को भली भाँति समझे बिना, गीता के कर्म-अकर्म के विवेचन का मर्म कभी समझ में आने का नहीं। अब इसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं—]

(१९) ज्ञानी पुरुष उसी को पण्डित कहते हैं, कि जिसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग फल की इच्छा से विरहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं।

['ज्ञान से कर्म भस्म होते हैं,' इसका अर्थ कर्मों को छोड़ना नहीं है, किन्तु इस श्लोक से प्रगट होता है, कि फल की इच्छा छोड़ कर कर्म करना; यही अर्थ यहाँ लेना चाहिये (गीतार. पृ.२८४-२८६ देखो)। इसी प्रकार आगे भगवद्भक्त के वर्णन में जो "सर्वारम्भपरित्यागी"— समस्त आरम्भ या उद्योग छोड़नेवाला —पद आया है (गी. १२. १६; १४.२५) उसके अर्थ का निर्णय भी इससे हो जाता है, अब इसी अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हैं—]

(२०) कर्मफल की आसक्ति छोड़ कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है (अर्थात् जो पुरुष कर्मफल के साधन की आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता, कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक काम करता हूँ)—कहना चाहिये कि—वह कर्म करने में निमग्न रहने पर भी कुछ नहीं करता। (२१) आशीः अर्थात् फल की वासना छोड़नेवाला, चित्त का नियमन करनेवाला और सर्वसङ्ग से मुक्त पुरुष केवल शारीर अर्थात् शरीर या कर्मेंद्रियों से ही कर्म करते समय पाप का भागी नहीं होता।

[कुछ लोग बीसवें श्लोक के निराश्रय शब्द का अर्थ 'घर-गृहस्थी न रखने-वाला' (संन्यासी) करते हैं; पर वह ठीक नहीं है। आश्रय को घर या डेरा कह सकेंगे; परन्तु इस स्थान पर कर्त्ता के स्वयं रहने का ठिकाना विवक्षित नहीं है। अर्थ यह है, कि वह जो कर्म करता है उसका हेतुरूप ठिकाना (आश्रय) कहीं न रहे। यही अर्थ गीता के ६.१ श्लोक में 'अनाश्रितः कर्मफलं' इन शब्दों से स्पष्ट व्यक्त किया गया है और वामन पण्डित ने गीता की यथार्थदीपिका नामक

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अपनी मराठी टीका में इसे स्वीकार किया है। ऐसे ही २१ वें श्लोक में 'शारीर' के मानी सिर्फ शरीर-पोषण के लिये भिक्षाटन आदि कर्म नहीं हैं। आगे पाँचवें अध्याय में "योगी अर्थात् कर्मयोगी लोग आसक्ति अथवा काम्यबुद्धि को मन में रख कर केवल इन्द्रियों से कर्म किया करते हैं" (५.११) ऐसा जो वर्णन है, उसके समानार्थक ही "केवलं शारीरं कर्म" इन पदों का सच्चा अर्थ है। इन्द्रियाँ कर्म करती हैं; पर बुद्धि सम रहने के कारण उन कर्मों का पाप-पुण्य कर्त्ता को नहीं लगता।]

(२२) यदृच्छा से जो प्राप्त हो जाय उसमें सन्तुष्ट, (हर्ष-शोक आदि) द्वन्द्वों से मुक्त, निर्मत्सर, और (कर्म की) सिद्धि या असिद्धि को एक सा ही माननेवाला पुरुष (कर्म) करके भी (उनके पाप-पुण्य से) बद्ध नहीं होता। (२३) आसङ्गरहित, (राग द्वेष से) मुक्त, (साम्यबुद्धिरूप) ज्ञान में स्थिर चित्तवाले और (केवल) यज्ञ ही के लिये (कर्म) करनेवाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं!

[तीसरे अध्याय (३. ९) में जो यह भाव है, कि मीमांसकों के मत में यज्ञ के लिये किये हुए कर्म बन्धक नहीं होते और आसक्ति छोड़ कर करने से वे ही कर्म स्वर्गप्रद न होकर मोक्षप्रद होते हैं, वही इस श्लोक में बतलाया गया है। "समग्र विलीन हो जाते हैं" में 'समग्र' पद महत्त्व का है। मीमांसक लोग स्वर्गसुख को ही परमसाध्य मानते हैं और उनकी दृष्टि से स्वर्गसुख को प्राप्त कर देनेवाले कर्म बन्धक नहीं होते। परन्तु गीता की दृष्टि स्वर्ग से परे, अर्थात् मोक्ष पर, है और इस दृष्टि से स्वर्गप्रद कर्म भी बन्धक ही होते हैं। अतएव कहा है, कि यज्ञार्थ कर्म भी अनासक्त बुद्धि से करने पर 'समग्र' लय पाते हैं अर्थात् स्वर्गप्रद न होकर मोक्षप्रद हो जाते हैं। तथापि इस अध्याय में यज्ञ-प्रकरण के प्रतिपादन में और तीसरे अध्यायवाले यज्ञ-प्रकरण के प्रतिपादन में एक बड़ा भारी भेद है। तीसरे अध्याय में कहा है, कि श्रौत-स्मार्त अनादि यज्ञ-चक्र को स्थिर रखना चाहिये। परन्तु अब भगवान् कहते हैं, कि यज्ञ का इतना ही संकुचित अर्थ न समझो, कि देवता के उद्देश से अग्नि में तिल-चावल या

§§ ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

पशु का हवन कर दिया जावे अथवा चातुर्वर्ण्य के कर्म स्वधर्म के अनुसार काम्य बुद्धि से किये जावें। अग्नि में आहुति छोड़ते समय अन्त में 'इदं न मम'—यह मेरा नहीं—इन शब्दों का उच्चारण किया जाता है; इनमें स्वार्थत्यागरूप निर्ममत्व का जो तत्त्व है, वही यज्ञ में प्रधान भाग है। इस रीति से "न मम" कह कर अर्थात् ममतायुक्त बुद्धि छोड़ कर, ब्रह्मार्पणपूर्वक जीवन के समस्त व्यवहार करना भी एक बड़ा यज्ञ या होम ही हो जाता है; इस यज्ञ से देवाधिदेव परमेश्वर अथवा ब्रह्म का यजन हुआ करता है। सारांश, मीमांसकों के द्रव्ययज्ञसम्बन्धी जो सिद्धांत हैं, वे इस बड़े यज्ञ के लिये भी उपयुक्त होते हैं; और लोकसंग्रह के निमित्त जगत् के आसक्ति-विरहित कर्म करनेवाला पुरुष कर्म के 'समग्र' फल से मुक्त होता हुआ अन्त में मोक्ष पाता है (गीतार. पृ. ३४४—३४७ देखो)। इस ब्रह्मार्पणरूपी बड़े यज्ञ का ही वर्णन पहले इस श्लोक में किया गया है, और फिर इसकी अपेक्षा कम योग्यता के अनेक लाक्षणिक यज्ञों का स्वरूप बतलाया गया है; एवं तेतीसवें श्लोक में समग्र प्रकरण का उपसंहार कर कहा गया है, कि ऐसा 'ज्ञानयज्ञ ही सब में श्रेष्ठ है।'

(२४) अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है—(इस प्रकार) जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है।

[शाङ्करभाष्य में 'अर्पण' शब्द का अर्थ 'अर्पण करने का साधन' अर्थात् आचमनी इत्यादि है; परन्तु यह ज़रा कठिन है। इसकी अपेक्षा, अर्पण=अर्पण करने की या हवन करने की क्रिया, यह अर्थ अधिक सरल है। यह ब्रह्मार्पणपूर्वक अर्थात् निष्काम बुद्धि से यज्ञ करनेवालों का वर्णन हुआ। अब देवता के उद्देश से अर्थात् काम्य बुद्धि से किये हुए यज्ञ का स्वरूप बतलाते हैं—]

(२५) कोई कोई (कर्म-) योगी (ब्रह्मबुद्धि के बदले) देवता आदि के उद्देश से यज्ञ किया करते हैं; और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं।

श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥
सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

[पुरुषसूक्त में विराट्‌रूपी यज्ञ-पुरुष के, देवताओं द्वारा, यजन होने का जो वर्णन है—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" (ऋ. १०.९०.१६) उसी को लक्ष्य कर इस श्लोक का उत्तरार्ध कहा गया है। 'यज्ञ यज्ञेनोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेद के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' से समानार्थक ही देख पड़ते हैं। प्रगट है कि इस यज्ञ में, जो सृष्टि के आरम्भ में हुआ था, जिस विराट्‌रूपी पशु का हवन किया गया था वह पशु, और जिस देवता का यजन किया गया था वह देवता, ये दोनों ब्रह्मस्वरूपी होंगे। सारांश, चौवीसवें श्लोक का यह वर्णन ही तत्त्वदृष्टि से ठीक है, कि सृष्टि के सब पदार्थों में सदैव ही ब्रह्म भरा हुआ है, इस कारण इच्छा-रहित बुद्धि से सब व्यवहार करते करते ब्रह्म से ही सदा ब्रह्म का यजन होता रहता है, केवल बुद्धि वैसी होनी चाहिये। पुरुषसूक्त को लक्ष्य कर गीता में यही एक श्लोक नहीं है, प्रत्युत आगे दसवें अध्याय (१०.४२) में भी इस सूक्त के अनुसार वर्णन है। देवता के उद्देश से किये हुए यज्ञ का वर्णन हो चुका; अब अग्नि, हवि इत्यादि शब्दों के लाक्षणिक अर्थ लेकर बतलाते हैं, कि प्राणायाम आदि पातंजल-योग की क्रिया अथवा तपश्चरण भी एक प्रकार का यज्ञ होता है—]

(२६) और कोई श्रोत्र आदि (कान, आँख आदि) इंद्रियों का संयमरूप अग्नि में होम करते हैं और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्नि में (इन्द्रियों के) शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं। (२७) और कुछ लोग इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को अर्थात् व्यापारों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योग की अग्नि में हवन किया करते हैं।

[इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन है; जैसे (१) इन्द्रियों का संयमन करना अर्थात् उनको योग्य मर्यादा के भीतर अपने अपने व्यवहार करने देना; (२) इन्द्रियों के विषय अर्थात् उपभोग के पदार्थ सर्वथा छोड़ कर इन्द्रियों को बिलकुल मार डालना; (३) न केवल इन्द्रियों के व्यापार को, प्रत्युत प्राणों के भी व्यापार को बन्द कर पूरी समाधि लगा करके केवल

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८॥

[आत्मानन्द में ही मग्न रहना। अब इन्हें यज्ञ की उपमा दी जायँ तो, पहले भेद में इन्द्रियों को मर्यादित करने की क्रिया (संयमन) अग्नि हुई; क्योंकि दृष्टान्त से यह कहा जा सकता है, कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ आ जाय, इसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरे भेद में साक्षात् इन्द्रियाँ होम-द्रव्य हैं और तीसरे भेद में इन्द्रियाँ एवं प्राण दोनों मिल कर होम करने के द्रव्य हो जाते हैं और आत्मसंयमन अग्नि होता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे हैं, जो निरा प्राणायाम ही किया करते हैं; उनका वर्णन उन्तीसवें श्लोक में है। 'यज्ञ' शब्द के मूल अर्थ द्रव्यात्मक यज्ञ को लक्षणा से विस्तृत और व्यापक कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का एक 'यज्ञ' शीर्षक में ही समावेश कर दिया गया है। भगवद्गीता की यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के वर्णन के सिलसिले में पहले यह बतलाया गया है, कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ और पितृयज्ञ—इन स्मार्त पञ्चमहायज्ञों को कोई गृहस्थ न छोड़े; और फिर कहा है, कि इनके बदले कोई कोई "इन्द्रियों में वाणी का हवन कर, वाणी में प्राण का हवन करके, अन्त में ज्ञानयज्ञ से भी परमेश्वर का यजन करते हैं" (मनु.४.२१–२४)। इतिहास की दृष्टि से देखें, तो विदित होता है, कि इन्द्र-वरुण प्रभृति देवताओं के उद्देश से जो द्रव्यमय यज्ञ श्रौत ग्रन्थों में कहे गये हैं, उनका प्रचार धीरे धीरे घटता गया; और जब पातञ्जल-योग से, संन्यास से अथवा आध्यात्मिक ज्ञान से परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के मार्ग अधिक-अधिक प्रचलित होने लगे तब, 'यज्ञ' ही शब्द का अर्थ विस्तृत कर उसी में मोक्ष के समग्र उपायों का लक्षणा से समावेश करने का आरम्भ हुआ होगा। इसका मर्म यही है, कि पहले जो शब्द धर्म की दृष्टि से प्रचलित हो गये थे, उन्हीं का उपयोग अगले धर्ममार्ग के लिये भी किया जावे। कुछ भी हो; मनुस्मृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि गीता के पहले, या अन्ततः उस काल में, उक्त कल्पना सर्वमान्य हो चुकी थी।]

(२८) इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले यति अर्थात् संयमी पुरुष कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप, कोई स्वाध्याय अर्थात् नित्य स्व-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

कर्मानुष्ठानरूप, और कोई ज्ञानरूप यज्ञ किया करते हैं। (२९) प्राणायाम में तत्पर हो कर प्राण और अपान की गति को रोक करके, कोई प्राणवायु का अपान में (हवन किया करते हैं) और कोई अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं।

[इस श्लोक का तात्पर्य यह है, कि पातञ्जल-योग के अनुसार प्राणायाम करना भी एक यज्ञ ही है। यह पातञ्जल-योग-रूप यज्ञ उन्तीसवें श्लोक में बतलाया गया है, अतः अट्ठाईसवें श्लोक के "योगरूप यज्ञ" पद का अर्थ कर्मयोगरूपी यज्ञ करना चाहिये। प्राणायाम शब्द के प्राण शब्द से श्वास और उच्छ्वास, दोनों क्रियाएँ प्रगट होती हैं; परन्तु जब प्राण और अपान का भेद करना होता है तब, प्राण = बाहर जानेवाली अर्थात् उच्छ्वास वायु और अपान = भीतर आनेवाली श्वास, यह अर्थ लिया जाता है (वेसू. शांभा. २. ४. १२; और छान्दोग्य शांभा. १. ३. ३)। ध्यान रहे, कि प्राण और अपान के ये अर्थ प्रचलित अर्थ से भिन्न हैं। इस अर्थ से अपान में, अर्थात् भीतर खींची हुई श्वास में, प्राण का—उच्छ्वास का—होम करने से पूरक नाम का प्राणायाम होता है; और इसके विपरीत प्राण में अपान का होम करने से रेचक प्राणायाम होता है। प्राण और अपान दोनों के ही निरोध से वही प्राणायाम कुम्भक हो जाता है। अब इनके सिवा व्यान, उदान और समान ये तीनों बच रहे। इनमें से व्यान प्राण और अपान के सन्धिस्थलों में रहता है जो धनुष खींचने, वज़न उठाने आदि दम खींच कर या आधी श्वास छोड़ करके शक्ति के काम करते समय व्यक्त होता है (छां. १. ३. ५)। मरण-समय में निकल जानेवाली वायु को उदान कहते हैं (प्रश्न. ३. ६), और सारे शरीर में सब स्थानों पर एक सा अन्नरस पहुँचानेवाली वायु को समान कहते हैं (प्रश्न. ३. ५)। इस प्रकार वेदान्तशास्त्र में इन शब्दों के सामान्य अर्थ दिये गये हैं; परन्तु कुछ स्थलों पर इसकी अपेक्षा निराले अर्थ अभिप्रेत होते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत (वनपर्व) के २१२ वें अध्याय में प्राण आदि वायु के निराले ही लक्षण हैं, उसमें प्राण का अर्थ मस्तक की वायु और अपान का अर्थ नीचे सरकनेवाली वायु है (प्रश्न. ३. ५, और मैत्र्यु. २. ६)। ऊपर के श्लोक में जो वर्णन है, उसका यह अर्थ है, कि इनमें से जिस वायु का निरोध करते हैं, उसका अन्य वायु में होम होता है।]

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

(३०-३१) और कुछ लोग आहार को नियमित कर, प्राणों में प्राणों का ही होम किया करते हैं। ये सभी लोग सनातन ब्रह्म में जा मिलते हैं, कि जो यज्ञ के जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञ से क्षीण हो गये हैं (और जो) अमृत का (अर्थात् यज्ञ से बचे हुए का) उपभोग करनेवाले हैं। यज्ञ न करनेवाले को (जब) इस लोक में सफलता नहीं होती, (तब) फिर हे कुरुश्रेष्ठ! (उसे) परलोक कहाँ से (मिलेगा)?

[सारांश, यज्ञ करना यद्यपि वेद की आज्ञा के अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य है, तो भी यह यज्ञ एक ही प्रकार का नहीं होता! प्राणायाम करो, तप करो, वेद का अध्ययन करो, अग्निष्टोम करो, पशु-यज्ञ करो, तिल-चावल अथवा घी का हवन करो, पूजा-पाठ करो या नैवेद्य-वैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करो; फलासक्ति के छूट जाने पर ये सब व्यापक अर्थ में यज्ञ ही हैं; और फिर यज्ञ-शेष भक्षण के विषय में मीमांसकों के जो सिद्धान्त हैं, वे सब इनमें से प्रत्येक यज्ञ के लिये उपयुक्त हो जाते हैं; इनमें से पहला नियम यह है कि "यज्ञ के अर्थ किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता" और इसका वर्णन तेईसवें श्लोक में हो चुका है (गी. ३. ९ पर टिप्पणी देखो)। अब दूसरा नियम यह है, कि प्रत्येक गृहस्थ पञ्चमहायज्ञ कर अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर फिर अपनी पत्नी सहित भोजन करे; और इस प्रकार बर्तने से गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। "विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्" (मनु. ३. २८५)—अतिथि वगैरह के भोजन कर चुकने पर जो बचे उसे 'विघस' और यज्ञ करने से जो शेष रहे, उसे 'अमृत' कहते हैं; इस प्रकार व्याख्या करके मनुस्मृति और अन्य स्मृतियों में भी कहा है, कि प्रत्येक गृहस्थ को नित्य विघसाशी और अमृताशी होना चाहिये (गी. ३. १३ और गीतारहस्य पृ. १६१ देखो)। अब भगवान् कहते हैं, कि सामान्य गृहयज्ञ को उपयुक्त होनेवाला यह सिद्धान्त ही सब प्रकार के उक्त यज्ञों को उपयोगी होता है। यज्ञ के अर्थ किया हुआ कोई भी कर्म बन्धक नहीं होता, यही नहीं बल्कि उन कर्मों में से अवशिष्ट काम यदि अपने निजी उपयोग में आ जावें, तो भी वे बन्धक नहीं होते (देखो गीतार. पृ. ३८४)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

"बिना यज्ञ के इहलोक भी सिद्ध नहीं होता" यह वाक्य मार्मिक और महत्त्व का है। इसका अर्थ इतना ही नहीं है, कि यज्ञ के बिना पानी नहीं बरसता और पानी के न बरसने से इस लोक की गुज़र नहीं होती; किन्तु 'यज्ञ' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर, इस सामाजिक तत्त्व का भी इसमें पर्याय से समावेश हुआ है, कि कुछ अपनी प्यारी बातों को छोड़े बिना न तो सब को एक सी सुविधा मिल सकती है, और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ,—पश्चिमी समाजशास्त्र-प्रणेता जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि अपनी अपनी स्वतन्त्रता को परिमित किये बिना औरों को एक सी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, वही इस तत्त्व का एक उदाहरण है। और, यदि गीता की परिभाषा से इसी अर्थ को कहना हो, तो इस स्थल पर ऐसी यज्ञप्रधान भाषा का ही प्रयोग करना पड़ेगा, कि "जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का भी यज्ञ न करे, तब तक इस लोक के व्यवहार चल नहीं सकते"। इस प्रकार के व्यापक और विस्तृत अर्थ से जब यह निश्चल हो चुका, कि यज्ञ ही सारी समाजरचना का आधार है; तब कहना नहीं होगा कि, केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से 'यज्ञ' करना जब तक प्रत्येक मनुष्य न सीखेगा, तब तक समाज की व्यवस्था ठीक न रहेगी।]

(३२) इस प्रकार भाँति भाँति के यज्ञ ब्रह्म के (ही) मुख में जारी हैं। यह जानो कि, वे सब कर्म से निष्पन्न होते हैं। यह ज्ञान हो जाने से तू मुक्त हो जायगा।

[ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौतयज्ञ अग्नि में हवन करके किये जाते हैं और शास्त्र में कहा है, कि देवताओं का मुख अग्नि है; इस कारण ये यज्ञ उन देवताओं को मिल जाते हैं। परन्तु यदि कोई शङ्का करे, कि देवताओं के मुख—अग्नि—में उक्त लाक्षणिक यज्ञ नहीं होते, अतः इन लाक्षणिक यज्ञों से श्रेय-प्राप्ति होगी कैसे; तो उसे दूर करने के लिये कहा है, कि ये यज्ञ साक्षात् ब्रह्म के ही मुख में होते हैं। दूसरे चरण का भावार्थ यह है, कि जिस पुरुष ने यज्ञविधि के इस व्यापक स्वरूप को—केवल मीमांसकों के संकुचित अर्थ को ही नहीं—जान लिया, उसकी बुद्धि संकुचित नहीं रहती, किन्तु वह ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने का अधिकारी हो जाता है। अब बतलाते हैं, कि इन सब यज्ञों में श्रेष्ठ यज्ञ कौन है—]

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥
§§ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

(३३) हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि हे पार्थ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है।

[गीता में 'ज्ञानयज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गी. ९. १५ और १८.७०)। हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिये किया करते हैं। परन्तु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए बिना नहीं होती। अतएव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं। यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अतः द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है। मोक्षशास्त्र में ज्ञानयज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है। कुछ भी हो, गीता का यह स्थिर सिद्धान्त है, कि अन्त में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिये। बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता। तथापि "कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है" इस वचन का यह अर्थ नहीं है, कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिये—यह बात गीतारहस्य के दसवें और ग्यारहवें प्रकरण में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन की गई है। अपने लिये नहीं, तो लोकसंग्रह के निमित्त कर्त्तव्य समझ कर सभी कर्म करना ही चाहिये; और जबकि वे ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं, तब उनके पाप-पुण्य की बाधा कर्ता को नहीं होती (देखो आगे ३७वाँ श्लोक) और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है। अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है, कि यज्ञ करो, किन्तु उन्हें ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धि से करो।]

(३४) ध्यान में रख, कि प्रणिपात से, प्रश्न करने से और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे; (३५) जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव! फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तू अपने में और मुझ में भी देखेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
§§ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

[सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने का, समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान आगे वर्णित है (गी. ६. २९), उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। मूल में आत्मा और भगवान् दोनों एक-रूप हैं, अतएव आत्मा में सब प्राणियों का समावेश होता है; अर्थात् भगवान् में भी उनका समावेश होकर आत्मा (मैं), अन्य प्राणी और भगवान् यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसी लिये भागवतपुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण देते हुए कहा है, "सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में जो देखता है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिये" (भाग. ११. २. ४५)। इस महत्त्व के नीतितत्त्व का अधिक खुलासा गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३८९–३९७) में और भक्ति-दृष्टि से तेरहवें प्रकरण (पृ. ४२९–४३०) में किया गया है।]

(३६) सब पापियों से यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तो भी (उस) ज्ञान-नौका से ही तू सब पापों को पार कर जावेगा। (३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) इंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! (यह) ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है।

[ज्ञान की महत्ता बतला दी। अब बतलाते हैं, कि इस ज्ञान की प्राप्ति किन उपायों से होती है—]

(३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पा कर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है।

[३७ वें श्लोक में 'कर्मों' का अर्थ 'कर्म का बन्धन' है (गी. ४. १९ देखो)। अपनी बुद्धि से आरम्भ किये हुए निष्काम कर्मों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति कर लेना, ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य या बुद्धिगम्य मार्ग है। परन्तु जो स्वयं इस प्रकार

> श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।
> ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
> अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
> नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥
> §§ योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
> आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥
> तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

[अपनी बुद्धि से ज्ञान को प्राप्त न कर सके, उसके लिये अब श्रद्धा का दूसरा मार्ग बतलाते हैं—]

(३९) जो श्रद्धावान् पुरुष इन्द्रियसंयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे, उसे (भी) यह ज्ञान मिल जाता है; और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

[सारांश, बुद्धि से जो ज्ञान और शान्ति प्राप्ती होगी, वही श्रद्धा से भी मिलती है (देखो गी. १३. २५)।]

(४०) परन्तु जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा ही है, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है (और) न परलोक, एवं सुख भी नहीं है।

[ज्ञानप्राप्ति के ये दो मार्ग बतला चुके, एक बुद्धि का और दूसरा श्रद्धा का। अब ज्ञान और कर्मयोग का पृथक् उपयोग दिखला कर समस्त विषय का उपसंहार करते हैं—]

(४१) हे धनञ्जय! उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते, कि जिसने (कर्म-)योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्मबन्धन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके (सब) सन्देह दूर हो गये हैं। (४२) इसलिये अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को ज्ञानरूप तलवार से काट कर, (कर्म-) योग का आश्रय कर। (और) हे भारत! (युद्ध के लिये) खड़ा हो!

[ईशावास्य उपनिषद् में 'विद्या' और 'अविद्या' का पृथक् उपयोग दिखला कर जिस प्रकार दोनों को बिना छोड़े ही आचरण करने के लिये कहा गया है (ईश.११; गीतार. पृ.३५६ देखो); उसी प्रकार गीता के इन दो श्लोकों में ज्ञान और (कर्म-) योग का पृथक् उपयोग दिखला कर उनके अर्थात् ज्ञान

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

और योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में अर्जुन को उपदेश दिया गया है। इन दोनों का पृथक्-पृथक् उपयोग यह है, कि निष्काम बुद्धियोग के द्वारा कर्म करने पर उनके बन्धन टूट जाते हैं और वे मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते एवं ज्ञान से मन का सन्देह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अन्तिम उपदेश यह है, कि अकेले कर्म या अकेले ज्ञान को स्वीकार न करो, किन्तु ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक कर्मयोग का आश्रय करके युद्ध करो। अर्जुन को योग का आश्रय करके युद्ध के लिये खड़ा रहना था, इस कारण गीतारहस्य के पृष्ठ ५८ में दिखलाया गया है, कि योग शब्द का अर्थ यहाँ 'कर्मयोग' ही लेना चाहिये। ज्ञान और योग का यह मेल ही "ज्ञानयोगव्यवस्थितिः" पद से दैवी सम्पत्ति के लक्षण (गी. १६. १) में फिर बतलाया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग– अर्थात् कर्मयोग–शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे, कि 'ज्ञान कर्म-संन्यास' पद में 'संन्यास' शब्द का अर्थ स्वरूपतः 'कर्मत्याग' नहीं है; किन्तु निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् 'अर्पण करना' अर्थ है। और आगे अठारहवें अध्याय के आरम्भ में उसी का खुलासा किया गया है।]

पाँचवा अध्याय।

[चौथे अध्याय के सिद्धान्त पर संन्यासमार्गवालों की जो शङ्का हो सकती है, उसे ही अर्जुन के मुख से, प्रश्नरूप से, कहला कर इस अध्याय में भगवान् ने उसका स्पष्ट उत्तर दे दिया है। यदि समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान है (४.३३), यदि ज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं (४.३७), और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (४.३३); तो दूसरे ही अध्याय में यह कह कर, कि "धर्म्य युद्ध करना ही क्षत्रिय को श्रेयस्कर है" (२.३१) चौथे अध्याय के उपसंहार में यह बात क्यों कही गई कि "अतएव तू कर्मयोग का आश्रय कर युद्ध

पञ्चमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

के लिये उठ खड़ा हो"(४. ४२)? इस प्रश्न का गीता यह उत्तर देती है, कि समस्त सन्देहों को दूर कर मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है; और यदि मोक्ष के लिये कर्म आवश्यक न हों, तो भी कभी न छूटने के कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक हैं; इस प्रकार ज्ञान और कर्म, दोनों के ही समुच्चय की नित्य अपेक्षा है; (४. ४१)। परन्तु इस पर भी शङ्का होती है, कि यदि कर्मयोग और सांख्य दोनों ही मार्ग शास्त्र में विहित हैं तो इनमें से अपनी इच्छा के अनुसार सांख्यमार्ग को स्वीकार कर कर्मों का त्याग करने में हानि ही क्या है? अर्थात् इसका पूरा निर्णय हो जाना चाहिये, कि इन दोनों मार्गों में श्रेष्ठ कौन सा है। और अर्जुन के मन में यही शङ्का हुई है। उसने तीसरे अध्याय के आरम्भ में जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही अब भी वह पूछता है, कि—]

(१) अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! (तुम) एक वार संन्यास को और दूसरी बार कर्मों के योग को (अर्थात् कर्म करते रहने के मार्ग को ही) उत्तम बतलाते हो; अब निश्चय कर मुझे एकही (मार्ग) बतलाओ, कि जो इन दोनों में सचमुच ही श्रेय अर्थात् अधिक प्रशस्त हो। (२) श्रीभगवान् ने कहा—कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों निष्ठाएँ या मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले हैं; परन्तु (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों की योग्यता समान होने पर भी) इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।

[उक्त प्रश्न और उत्तर दोनों निःसन्दिग्ध और स्पष्ट हैं। व्याकरण की दृष्टि से पहले श्लोक के 'श्रेय' शब्द का अर्थ अधिक प्रशस्त या बहुत अच्छा है। दोनों मार्गों के तारतम्य-भावविषयक अर्जुन के प्रश्न का ही यह उत्तर है कि 'कर्मयोगो विशिष्यते'—कर्मयोग की योग्यता विशेष है। तथापि यह सिद्धान्त सांख्यमार्ग को इष्ट नहीं है, क्योंकि उसका कथन है, कि ज्ञान के पश्चात् सब कर्मों का

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

स्वरूपतः संन्यास ही करना चाहिये; इस कारण इन स्पष्ट अर्थवाले प्रश्नोत्तरों की व्यर्थ खींचातानी कुछ लोगों ने की है। जब यह खींचातानी करने पर भी निर्वाह न हुआ तब, उन लोगों ने यह तुर्रा लगा कर किसी प्रकार अपना समाधान कर लिया कि 'विशिष्यते' (योग्यता या विशेषता) पद से भगवान् ने कर्मयोग की अर्थवादात्मक अर्थात् कोरी स्तुति कर दी है—असल में भगवान् का ठीक अभिप्राय वैसा नहीं है। यदि भगवान् का यह मत होता, कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों की आवश्यकता नहीं है, तो क्या वे अर्जुन को यह उत्तर नहीं दे सकते थे कि "इन दोनों में संन्यास श्रेष्ठ है"? परन्तु ऐसा न करके उन्होंने दूसरे श्लोक के पहले चरण में बतलाया है, कि "कर्मों का करना और छोड़ देना, ये दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदाता हैं;" और आगे 'तु' अर्थात् 'परन्तु' पद का प्रयोग करके जब भगवान् ने निःसन्दिग्ध विधान किया है, कि 'तयोः' अर्थात् इन दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा कर्म करने का पक्ष ही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है; तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, कि भगवान् को यही मत ग्राह्य है, कि साधनावस्था में ज्ञानप्राप्ति के लिये किये जानेवाले निष्काम कर्मों को ही, ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसंग्रह के अर्थ मरणपर्यंत कर्त्तव्य समझ कर करता रहे। यही अर्थ गीता ३. ७ में वर्णितहै, यही 'विशिष्यते' पद वहाँ है; और उसके अगले श्लोक में अर्थात् गीता ३. ८ में ये स्पष्ट शब्द फिर भी हैं, कि "अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।" इसमें संदेह नहीं, कि उपनिषदों में कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है, कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रख कर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं। परन्तु उपनिषदों में भी यह नहीं कहा है कि, ज्ञान के पश्चात् यह एक ही मार्ग है—दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित उपनिषद् वाक्य से ही गीता की एकवाक्यता करना उचित नहीं है। गीता का यह कथन नहीं है, कि उपनिषदों में वर्णित यह संन्यासमार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किन्तु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास, दोनों मार्ग एकसे ही मोक्षप्रद हैं, तथापि (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर भी) जगत् के व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है, कि ज्ञान के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है। हमारा किया हुआ यह अर्थ गीता के बहुतेरे टीका-

§§ ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते॥ ३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

कारों को मान्य नहीं है; उन्होंने कर्मयोग को गौण निश्चित किया है। परन्तु हमारी समझ में ये अर्थ सरल नहीं हैं; और गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (विशेष कर पृ. ३०४–३१२) में इसके कारणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है; इस कारण यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार दोनों में से अधिक प्रशस्त मार्ग का निर्णय कर दिया गया; अब यह सिद्ध कर दिखलाते हैं, कि ये दोनों मार्ग व्यवहार में यदि लोगों को भिन्न देख पड़ें, तो भी तत्त्वतः वे दो नहीं हैं—]

(३) जो (किसी का भी) द्वेष नहीं करता और (किसी की भी) इच्छा नहीं करता, उस पुरुष को (कर्म करने पर भी) नित्यसंन्यासी समझना चाहिये, क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों से मुक्त हो जाय वह अनायास ही (कर्मों के सब) बन्धों से मुक्त हो जाता है। (४) मूर्ख लोग कहते हैं, कि सांख्य (कर्मसंन्यास) और योग (कर्मयोग) भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु पंडित लोग ऐसा नहीं कहते। किसी भी एक मार्ग का भली भाँति आचरण करने से दोनों का फल मिल जाता है। (५) जिस (मोक्ष) स्थान में सांख्य-(मार्गवाले लोग) पहुँचते हैं, वहीं योगी अर्थात् कर्मयोगी भी जाते हैं। (इस रीति से ये दोनों मार्ग) सांख्य और योग एक ही हैं; जिसने यह जान लिया उसी ने (ठीक तत्त्व को) पहचाना। (६) हे महाबाहु! योग अर्थात् कर्म के बिना संन्यास को प्राप्त कर लेना कठिन है। जो मुनि कर्मयोग-युक्त हो गया, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होने में विलम्ब नहीं लगता।

[सातवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, कि सांख्यमार्ग से जो मोक्ष मिलता है, वही कर्मयोग से

§§ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

अर्थात् कर्मों के न छोड़ने पर भी मिलता है। यहाँ तो इतना ही कहना है, कि मोक्ष की दृष्टि से दोनों में कुछ फ़र्क नहीं है, इस कारण अनादि काल से चलते आये हुए इन मार्गों का भेद-भाव बढ़ा कर झगड़ा करना उचित नहीं है; और आगे भी यही युक्तियाँ पुनः पुनः आई हैं (गी. ६.२ और १८.१,२ एवं उनकी टिप्पणी देखो)। "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" यही श्लोक कुछ शब्दभेद से महाभारत में भी दो बार आया है (शां. ३०५. १६; ३१६. ४)। संन्यासमार्ग में ज्ञान को प्रधान मान लेने पर भी उस ज्ञान की सिद्धि कर्म किये विना नहीं होती; और कर्ममार्ग में यद्यपि कर्म किया करते हैं, तो भी वे ज्ञानपूर्वक होते हैं, इस कारण ब्रह्म-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती (गी. ६. २); फिर इस झगड़े को बढ़ाने में क्या लाभ है, कि दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं? यदि कहा जाय कि कर्म करना ही बन्धक है, तो अब बतलाते हैं कि वह आक्षेप भी निष्काम कर्म के विषय में नहीं किया जा सकता—]

(७) जो (कर्म-) योगयुक्त हो गया, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया, जिसने अपने मन और इन्द्रियों को जीत लिया और सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया, वह सब कर्म करता हुआ भी (कर्मों के पुण्य-पाप से) अलिप्त रहता है। (८) योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिये, कि "मैं कुछ भी नहीं करता;" (और) देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने-छोड़ने में, (९) बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और बन्द करने में भी, ऐसी बुद्धि रख कर व्यवहार करे कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्तती हैं।

[अन्त के दो श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है, और उसमें बतलाये हुए सब कर्म भिन्न भिन्न इन्द्रियों के व्यापार हैं; उदाहरणार्थ, विसर्जन करना गुद

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

का, लेना हाथ का, पलक गिराना प्राणवायु का, देखना आँखों का, इत्यादि। "मैं कुछ भी नहीं करता" इसका यह मतलब नहीं, कि इन्द्रियों को चाहे जो करने दे; किन्तु मतलब यह है, कि 'मैं' इस अहङ्कार-बुद्धि के छूट जाने से अचेतन इन्द्रियाँ आप ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं—और वे आत्मा के काबू में रहती हैं। सारांश,कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय, तो भी श्वासोच्छ्वास आदि इन्द्रियों के कर्म उसकी इन्द्रियाँ करती ही रहेंगी। और तो क्या, पल भर जीवित रहना भी कर्म ही है। फिर यह भेद कहाँ रह गया, कि संन्यासमार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है और कर्मयोगी करता है ? कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है। पर अहङ्कार-युक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बन्धक नहीं होते, इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है; और उसी का अब अधिक निरूपण करते हैं—]

(१०) जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्ति-विरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता। (११) (अतएव) कर्मयोगी (ऐसी अहङ्कार-बुद्धि न रख कर कि मैं करता हूँ, केवल) शरीर से, (केवल) मन से, (केवल) बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी, आसक्ति छोड़ कर, आत्मशुद्धि के लिये कर्म किया करते हैं।

[कायिक, वाचिक, मानसिक आदि कर्मों के भेदों को लक्ष्य कर इस श्लोक में शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं। मूल में यद्यपि 'केवलैः' विशेषण 'इंद्रियैः' शब्द के पीछे है, तथापि वह शरीर, मन और बुद्धि को भी लागू है (गी.४.२१ देखो)। इसी से अनुवाद में उसे 'शरीर' शब्द के समान ही अन्य शब्दों के पीछे भी लगा दिया है। जैसे ऊपर के आठवें और नवें श्लोक में कहा है, वैसे ही यहाँ भी कहा है, कि अहंकार-बुद्धि एवं फलाशा के विषय में आसक्ति छोड़ कर केवल कायिक, केवल वाचिक या केवल मानसिक कोई भी कर्म किया जाय, तो कर्त्ता को उसका दोष नहीं लगता। गीता ३.२७; १३.२९ और १८. १६ देखो। अहंकार के

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यास्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
§§ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥

न रहने से जो कर्म होते हैं, वे सिर्फ इन्द्रियों के हैं और मन आदिक सभी इंद्रियाँ प्रकृति के ही विकार हैं, अतः ऐसे कर्मों का बन्धन कर्त्ता को नहीं लगता। अब इसी अर्थ को शास्त्रानुसार सिद्ध करते हैं—]

(१२) जो युक्त अर्थात् योगयुक्त हो गया, वह कर्म-फल छोड़ कर अन्त की पूर्ण शांति पाता है; और जो अयुक्त है अर्थात् योगयुक्त नहीं है, वह काम से अर्थात् वासना से फल के विषय में सक्त हो कर (पाप-पुण्य से) बद्ध हो जाता है। (१३) सब कर्मों का मन से (प्रत्यक्ष नहीं) संन्यास कर, जितेन्द्रिय देहवान् (पुरुष) नौ द्वारों के इस (देहरूपी) नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आनन्द से पड़ा रहता है।

[वह जानता है, कि आत्मा अकर्त्ता है, खेल तो सब प्रकृति का है और इस कारण स्वस्थ या उदासीन पड़ा रहता है (गीता १३.२० और १८. १६ देखो)। दोनों आँखें, दोनों कान, नासिका के दोनों छिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय, और गुद—ये शरीर के नौ द्वार या दरवाज़े समझे जाते हैं। अध्यात्म दृष्टि से यही उपपत्ति बतलाते हैं, कि कर्मयोगी कर्मों को करके भी युक्त कैसे बना रहता है—]

(१४) प्रभु अर्थात् आत्मा या परमेश्वर लोगों के कर्तृत्व को, उनके कर्म को, (या उनको प्राप्त होनेवाले) कर्मफल के संयोग को भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही (सब कुछ) किया करती है। (१५) विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा या परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।

[इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्यशास्त्र का है (गीतार. पृ. १६२–१६५), वेदान्तियों के मत में आत्मा का अर्थ परमेश्वर है, अतः

§§ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥
§§ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

वेदान्ती लोग परमेश्वर के विषय में भी 'आत्मा अकर्त्ता है' इस तत्त्व का उपयोग करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मान कर सांख्यमत-वादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते हैं और आत्मा को उदासीन कहते हैं। परन्तु वेदान्ती लोग इसके आगे बढ़ कर यह मानते हैं, कि इन दोनों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्यवालों के आत्मा के समान उदासीन और अकर्त्ता है एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति) का है (गीतार. पृ. २६७)। अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़ती; परन्तु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है; इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है, अब यही कहते हैं—]

(१६) परन्तु ज्ञान से जिसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिये उन्हीं का ज्ञान परमार्थ-तत्त्व को, सूर्य के समान, प्रकाशित कर देता है। (१७) और उस परमार्थ-तत्त्व में ही जिनकी बुद्धि रँग जाती है, वहीं जिनका अन्तःकरण रम जाता है और जो तन्निष्ठ एवं तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिलकुल धुल जाते हैं और वे फिर जन्म नहीं लेते।

[इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो जाय, उस कर्मयोगी की (संन्यासी की नहीं) ब्रह्मभूत या जीवन्मुक्त अवस्था का अब अधिक वर्णन करते हैं—]

(१८) पण्डितों की अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, ऐसे ही कुत्ता और चाण्डाल, सभी के विषय में समान रहती है! (१९) इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है, वे यहीं के यहीं अर्थात् मरण की प्रतीक्षा न कर, मृत्युलोक को जीत लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

और सम हैं, अतः ये (साम्य-बुद्धिवाले) पुरुष (सदैव) ब्रह्म में स्थित, अर्थात् यहीं के यहीं ब्रह्मभूत, हो जाते हैं।

[जिसने इस तत्त्व को जान लिया कि 'आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्ता है और सारा खेल प्रकृति का है,' वह 'ब्रह्मसंस्थ' हो जाता है और उसी को मोक्ष मिलता है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां. २. २३.१); उक्त वर्णन उपनिषदों में है और उसी का अनुवाद ऊपर के श्लोकों में किया गया है। परन्तु इस अध्याय के १–१२ श्लोकों से गीता का यह अभिप्राय प्रगट होता है, कि इस अवस्था में भी कर्म नहीं छूटते। शङ्कराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त वाक्य का संन्यासप्रधान अर्थ किया है। परन्तु मूल उपनिषद् का पूर्वापर सन्दर्भ देखने से विदित होता है, कि 'ब्रह्मसंस्थ' होने पर भी तीन आश्रमों के कर्म करनेवाले के विषय में ही यह वाक्य कहा गया होगा और इस उपनिषद् के अन्त में यही अर्थ स्पष्ट रूप से बतलाया गया है (छां. ८. १५. १ देखो)। ब्रह्मज्ञान हो चुकने पर यह अवस्था जीते जी प्राप्त हो जाती है, अतः इसे ही जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं (गीतार. पृ. २९८–३०० देखो)। अध्यात्मविद्या की यही पराकाष्ठा है। चित्तवृत्ति-निरोधरूपी जिन योग-साधनों से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में अब केवल इसी अवस्था का अधिक वर्णन है।]

(२०) जो प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तु को पा कर प्रसन्न न हो जावे और अप्रिय को पाने से खिन्न भी न होवे, (इस प्रकार) जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो मोह में नहीं फँसता, उसी ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म में स्थित हुआ समझो। (२१) बाह्य पदार्थों के (इन्द्रियों से होनेवाले) संयोग में अर्थात् विषयोपभोग में जिसका मन आसक्त नहीं, उसे (ही) आत्मसुख मिलता है; और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है। (२२) (बाहरी पदार्थों के) संयोग से ही उत्पन्न होनेवाले

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
§§ योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

भोगों का आदि और अन्त है; अतएव वे दुःख के ही कारण हैं; हे कौन्तेय ! उन में पण्डित लोग रत नहीं होते (२३) शरीर छूटने के पहले अर्थात् मरण पर्यन्त काम-क्रोध से होनेवाले वेग को इस लोक में ही सहन करने में (इन्द्रियसंयम से) जो समर्थ होता है, वही युक्त और वही (सच्चा) सुखी है ।

[गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है, कि तुझे सुख-सहना चाहिये (गी. २. १४) यह उसी का विस्तार और निरूपण है । गीता २. १४ में सुख-दुःखों को 'आगमापायिनः' विशेषण लगाया है, तो यहाँ २२ वें श्लोक में उनको 'आद्यन्तवन्तः' कहा है और 'मात्रा' शब्द के बदले 'बाह्य' शब्द का प्रयोग किया है । इसी में 'युक्त' शब्द की व्याख्या भी आ गई है। सुख-दुःखों का त्याग न कर समबुद्धि से उनको सहते रहना ही युक्तता का सच्चा लक्षण है । गीता २.६१ पर टिप्पणी देखो ।]

(२४) इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखों की अपेक्षा न कर) जो अन्तःसुखी अर्थात् अन्तःकरण में ही सुखी हो जाय, जो अपने आप में ही आराम पाने लगे, और ऐसे ही जिसे (यह) अन्तःप्रकाश मिल जाय, वह (कर्म-) योगी ब्रह्मरूप हो जाता है एवं उसे ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है। (२५) जिन ऋषियों की द्वन्द्वबुद्धि छूट गई है अर्थात् जिन्होंने इस तत्त्व को जान लिया है, कि सब स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो गये हैं और जो आत्मसंयमसे सब प्राणियों का हित करने में रत हो गये हैं, उन्हें यह ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिलता है। (२६) काम-क्रोधविरहित, आत्मसंयमी और आत्म-ज्ञानसम्पन्न यतियों को अभितः अर्थात् आसपास या सन्मुख रखा हुआ सा

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥
§§ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(बैठे विठाये) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष मिल जाता है। (२७) बाह्य पदार्थों के (इन्द्रियों के सुख-दुःखदायक) संयोग से अलग हो कर, दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि को जमा कर और नाक से चलनेवाले प्राण एवं अपान को सम करके (२८) जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संयम कर लिया है, तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा-सर्वदा मुक्त ही है।

[गीतारहस्य के नवम (पृ. २३३, २४६) और दशम (पृ. २९९) प्रकरणों से ज्ञात होगा, कि यह वर्णन जीवन्मुक्तावस्था का है। परन्तु हमारी राय में टीकाकारों का यह कथन ठीक नहीं, कि यह वर्णन संन्यासमार्ग के पुरुष का है। संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्गों में शान्ति तो एक ही सी रहती है, और उतने ही के लिये यह वर्णन संन्यासमार्ग को उपयुक्त हो सकेगा। परन्तु इस अध्याय के आरम्भ में कर्मयोग को श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५ वें श्लोक में जो यह कहा है, कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करने में प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं, इससे प्रगट होता है, कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्त का ही है—संन्यासी का नहीं है (गी. र. पृ. ३७३ देखो)। कर्म-मार्ग में भी सर्व-भूतान्तर्गत परमेश्वर को पहचानना ही परम साध्य है, अतः भगवान् अन्त में कहते हैं कि—]

(२९) जो मुझ को (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्ग आदि) सब लोकों का बड़ा स्वामी, एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शान्ति पाता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, संन्यास-योग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

छठा अध्याय ।

[इतना तो सिद्ध हो गया, कि मोक्षप्राप्ति होने के लिये और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनन्तर भी कर्म करते रहना चाहिये; परन्तु फलाशा छोड़ कर उन्हें समबुद्धि से इसलिये करें ताकि वे बन्धक न हो जावें, इसे ही कर्मयोग कहते हैं और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता। तीसरे ही अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुए कहा है, कि ये शत्रु मनुष्य की इन्द्रियों में, मन में, और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०), अतः तू इन्द्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले। इस उपदेश को पूर्ण करने के लिये इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था, कि (१) इन्द्रियनिग्रह कैसे करें, और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते हैं; परन्तु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा, कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन सा है; फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एकवाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है, कि कर्मों को न छोड़ कर, निःसङ्गबुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है। अब इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरम्भ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त निःसङ्ग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है। तथापि स्मरण रहे, कि यह निरूपण भी कुछ स्वतन्त्र रीति से पातञ्जलयोग का उपदेश करने के लिये नहीं किया गया है। और, यह बात पाठकों के ध्यान में आ जायँ, इसलिये यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये—कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५.३) इत्यादि]।

(१) कर्मफल का आश्रय न करके (अर्थात् मन में फलाशा को न टिकने दे कर), जो (शास्त्रानुसार अपने विहित) कर्त्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और वही कर्म-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
§§ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देनेवाला अथवा अक्रिय अर्थात् कोई भी कर्म न करके निठल्ले बैठनेवाला (सच्चा संन्यासी और योगी) नहीं है। (२) हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को (कर्म-)योग समझो। क्योंकि संकल्प अर्थात् काम्यबुद्धिरूप फलाशा का संन्यास (=त्याग) किये विना कोई भी (कर्म-) योगी नहीं होता।

[पिछले अध्याय में जो कहा है, कि "एकं सांख्यं च योगं च" (५.५) या "विना योग के संन्यास नहीं होता" (५. ६), अथवा "ज्ञेयः स नित्य संन्यासी" (५. ३), उसी का यह अनुवाद है और आगे अठारहवें अध्याय (१८. २) में समग्र विषय का उपसंहार करते हुए इसी अर्थ का फिर भी वर्णन किया है। गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र रख कर यज्ञ-याग आदि कर्म करने पड़ते हैं, पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिये मनुस्मृति में कहा है, कि उसको इस प्रकार अग्नि की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो जाय और जङ्गल में रह कर भिक्षा से पेट पाले—जगत् के व्यवहार में न पड़े (मनु. ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोक में मनु के इसी मत का उल्लेख किया गया है और इस पर भगवान् का कथन है, कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यास का लक्षण नहीं है। काम्यबुद्धि का या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में है; अग्नि-त्याग अथवा कर्म-त्याग की बाह्य क्रिया में नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्याग कर कर्त्तव्य-कर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिये। गीता का यह सिद्धान्त स्मृतिकारों के सिद्धान्त से भिन्न है। गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण (पृ. ३४६–३४९) में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि गीता ने स्मृतिकारों से इसका मेल कैसे किया है। इस प्रकार सच्चा संन्यास बतला कर अब यह बतलाते हैं, कि ज्ञान होने के पहले अर्थात् साधनावस्था में जो कर्म किये जाते हैं उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्था में फलाशा छोड़ कर जो कर्म किये जाते हैं उनमें, क्या भेद है।]

(३) (कर्म-) योगारूढ़ होने की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिये कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारूढ अर्थात् पूर्ण योगी हो

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

जाने पर उसके लिये (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है।

[टीकाकारों ने इस श्लोक के अर्थ का अनर्थ कर डाला है। श्लोक के पूर्वार्ध में योग=कर्मयोग यही अर्थ है, और यह बात सभी को मान्य है, कि उसकी सिद्धि के लिये पहले कर्म ही कारण होता है। किन्तु "योगारूढ़ होने पर उसी के लिये शम कारण हो जाता है" इसका अर्थ टीकाकारों ने संन्यासप्रधान कर डाला है। उनका कथन यों है–'शम'=कर्म का 'उपशम'; और जिसे योग सिद्ध हो जाता है, उसे कर्म छोड़ देना चाहिये! क्योंकि उनके मत में कर्मयोग संन्यास का अङ्ग अर्थात् पूर्वसाधन है। परन्तु यह अर्थ साम्प्रदायिक आग्रह का है, जो ठीक नहीं है। इसका पहला कारण यह है, कि (१) अब इस अध्याय के पहले ही श्लोक में भगवान् ने कहा है, कि कर्मफल का आश्रय न करके 'कर्त्तव्य कर्म' करनेवाला पुरुष ही सच्चा योगी अर्थात् योगारूढ़ है–कर्म न करनेवाला (अक्रिय) सच्चा योगी नहीं है; तब यह मानना सर्वथा अन्याय्य है, कि तीसरे श्लोक में योगारूढ़ पुरुष को कर्म का शम करने के लिये या कर्म छोड़ने के लिये भगवान् कहेंगे। संन्यासमार्ग का यह मत भले ही हो, कि शान्ति मिल जाने पर योगारूढ़ पुरुष कर्म न करे, परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है। गीता में अनेक स्थानों पर स्पष्ट उपदेश किया गया है, कि कर्मयोगी सिद्धावस्था में भी यावज्जीवन भगवान् के समान निष्कामबुद्धि से सब कर्म केवल कर्त्तव्य समझ कर करता रहे (गी. २. ७१; ३. ७ और १९; ४. १९–२१; ५. ७–१२; १२. १२; १८. ५७; तथा गीतार. प्र. ११ और १२ देखो)। (२) दूसरा कारण यह है, कि 'शम' का अर्थ 'कर्म का शम' कहाँ से आया? भगवद्गीता में 'शम' शब्द दो चार बार आया है, (गी. १०. ४; १८. ४२) वहाँ और व्यवहार में भी उसका अर्थ 'मन की शान्ति' है। फिर इसी श्लोक में 'कर्म की शान्ति' अर्थ क्यों ले? इस कठिनाई को दूर करने लिये गीता के पैशाचभाष्य में 'योगारूढ़स्य तस्यैव' के 'तस्यैव' इस दर्शक-सर्वनाम का सम्बन्ध 'योगारूढ़स्य' से न लगा कर 'तस्य' को नपुंसक लिंग की षष्ठी विभक्ति समझ करके ऐसा अर्थ किया है, कि "तस्यैव कर्मणः शमः" (तस्य अर्थात् पूर्वार्ध के कर्म का शम)! किन्तु यह अन्वय भी सरल नहीं है। क्योंकि, इसमें कोई सन्देह नहीं, कि योगाभ्यास करनेवाले जिस पुरुष का वर्णन इस श्लोक के पूर्वार्ध में किया

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते।

गया है, उसकी जो स्थिति अभ्यास पूरा हो चुकने पर होती है, उसे बतलाने के लिये उत्तरार्ध का आरम्भ हुआ है। अतएव 'तस्यैव' पदों से 'कर्मणः एव' यह अर्थ लिया नहीं जा सकता; अथवा यदि ले ही लें, तो उसका सम्बन्ध 'शमः' से न जोड़ कर "कारणमुच्यते" के साथ जोड़ने से ऐसा अन्वय लगता है, "शमः योगारूढस्य तस्यैव कर्मणः कारणमुच्यते," और गीता के सम्पूर्ण उपदेश के अनुसार उसका यह अर्थ भी ठीक लग जायगा कि "अब योगारूढ़ के कर्म का ही शम कारण होता है"। (३) टीकाकारों के अर्थ को त्याज्य मानने का तीसरा कारण यह है, कि संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ़ पुरुष को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसके सब कर्मों का अन्त शम में ही होता है; और जो यह सच है तो 'योगारूढ़ को शम कारण होता है' इस वाक्य का 'कारण' शब्द बिलकुल ही निरर्थक हो जाता है। 'कारण' शब्द सदैव सापेक्ष है। 'कारण' कहने से उसको कुछ न कुछ 'कार्य' अवश्य चाहिये, और संन्यासमार्ग के अनुसार योगारूढ को तो कोई भी 'कार्य' शेष नहीं रह जाता। यदि शम को मोक्ष का 'कारण' अर्थात् साधन कहें तो मेल नहीं मिलता। क्योंकि मोक्ष का साधन ज्ञान है, शम नहीं। अच्छा, शम को ज्ञान-प्राप्ति का 'कारण' अर्थात् साधन कहें, तो यह वर्णन योगारूढ़ अर्थात् पूर्णावस्था को ही पहुँचे हुए पुरुष का है, इसलिये उसको ज्ञान-प्राप्ति तो कर्म के साधन से पहले ही हो चुकती है। फिर यह शम 'कारण' है ही किसका? संन्यासमार्ग के टीकाकारों से इस प्रश्न का कुछ भी समाधानकारक उत्तर देते नहीं बनता। परन्तु उनके इस अर्थ को छोड़ कर विचार करने लगें, तो उत्तरार्ध का अर्थ करने में पूर्वार्ध का 'कर्म' पद सान्निध्य-सामर्थ्य से सहज ही मन में आ जाता है; और फिर यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि योगारूढ़ पुरुष को लोकसंग्रहकारक कर्म करने के लिये अब 'शम, कारण' या साधन हो जाता है, क्योंकि यद्यपि उसका कोई स्वार्थ शेष नहीं रह गया है, तथापि लोकसंग्रहकारक कर्म किसी से छूट नहीं सकते (देखो गी. ३.१७-१६)। पिछले अध्याय में जो यह वचन है, कि "युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" (गी. ५.१२)—कर्मफल का त्याग करके योगी पूर्ण शान्ति पाता है—इससे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्योंकि उसमें शान्ति का सम्बन्ध कर्मत्याग से न जोड़ कर

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
§§ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

केवल फलाशा के त्याग से ही वर्णित है; वहीं पर स्पष्ट कहा है, कि योगी जो कर्मसंन्यास करे वह 'मनसा' अर्थात् मन से करे (गी. ५. १३), शरीर के द्वारा या केवल इन्द्रियों के द्वारा उसे कर्म करना ही चाहिये। हमारा यह मत है, कि अलङ्कार-शास्त्र के अन्योन्यालङ्कार का सा अर्थ-चमत्कार या सौरस्य इस श्लोक में सध गया है; और पूर्वार्ध में यह बतला कर, कि 'शम' का कारण 'कर्म' कब होता है, उत्तरार्ध में इसके विपरीत वर्णन किया है, कि 'कर्म' का कारण 'शम' कब होता है। भगवान् कहते हैं, कि प्रथम साधनावस्था में 'कर्म' ही शम का अर्थात् योगसिद्धि का कारण है। भाव यह है, कि यथाशक्ति निष्काम कर्म करते-करते ही चित्त शान्त होकर उसी के द्वारा अन्त में पूर्ण योगसिद्धि हो जाती है। किन्तु योगी के योगारूढ़ होकर सिद्धावस्था में पहुँच जाने पर कर्म और शम का उक्त कार्यकारण-भाव बदल जाता है यानी कर्म शम का कारण नहीं होता, किन्तु शम ही कर्म का कारण बन जाता है, अर्थात् योगारूढ़ पुरुष अपने सब काम अब कर्तव्य समझ कर, फल की आशा न रख करके, शान्त चित्त से किया करता है। सारांश, इस श्लोक का भावार्थ यह नहीं है, कि सिद्धावस्था में कर्म छूट जाते हैं; गीता का कथन है, कि साधनावस्था में 'कर्म' और 'शम' के बीच जो कार्य-कारण भाव होता है, सिर्फ वही सिद्धावस्था में बदल जाता है (गीतारहस्य पृ. ३२२,३२३)। गीता में यह कहीं भी नहीं कहा, कि कर्म-योगी को अन्त में कर्म छोड़ देना चाहिये, और ऐसा कहने का उद्देश भी नहीं है। अतएव अवसर पा कर किसी ढँग से गीता के बीच के ही किसी श्लोक का संन्यासप्रधान अर्थ लगाना उचित नहीं है। आजकल गीता बहुतेरों को दुर्बोध सी हो गई है, इसका कारण भी यही है। अगले श्लोक की व्याख्या में यही अर्थ व्यक्त होता है, कि योगारूढ़ पुरुष को कर्म करना चाहिये। वह श्लोक यह है–]

(४) क्योंकि जब वह इन्द्रियों के (शब्द-स्पर्श आदि) विषयों में और कर्मों में अनुषक्त नहीं होता तथा सब सङ्कल्प अर्थात् काम्यबुद्धि-रूप फलाशा का (प्रत्यक्ष कर्मों का नहीं) संन्यास करता है, तब उसको योगारूढ़ कहते हैं।

[कह सकते हैं, कि यह श्लोक पिछले श्लोक के साथ और पहले तीनों श्लोक के साथ भी मिला हुआ है, इससे गीता का यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
§§ जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।

योगारूढ़ पुरुष को कर्म न छोड़ कर केवल फलाशा या काम्यबुद्धि छोड़ करके शान्तचित्त से निष्काम-कर्म करना चाहिये। 'संकल्प का संन्यास' ये शब्द ऊपर दूसरे श्लोक में आये हैं, वहाँ इनका जो अर्थ है वही इस श्लोक में भी लेना चाहिये। कर्मयोग में ही फलाशा-त्यागरूपी संन्यास का समावेश होता है, और फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले पुरुष को सच्चा संन्यासी और योगी अर्थात् योगारूढ़ कहना चाहिये। अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकार के निष्काम कर्मयोग या फलाशा-संन्यास की सिद्धि प्राप्त कर लेना प्रत्येक मनुष्य के अधिकार में है। जो स्वयं प्रयत्न करेगा, उसे इसका प्राप्त हो जाना कुछ असंभव नहीं—]

(५) (मनुष्य) अपना उद्धार आप ही करे। अपने आप को (कभी भी) गिरने न दे। क्योंकि (प्रत्येक मनुष्य) स्वयं ही अपना बन्धु (अर्थात् सहायक), या स्वयं अपना शत्रु है। (६) जिसने अपने आप को जीत लिया, वह स्वयं अपना बन्धु है, परन्तु जो अपने आप को नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है।

[इन दो श्लोकों में आत्म-स्वतन्त्रता का वर्णन है और इस तत्त्व का प्रतिपादन है, कि हर एक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिये; और प्रकृति कितनी ही बलवती क्यों न हो, उसको जीत कर आत्मोन्नति कर लेना हर एक के स्वाधीन है (गीतार.पृ.२७७—२८२ देखो)। मन में इस तत्त्व के भली भाँति जम जाने के लिये ही एक बार अन्वय से और फिर व्यतिरेक से—दोनों रीतियों से—वर्णन किया है, कि आत्मा अपना ही मित्र कब होता है और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है, और यही तत्त्व फिर १३.२८ श्लोक में भी आया है। संस्कृत में 'आत्मा' शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं (१) अन्तरात्मा, (२) मैं स्वयं, और (३) अन्तःकरण या मन। इसी से यह आत्मा शब्द इसमें और अगले श्लोकों में अनेक बार आया है। अब बतलाते हैं, कि आत्मा को अपने अधीन रखने से क्या फल मिलता है—]

(७) जिसने अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को जीत लिया है और जिसे

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।

शान्ति प्राप्त हो गई हो, उसका 'परमात्मा' शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित अर्थात् सम एवं स्थिर रहता है।

[इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिये ही प्रयुक्त है। देह का आत्मा सामान्यतः सुख-दुःख की उपाधि में मग्न रहता है; परन्तु इन्द्रिय-संयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमात्मरूपी या परमेश्वर-स्वरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मा से विभिन्न स्वरूप का पदार्थ नहीं है, आगे गीता में ही (गी.१३.२२ और ३१) कहा है, कि मानवी शरीर में रहनेवाला आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है। महाभारत में भी यह वर्णन है—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

"प्राकृत अर्थात् प्रकृति के गुणों से (सुख-दुःख आदि विकारों से) बद्ध रहने के कारण आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ या शरीर का जीवात्मा कहते हैं; और इन गुणों से मुक्त होने पर वही परमात्मा हो जाता है" (मभा. शां. १८७. २४)। गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण से ज्ञात होगा, कि अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त भी यही है। जो कहते हैं, कि गीता में अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है, विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैत ही गीता को ग्राह्य है, वे 'परमात्मा' को एक पद न मान 'परं' और 'आत्मा' ऐसे दो करके 'परं' को 'समाहितः' का क्रिया-विशेषण समझते हैं! यह अर्थ क्लिष्ट है; परन्तु इस उदाहरण से समझ में आ जावेगा, कि साम्प्रदायिक टीकाकार अपने मत के अनुसार गीता की कैसी खींचातानी करते हैं।]

(८) जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कूटस्थ अर्थात् मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर एवं सोने को एक सा मानने लगे, उसी (कर्म-) योगी पुरुष को 'युक्त' अर्थात् सिद्धावस्था को पहुँचा हुआ कहते हैं। (९) सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ,

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
§§ योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

द्वेष करने योग्य, बान्धव, साधु और दुष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गई हो, वही (पुरुष) विशेष योग्यता का है।

[प्रत्युपकार की इच्छा न रख कर सहायता करनेवाले स्नेही को सुहृद कहते हैं; जब दो दल हो जायँ तब किसी की भी बुराई-भलाई न चाहनेवाले को उदासीन कहते हैं; दोनों दलों की भलाई चाहनेवाले को मध्यस्थ कहते हैं और सम्बन्धी को बन्धु कहते हैं। टीकाकारों ने ऐसे ही अर्थ किये हैं। परन्तु इन अर्थों से कुछ भिन्न अर्थ भी कर सकते हैं। क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग प्रत्येक में कुछ भिन्न अर्थ दिखलाने के लिये ही नहीं किया गया है, किन्तु अनेक शब्दों की यह योजना सिर्फ इसलिये की गई है, कि सब के मेल से व्यापक अर्थ का बोध हो जाय---उसमें कुछ भी न्यूनता न रहने पावे। इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया कि योगी, योगारूढ़ या युक्त किसे कहना चाहिये (गी. २.६१; ४. १८ और ५.२३ देखो)। और यह भी बतला दिया, कि इस कर्मयोग को सिद्ध कर लेने के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है; उसके लिये किसी का मुंह जोहने की कोई ज़रूरत नहीं। अब कर्मयोग की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधन का निरूपण करते हैं—]

(१०) योगी अर्थात् कर्मयोगी एकान्त में अकेला रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी काम्य वासना को न रख कर, परिग्रह अर्थात पाश छोड़ करके निरन्तर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।

[अगले श्लोक से स्पष्ट होता है, कि यहाँ पर 'युञ्जीत' पद से पातञ्जल सूत्र का योग विवक्षित है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं, कि कर्मयोग को प्राप्त कर लेने की इच्छा करनेवाला पुरुष अपनी समस्त आयु पातञ्जल-योग में बिता दे। कर्मयोग के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये साधन-स्वरूप पातञ्जल-योग इस अध्याय में वर्णित है, और इतने ही के लिये एकान्तवास भी आवश्यक है। प्रकृति-स्वभाव के कारण सम्भव नहीं कि सभी को पातञ्जल योग की समाधि एक ही जन्म में सिद्ध हो जाय। इसी अध्याय के अन्त में भगवान्

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

ने कहा है, कि जिन पुरुषों को समाधि सिद्ध नहीं हुई है, वे अपनी सारी आयु पातञ्जल-योग में ही न बिता दें; किन्तु, जितना हो सके उतना, बुद्धि को स्थिर करके कर्मयोग का आचरण करते जावें, इसी से अनेक जन्मों में उनको अंत में सिद्धि मिल जायगी। गीतार. पृ. २८२–२८५ देखो।]

(११) योगाभ्यासी पुरुष शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे, जोकि न बहुत ऊँचा हो और न नीचा, उस पर पहले दर्भ, फिर मृगछाला और फिर वस्त्र बिछावे; (१२) वहाँ चित्त और इंद्रियों के व्यापार को रोक कर तथा मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिये आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे। (१३) काय अर्थात् पीठ, मस्तक और गर्दन को सम करके अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में निश्चल करके, स्थिर होता हुआ, दिशाओं को यानी इधर-उधर न देखे; और अपनी नाक की नोंक पर दृष्टि जमा कर, (१४) निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य-व्रत पाल कर तथा मनका संयम करके, मुझ में ही चित्त लगा कर, मत्परायण होता हुआ युक्त हो जाय।

['शुद्ध स्थान में' और 'शरीर, ग्रीवा एवं शिर को सम कर' ये शब्द श्वेताश्वतर उपनिषद् के हैं (श्वे. २. ८ और १० देखो); और ऊपर का समूचा वर्णन भी हठयोग का नहीं है, प्रस्तुत पुराने उपनिषदों में जो योग का वर्णन है, उससे अधिक मिलता-जुलता है। हठयोग में इन्द्रियों का निग्रह बलात्कार से किया जाता है; पर आगे इसी अध्याय के २४ वें श्लोक में कहा है, कि ऐसा न करके "मनसैव इन्द्रियग्रामं विनियम्य"—मन से ही इन्द्रियों को रोके। इससे प्रगट है, कि गीता में हठयोग विवक्षित नहीं। ऐसे ही इस अध्याय के अन्त में कहा है; कि इस वर्णन का यह उद्देश नहीं, कि कोई अपनी सारी जिन्दगी योगाभ्यास

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

में ही दिता दे। अब इस योगाभ्यास के फल का अधिक निरूपण करते हैं—]
(१५) इस प्रकार सदा अपना योगाभ्यास जारी रखने से मन काबू में होकर (कर्म-) योगी को मुझमें रहनेवाली और अन्त में निर्वाण-प्रद अर्थात् मेरे स्वरूप में लीन कर देनेवाली शान्ति प्राप्त होती है।

[इस श्लोक में 'सदा' पद से प्रतिदिन के २४ घण्टों का मतलब नहीं; इतना ही अर्थ विवक्षित है, कि प्रतिदिन यथाशक्ति घड़ी घड़ी भर यह अभ्यास करे (श्लोक १० की टिप्पणी देखो)। कहा है, कि इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ 'मच्चित्त' और 'मत्परायण' हो। इसका कारण यह है, कि पातञ्जल-योग मन के निरोध करने की एक युक्ति या क्रिया है; इस कसरत से यदि मन स्वाधीन हो गया तो वह एकाग्र मन भगवान् में न लगा कर और दूसरी बात की ओर भी लगाया जा सकता है। पर गीता का कथन है, कि चित्त की एकाग्रता का ऐसा दुरुपयोग न कर, इस एकाग्रता या समाधि का उपयोग परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में होना चाहिये, और ऐसा होने से ही यह योग सुखकारक होता है; अन्यथा ये निरे क्लेश हैं। यही अर्थ आगे २९वें, ३०वें एवं अध्याय के अन्त में ४७वें श्लोक में आया है। परमेश्वर में निष्ठा न रख जो लोग केवल इन्द्रिय-निग्रह का योग, या इन्द्रियों की कसरत करते हैं वे लोगों को क्लेशप्रद जारण, मारण या वशीकरण वगैरह कर्म करने में ही प्रवीण हो जाते हैं। यह अवस्था न केवल गीता को ही, प्रत्युत किसी भी मोक्षमार्ग को इष्ट नहीं। अब फिर इसी योग-क्रिया का अधिक खुलासा करते हैं—]

(१६) हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या बिलकुल न खानेवाले और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले को (यह) योग सिद्ध नहीं होता। (१७) जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसको (यह) योग दुःख-घातक अर्थात् सुखावह होता है।

§§ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

[इस श्लोक में 'योग' से पातञ्जल-योग की क्रिया और 'युक्त' से नियमित, नपी-तुली अथवा परिमित का अर्थ है। आगे भी दो एक स्थानों पर योग से पातञ्जल-योग का ही अर्थ है। तथापि इतने ही से यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि इस अध्याय में पातञ्जल-योग ही स्वतन्त्र रीति से प्रतिपाद्य है। पहले स्पष्ट बतला दिया है, कि कर्मयोग को सिद्ध कर लेना जीवन का प्रधान कर्त्तव्य है और उसके साधन मात्र के लिये पातञ्जल-योग का यह वर्णन है। इस श्लोक के " कर्म क उचित आचरण " इन शब्दों से भी प्रकट होता है, कि अन्यान्य कर्मों को करते हुए इस योग का अभ्यास करना चाहिये। अब योगी का थोड़ा सा वर्णन करके समाधि-सुख का स्वरूप बतलाते हैं—]

(१८) जब संयत मन आत्मा में ही स्थिर हो जाता है, और किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती, तब कहते हैं कि वह ' युक्त ' हो गया। (१९) वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगी को दी जाती है।

[इस उपमा के अतिरिक्त महाभारत (शान्ति. ३००. ३२, ३४) में ये दृष्टान्त हैं—" तेल से भरे हुए पात्र को ज़ीने पर से ले जाने में, या तूफ़ान के समय नाव का बचाव करने में, मनुष्य जैसा ' युक्त ' अथवा एकाग्र होता है, योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है"। कठोपनिषद् का, सारथी और रथ के घोड़ोंवाला, दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है; और यद्यपि वह दृष्टान्त गीता में स्पष्ट आया नहीं है, तथापि दूसरे अध्याय के ६१ और ६८ तथा इसी अध्याय का २५ वां श्लोक, ये उस दृष्टान्त को मन में रख कर ही कहे गये हैं। यद्यपि योग का गीता का पारिभाषिक अर्थ कर्मयोग है, तथापि उस शब्द के अन्य अर्थ भी गीता में आये हैं। उदाहरणार्थ, ९. ५ और १०. ७ श्लोक में योग का अर्थ है " अलौकिक अथवा चाहे जो करने की शक्ति"। यह भी कह सकते हैं, कि योग शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण ही गीता में पातञ्जल-योग और सांख्य-मार्ग को प्रतिपाद्य बतलाने की सुविधा उन-उन सम्प्रदायवालों को मिल गई है। १९ वें

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

[श्लोक में वर्णित चित्त-निरोधरूपी पातञ्जल-योग की समाधि का स्वरूप ही अब विस्तार से कहते हैं—]

(२०) योगानुष्ठान से निरुद्ध चित्त जिस स्थान में रम जाता है, और जहाँ स्वयं आत्मा को देख कर आत्मा में ही सन्तुष्ट हो रहता है, (२१) जहाँ (केवल) बुद्धि-गम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है और जहाँ वह (एक बार) स्थिर हुआ तो तत्त्व से कभी भी नहीं डिगता, (२२) ऐसे ही जिस स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता, और जहाँ स्थिर होने से कोई भी बड़ा भारी दुःख (उसको) वहाँ से विचला नहीं सकता, (२३) उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात् 'योग' नाम की स्थिति कहते हैं; और इस 'योग' का आचरण मन को उकताने न देकर निश्चय से करना चाहिये।

[इन चारों श्लोकों का एक ही वाक्य है। २४ वें श्लोक के आरम्भ के 'उसको' (तं) इस दर्शक सर्वनाम से पहले तीन श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है। पातञ्जलयोग-सूत्र में योग का यह लक्षण है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इसी के सदृश २० वें श्लोक के आरम्भ के शब्द हैं। अब इस 'योग' शब्द का नया लक्षण जानबूझ कर दिया है, कि समाधि इसी चित्तवृत्ति-निरोध की पूर्णावस्था है और इसी को 'योग' कहते हैं। उपनिषद् और महा-भारत में कहा है, कि निग्रहकर्त्ता और उद्योगी पुरुष को सामान्य रीति से यह योग छः महीने में सिद्ध होता है (मैत्र्यु. ६.२८; अमृतनाद. २९; मभा.अश्व. अनुगीता १९.६६)। किन्तु पहले २० वें और २८ वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है, कि पातञ्जल-योग की समाधि से प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्त-निरोध

§§ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

से प्रत्युत चित्त-निरोध के द्वारा अपने आप आत्मा की पहचान कर लेने पर होता है। इस दुःख-रहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानंद' या 'आत्मप्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानन्द' कहते हैं (गी १८. ३७; और गीतार. पृ.२३३ देखो)। अगले अध्यायों में इसका वर्णन है, कि आत्मज्ञान होने के लिये आवश्यक चित्त की यह समता एक पातञ्जल-योग से ही नहीं उत्पन्न होती, किन्तु चित्तशुद्धि का यह परिणाम ज्ञान और भक्ति से भी हो जाता है। यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है। समाधि का लक्षण बतला चुके; अब बतलाते हैं, कि उसे किस प्रकार लगाना चाहिये—]

(२४) सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं अर्थात् वासनाओं का निःशेष त्याग कर और मन से ही सब इन्द्रियों का चारों ओर से संयम कर (२५) धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शान्त होता जावे और मन को आत्मा में स्थिर करके, कोई भी विचार मन में न आने दे। (२६) (इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए) चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ बाहर जावे, वहाँ वहाँ से रोक कर उसको आत्मा के ही स्वाधीन करे ।

[मन की समाधि लगाने की क्रिया का यह वर्णन कठोपनिषद् में दी गई रथ की उपमा से (कठ. १.३.३) अच्छा व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथ के घोड़ों को इधर उधर न जाने दे कर सीधे रास्ते से ले जाता है, उसी प्रकार का प्रयत्न मनुष्य को समाधि के लिये करना पड़ता है। जिसने किसी भी विषय पर अपने मन को स्थिर कर लेने का अभ्यास किया है, उसकी समझ में ऊपरवाले श्लोक का मर्म तुरन्त आ जावेगा। मन को एक ओर से रोकने का प्रयत्न करने लगें, तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है; और वह आदत रुके बिना समाधि लग नहीं सकती। अब, योगाभ्यास से चित्त स्थिर होने का जो फल मिलता है, उसका वर्णन करते हैं—]

§§ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
§§ सर्वभूतस्थमात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

(२७) इस प्रकार शान्तचित्त, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत (कर्म-) योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। (२८) इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला (कर्म-) योगी पापों से छूट कर ब्रह्म-संयोग से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से उपभोग करता है।

[इन दो श्लोकों में हमने योगी का कर्मयोगी अर्थ किया है। क्योंकि कर्मयोग का साधन समझ कर ही पातञ्जल-योग का वर्णन किया गया है; अतः पातञ्जल-योग के अभ्यास करनेवाले उक्त पुरुष से कर्मयोगी ही विवक्षित है। तथापि योगी का अर्थ 'समाधि लगाये बैठा हुआ पुरुष' भी कर सकते हैं; किन्तु स्मरण रहे, कि गीता का प्रतिपाद्य मार्ग इससे भी परे है। यही नियम अगले दो-तीन श्लोकों को भी लागू है। इस प्रकार निर्वाण ब्रह्मसुख का अनुभव होने पर सब प्राणियों के विषय में जो आत्मौपम्य दृष्टि हो जाती है, अब उसका वर्णन करते हैं—]

(२९) (इस प्रकार) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया है, उसकी दृष्टि सम हो जाती है और उसे सर्वत्र ऐसा देख पड़ने लगता है, कि मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझ में हैं। (३०) जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सब को मुझ में देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझ से कभी दूर होता है।

[इन दो श्लोकों में पहला वर्णन 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से, और दूसरा वर्णन प्रथमपुरुष-दर्शक 'मैं' पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्ति-दृष्टि से, किया गया है। परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है (देखो

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

गीतार. पृ.४२६–४३२)। मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का एक ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टि ही है। २९वें श्लोक का पहला अर्धांश कुछ फ़र्क से मनुस्मृति (१२.९१), महाभारत (शां. २३८. २१ और २६८.२२), और उपनिषदों (कैव. १.१०; ईश. ६) में भी पाया जाता है। हमने गीतारहस्य के १२ वें प्रकरण में विस्तार सहित दिखलाया है, कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान ही समग्र अध्यात्म और कर्मयोग का मूल है (देखो पृ.३८५ प्रभृति)। यह ज्ञान हुए बिना इन्द्रिय-निग्रह का सिद्ध हो जाना भी व्यर्थ है और इसी लिये अगले अध्याय से परमेश्वर का ज्ञान बतलाना आरम्भ कर दिया है।]

(३१) जो एकत्वबुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि को मन में रख सब प्राणियों में रहनेवाले मुझ को (परमेश्वर को) भजता है, वह (कर्म-) योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ में रहता है। (३२) हे अर्जुन! सुख हो या दुःख, अपने समान औरों को भी होता है, जो ऐसी (आत्मौपम्य) दृष्टि से सर्वत्र देखने लगे, वह (कर्म-) योगी परम अर्थात् उत्कृष्ट माना जाता है।

['प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है। यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक सी है। ऐसे ही पातंजल-योग में भी समाधि लगा कर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परन्तु सांख्य और पातंजल-योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है, अतएव वे व्यवहार में इस साम्यबुद्धि के उपयोग करने का मौक़ा ही नहीं आने देते; और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर, अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हुई इस साम्यबुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके, जगत् के सभी काम लोकसंग्रह के लिये किया करता है; यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। और इसी से इस अध्याय के अन्त में (श्लोक ४६) स्पष्ट कहा है, कि तपस्वी अर्थात् पातंजलयोगी और ज्ञानी अर्थात् सांख्यमार्गी, इन दोनों की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है। साम्ययोग के इस वर्णन को सुन कर अब अर्जुन ने यह शंका की—]

अर्जुन उवाच।

§§ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अर्जुन ने कहा—(३३) हे मधुसूदन! साम्य अथवा साम्यबुद्धि से प्राप्त होनेवाला जो यह (कर्म-) योग तुमने बतलाया, मैं नहीं देखता, कि (मन की) चञ्चलता के कारण वह स्थिर रहेगा। (३४) क्योंकि हे कृष्ण! यह मन चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। वायु के समान, अर्थात् हवा की गठरी बाँधने के समान, इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।

[३३ वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला, इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है। यद्यपि पहले पातंजलयोग की समाधि का वर्णन आया है, तो भी इस श्लोक में 'योग' शब्द से पातंजल-योग विवक्षित नहीं है। क्योंकि दूसरे अध्याय में भगवान् ने ही कर्मयोग की ऐसी व्याख्या की है, "समत्वं योग उच्यते" (२. ४८)—"बुद्धि की समता या समत्व को ही योग कहते हैं"। अर्जुन की कठिनाई को मान कर भगवान् कहते हैं—]

श्रीभगवान् ने कहा—(३५)हे महाबाहु अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं, कि मन चञ्चल है और उसका निग्रह करना कठिन है; परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। (३६) मेरे मत में, जिसका अन्तःकरण क़ाबू में नहीं, उसको (इस साम्यबुद्धिरूप) योग का प्राप्त होना कठिन है; किन्तु अन्तःकरण को क़ाबू में रख कर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।

अर्जुन उवाच ।

§§ अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

[तात्पर्य, पहले जो बात कठिन देख पड़ती है, वही अभ्यास से और दीर्घ उद्योग से अन्त में सिद्ध हो जाती है। किसी भी काम को बार बार करना 'अभ्यास' कहलाता है और 'वैराग्य' का मतलब है राग या प्रीति न रखना अर्थात् इच्छा-विहीनता। पातंजल-योगसूत्र में आरम्भ में ही योग का लक्षण यह बतलाया है कि—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं (इसी अध्याय का २० वाँ श्लोक देखो) और फिर अगले सूत्र में कहा है, कि "अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"—अभ्यास और वैराग्य से चित्त-वृत्ति का निरोध हो जाता है। यही शब्द गीता में आये हैं और अभिप्राय भी यही है; परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि गीता में ये शब्द पातं-जलयोगसूत्र से लिये गये हैं (देखो गीतार. पृ.२३०)। इस प्रकार, यदि मनो-निग्रह करके समाधि लगाना सम्भव हो, और कुछ निग्रही पुरुषों को छः महीने के अभ्यास से यदि यह सिद्धि प्राप्त हो सकती हो, तो भी अब यह दूसरी शङ्का होती है, कि प्रकृति-स्वभाव के कारण अनेक लोग दो-एक जन्मों में भी इस परमावस्था में नहीं पहुँच सकते—फिर ऐसे लोग इस सिद्धि को क्यों कर पावें ? क्योंकि एक जन्म में, जितना हो सका उतना, इन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास कर कर्मयोग का आचरण करने लगें तो वह मरते समय अधूरा ही रह जायगा और अगले जन्म में फिर पहले से आरम्भ करें तो फिर आगे के जन्म में भी वही हाल होगा ! अतः अर्जुन का दूसरा प्रश्न है, कि इस प्रकार के पुरुष क्या करें—]

अर्जुन ने कहा—(३७) हे कृष्ण ! श्रद्धा (तो) हो, परन्तु (प्रकृति स्वभाव से) पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन (साम्यबुद्धिरूप कर्म-) योग से विचल जावे, वह योग-सिद्धि न पा कर किस गति को जा पहुँचता है ? (३८) हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! यह पुरुष मोहग्रस्त हो कर ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥
श्रीभगवानुवाच ।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

(बीच में ही) नष्ट तो नहीं हो जाता? (३९) हे कृष्ण! मेरे इस सन्देह को तुम्हें ही निःशेष दूर करना चाहिये; तुम्हें छोड़ इस सन्देह का मेटनेवाला दूसरा कोई न मिलेगा।

[यद्यपि नञ् समास में आरम्भ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है, इस कारण ३७ वें श्लोक के 'अयति' शब्द का अर्थ "अल्प अर्थात् अधूरा प्रयत्न या संयम करनेवाला" है। ३८ वें श्लोक में जो कहा है, कि "दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ" अथवा "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः", उस का अर्थ भी कर्मयोग-प्रधान ही करना चाहिये। कर्म के दो प्रकार के फल हैं;(१) काम्यबुद्धि से किन्तु शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म करने पर तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और (२) निष्काम बुद्धि से करने पर वह बन्धक न होकर मोक्ष-दायक हो जाता है। परन्तु इस अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्ग आदि काम्य फल नहीं मिलते, क्योंकि उसका ऐसा हेतु ही नहीं रहता; और साम्यबुद्धि पूर्ण न होने के कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता; इसलिये अर्जुन के मन में यह शङ्का उत्पन्न हुई, कि उस बेचारे को न तो स्वर्ग मिला और न मोक्ष—कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती कि दोनों दीन से गये पाँड़े, हलुवा मिले न माँड़े? यह शङ्का केवल पातंजल योगरूपी कर्मयोग के साधन के लिये ही नहीं की जाती। अगले अध्याय में वर्णन है, कि कर्म-योगसिद्धि के लिये आवश्यक साम्यबुद्धि कभी पातंजल-योग से, कभी भक्ति से और कभी ज्ञान से प्राप्त होती है; और जिस प्रकार पातंजल-योगरूपी यह साधन एक ही जन्म में अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी साधन भी एक जन्म में अपूर्ण रह सकते हैं। अतएव कहना चाहिये, कि अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोगमार्ग के सभी साधनों को साधारण रीति से उपयुक्त हो सकता है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(४०) हे पार्थ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में,

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता नहीं। क्योंकि, हे तात ! कल्याणकारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। (४१) पुण्यकर्त्ता पुरुषों को मिलनेवाले (स्वर्ग आदि) लोकों को पा कर और (वहाँ) बहुत वर्षों तक निवास करके फिर यह योगभ्रष्ट अर्थात् कर्मयोग से भ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है; (४२) अथवा बुद्धिमान् (कर्म-) योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म (इस) लोक में बड़ा दुर्लभ है। (४३) उसमें अर्थात् इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धिसंस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन ! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग-) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। (४४) अपने पूर्वजन्म के उस अभ्यास से ही अवश अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी, वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। जिसे (कर्म-) योग की जिज्ञासा, अर्थात् जान लेने की इच्छा, हो गई है वह भी शब्दब्रह्म के परे चला जाता है। (४५) (इस प्रकार) प्रयत्नपूर्वक उद्योग करते करते पापों से शुद्ध होता हुआ (कर्म-) योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पा कर अन्त में उत्तम गति पा लेता है।

[इन श्लोकों में योग, योगभ्रष्ट और योगी शब्द कर्मयोग, कर्मयोग से भ्रष्ट और कर्मयोगी के अर्थ में ही व्यवहृत हैं। क्योंकि श्रीमान्-कुल में जन्म लेने की स्थिति दूसरों को इष्ट होना सम्भव ही नहीं है। भगवान् कहते हैं, कि पहले से, जितना हो सके उतना, शुद्ध बुद्धि से कर्मयोग का आचरण करना आरम्भ करे।

§§ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

थोड़ा ही क्यों न हो, पर इस रीति से जो कर्म किया जावेगा वही, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, इस प्रकार अधिक अधिक सिद्धि मिलने के लिये उत्तरोत्तर कारणीभूत होगा और उसी से अन्त में पूर्ण सद्गति मिलती है। "इस धर्म का थोड़ासा भी आचरण किया जाय तो वह बड़े भय से रक्षा करता है" (गी. २.४०), और "अनेक जन्मों के पश्चात् वासुदेव की प्राप्ती होती है" (७. १९), ये श्लोक उसी सिद्धान्त के पूरक हैं। अधिक विवेचन गीतारहस्य के पृ. २८२–२८५ में किया गया है। ४४ वें श्लोक के शब्दब्रह्म का अर्थ है 'वैदिक यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म।' क्योंकि ये कर्म वेदविहित हैं और वेदों पर श्रद्धा रख कर ही ये किये जाते हैं; तथा वेद अर्थात् सब सृष्टि के पहले पहल का शब्द यानी शब्दब्रह्म है। प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्यबुद्धि से किया करता है; परन्तु इस कर्म से जैसी जैसी चित्तशुद्धि होती जाती है वैसे वैसे ही आगे निष्काम बुद्धि से कर्म करने की इच्छा होती है। इसी से उपनिषदों में और महाभारत में भी (मैत्र्यु. ६. २२; अमृतबिन्दु. १७; मभा. शां. २३१. ६३; २६९. १) यह वर्णन है कि—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

"जानना चाहिये, कि ब्रह्म दो प्रकार का है; एक ब्रह्म और दूसरा उससे परे का (निर्गुण)। शब्दब्रह्म में निष्णात हो जाने पर फिर इससे परे का (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है"। शब्दब्रह्म के काम्य कर्मों से उकता कर अन्त में लोकसंग्रह के अर्थ इन्हीं कर्मों को करानेवाले कर्मयोग की इच्छा होती है और फिर तब इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा थोड़ा आचरण होने लगता है। अनन्तर 'स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः' के न्याय से ही थोड़ा सा आचरण उस मनुष्य को इस मार्ग में धीरे धीरे खींचता जाता है और अन्त में क्रम-क्रम से पूर्ण सिद्धि करा देता है। ४४ वें श्लोक में जो यह कहा है कि "कर्मयोग के जान लेने की इच्छा होने से भी वह शब्दब्रह्म के परे जाता है" उसका तात्पर्य भी यही है। क्योंकि, यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी चरखे का मुंह है; और एक बार इस चरखे के मुंह में लग जाने पर फिर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, कभी न कभी, पूर्ण सिद्धि मिलती है और वह शब्दब्रह्म से परे के ब्रह्म तक पहुँचे बिना नहीं रहता।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

[पहले पहल जान पड़ता है, कि यह सिद्धि जनक आदि को एक ही जन्म में मिल गई होगी; परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता चलता है, कि उन्हें भी यह फल जन्म-जन्मान्तर के पूर्व संस्कार से ही मिला होगा। अस्तु; कर्मयोग का थोड़ा सा आचरण, यहाँ तक कि जिज्ञासा भी सदैव कल्याणकारक है, इसके अतिरिक्त अन्त में मोक्ष-प्राप्ति भी निःसन्देह इसी से होती है; अतः अब भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि—]

(४६) तपस्वी लोगों की अपेक्षा (कर्म-) योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्डवालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा जाता है; इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी अर्थात् कर्मयोगी हो।

[जङ्गल में जा कर उपवास आदि शरीर को क्लेशदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्य रीति से इस शब्द का यही अर्थ है। "ज्ञानयोगेन सांख्यानां०" (गी. ३.३) में वर्णित, ज्ञान से अर्थात् सांख्यमार्ग से कर्म को छोड़ कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गी. २.४२-४४ और ९.२०,२१ में वर्णित, निरे काम्य कर्म करनेवाले स्वर्ग-परायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है। इन तीनों पन्थों में से प्रत्येक यही कहता है, कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है। किन्तु अब गीता का यह कथन है, कि तपस्वी हो चाहे कर्मठ मीमांसक हो या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी —अर्थात् कर्मयोगमार्ग भी—श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धान्त "अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है०" (गी. ३. ८) एवं "कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है०" (गी. ५.२) इत्यादि श्लोकों में वर्णित है (देखो गीतारहस्य प्रकरण ११. पृ.३०७, ३०८)। और तो क्या; तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञानमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, 'इसी' लिये पीछे जिस प्रकार अर्जुन को उपदेश किया है, कि 'योगस्थ हो कर कर्म कर' (गी.२.४८; गीतार. पृ. ५६) अथवा "योग का आश्रय करके खड़ा हो" (४. ४२), उसी प्रकार यहाँ भी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि "तू (कर्म-) योगी हो।" यदि इस प्रकार कर्मयोग को श्रेष्ठ न मानें, तो "तस्मात् तू योगी हो" इस उपदेश का 'तस्मात्=इसी लिये' पद निरर्थक हो जावेगा। किन्तु संन्यासमार्ग के

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना।

[टीकाकारों को यही सिद्धान्त कैसे स्वीकृत हो सकता है? अतः उन लोगों ने 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ बदल दिया है और वे कहते हैं, कि ज्ञानी शब्द का अर्थ है शब्द-ज्ञानी अथवा वे लोग कि जो सिर्फ पुस्तकें पढ़ कर ज्ञान की लम्बी चौड़ी बातें छाँटा करते हैं। किन्तु यह अर्थ निरे साम्प्रदायिक आग्रह का है। ये टीकाकार गीता के इस अर्थ को नहीं चाहते, कि कर्म छोड़नेवाले ज्ञानमार्ग को गीता कम दर्जे का समझती है। क्योंकि इससे उनके सम्प्रदाय को गौणता आती है। और इसी लिये "कर्मयोगो विशिष्यते" (गी.५.२) का भी अर्थ उन्होंने बदल दिया है। परन्तु इसका पूरा पूरा विचार गीतारहस्य के ११ वें प्रकरण में कर चुके हैं; अतः इस श्लोक का जो अर्थ हमने किया है उसके विषय में यहाँ अधिक चर्चा नहीं करते। हमारे मत में यह निर्विवाद है, कि गीता के अनुसार कर्मयोग-मार्ग ही सब में श्रेष्ठ है। अब आगे के श्लोक में बतलाते हैं, कि कर्मयोगियों में भी कौन सा तारतम्य-भाव देखना पड़ता है—]

(४७) तथापि सब (कर्म-)योगियों में भी मैं उसे ही सब में उत्तम युक्त अर्थात् उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ कि जो मुझ में अन्तःकरण रख कर श्रद्धा से मुझ को भजता है।

[इस श्लोक का यह भावार्थ है, कि कर्मयोग में भी भक्ति का प्रेम पूरित मेल हो जाने से, यह योगी भगवान् को अत्यन्त प्रिय हो जाता है; इसका यह अर्थ नहीं है, कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्याय में भगवान् ने ही स्पष्ट कह दिया है, कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है (गी.१२.१२)। निष्काम कर्म और भक्ति के समुच्चय को श्रेष्ठ कहना एक बात है और सब निष्काम कर्मयोग को व्यर्थ कह कर, भक्ति ही को श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीता का सिद्धान्त पहले ढँग का है और भागवतपुराण का पक्ष दूसरे ढँग का है। भागवत (१.५.३४) में सब प्रकार के क्रियायोग को आत्म-ज्ञान-विघातक निश्चित कर, कहा है—

नैष्कर्म्यप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्म भी (भाग.११.३.४६) विना भगवद्भक्ति के शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १.५ १२ और १२.१२.५२)। इससे व्यक्त होगा, कि भागवत-कार का ध्यान केवल भक्ति के ही ऊपर होने के कारण वे विशेष प्रसङ्ग

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

पर भगवद्गीता के भी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं। जिस पुराण का निरूपण इस समझ से किया गया है, कि महाभारत में और इससे गीता में भी भक्ति का जैसा वर्णन होना चाहिये वैसा नहीं हुआ; उसमें यदि उक्त वचनों के समान और भी कुछ बातें मिलें, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो देखना है गीता का तात्पर्य, न कि भागवत का कथन। दोनों का प्रयोजन और समय भी भिन्न-भिन्न हैं; इस कारण बात-बात में उनकी एकवाक्यता करना उचित नहीं है। कर्म-योग की साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें से पातंजल-योग के साधनों का इस अध्याय में निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति भी अन्य साधन हैं; अगले अध्याय से इनके निरूपण का आरम्भ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या-न्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवाँ अध्याय।

[पहले यह प्रतिपादन किया गया, कि कर्मयोग सांख्यमार्ग के समान ही मोक्षप्रद है परन्तु स्वतन्त्र है और उससे श्रेष्ठ है, और यदि इस मार्ग का थोड़ा भी आचरण किया जाय, तो वह व्यर्थ नहीं जाता; अनन्तर इस मार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक इन्द्रिय-निग्रह करने की रीति का वर्णन किया गया है। किन्तु इन्द्रिय-निग्रह से मतलब निरी बाह्य क्रिया से नहीं है, जिसके लिये इन्द्रियों की यह कसरत करनी है, उसका अब तक विचार नहीं हुआ। तीसरे अध्याय में भगवान् ने ही अर्जुन को इन्द्रिय-निग्रह का यह प्रयोजन बतलाया है, कि "काम-क्रोध आदि शत्रु इन्द्रियों में अपना घर बना कर ज्ञान-विज्ञान का नाश करते हैं" (३.४०,४१) इसलिये पहले तू इन्द्रिय-निग्रह करके इन शत्रुओं को मार डाल। और पिछले अध्याय में योगयुक्त पुरुष का यों वर्णन किया है, कि इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा

सप्तमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।

"ज्ञान-विज्ञान से तृप्त हुआ" (६. ८) योगयुक्त पुरुष "समस्त प्राणियों में परमेश्वर को और परमेश्वर में समस्त प्राणियों को देखता है" (६. २९)। अतः जब इन्द्रिय-निग्रह करने की विधि बतला चुके तब, यह बतलाना आवश्यक हो गया, कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' किसे कहते हैं, और परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होकर कर्मों को न छोड़ते हुए भी कर्मयोग-मार्ग की किन विधियों से अन्त में निःसंदिग्ध मोक्ष मिलता है। सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय के अन्त पर्यन्त—ग्यारह अध्यायों में—इसी विषय का वर्णन है और अन्त के अर्थात् अठारहवें अध्याय में सब कर्मयोग का उपसंहार है। सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान् पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है—इस समझ का नाम है 'ज्ञान,' और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान् पदार्थों की उत्पत्ति को समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गी. १३. ३०), एवं इसी को क्षर-अक्षर का विचार कहते हैं। इसके सिवा अपने शरीर में अर्थात् क्षेत्र में जिसे आत्मा कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूप को ज्ञान लेने से भी परमेश्वर के स्वरूप का बोध हो जाता है। इस प्रकार के विचार को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कहते हैं। इनमें से पहले क्षर-अक्षर के विचार का वर्णन करके फिर तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार का वर्णन किया है। यद्यपि परमेश्वर एक है, तथापि उपासना की दृष्टि से उसमें दो भेद होते हैं, उसका अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है और व्यक्त स्वरूप प्रत्यक्ष अवगम्य है। अतः इन दोनों मार्गों या विधियों को इसी निरूपण में बतलाना पड़ा, कि बुद्धि से परमेश्वर को कैसे पहचाने और श्रद्धा या भक्ति से व्यक्त स्वरूप की उपासना करने से उसके द्वारा अव्यक्त का ज्ञान कैसे होता है। तब इस समूचे विवेचन में यदि ग्यारह अध्याय लग गये, तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसके सिवा, इन दो मार्गों से परमेश्वर के ज्ञान के साथ ही इन्द्रिय-निग्रह भी आप ही आप हो जाता है, अतः केवल इन्द्रिय-निग्रह करा देनेवाले पातंजल-योगमार्ग की अपेक्षा मोक्षधर्म में ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग की योग्यता भी अधिक मानी जाती है। तो भी स्मरण रहे, कि यह सारा विवेचन कर्मयोगमार्ग के उपपादन का एक अंश है;

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

वह स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् गीता के पहले छः अध्यायों में कर्म, दूसरे षट्क में भक्ति और तीसरी षडध्यायी में ज्ञान, इस प्रकार गीता के जो तीन स्वतन्त्र विभाग किये जाते हैं, वे तत्त्वतः ठीक नहीं हैं। स्थूलमान से देखने में ये तीनों विषय गीता में आये हैं सही, परन्तु वे स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु कर्मयोग के अङ्गों के रूप से ही उनका विवेचन किया गया है। इस विषय का प्रतिपादन गीतारहस्य के चौदहवें प्रकरण (पृ. ४५२–४५७) में किया गया है, इसलिये यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते। अब देखना चाहिये, कि सातवें अध्याय का आरम्भ भगवान् किस प्रकार करते हैं।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे पार्थ ! मुझ में चित्त लगा कर और मेरा ही आश्रय करके (कर्म-) योग का आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकार से या जिस विधि से मेरा पूर्ण और संशयविहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। (२) विज्ञान समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझ से कहता हूँ, कि जिसके जान लेने से इस लोक में फिर और कुछ भी जानने के लिये नहीं रह जाता।

[पहले श्लोक के "मेरा ही आश्रय करके" इन शब्दों से और विशेष कर 'योग' शब्द से प्रगट होता है, कि पहले के अध्यायों में वर्णित कर्मयोग की सिद्धि के लिये ही अगला ज्ञान विज्ञान कहा है—स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाया है (देखो गीतार. पृ. ४५४–४५५)। न केवल इसी श्लोक में, प्रत्युत गीता में अन्यत्र भी, कर्मयोग को लक्ष्य कर ये शब्द आये हैं 'मद्योगमाश्रितः' (गी. १२. ११), 'मत्परः' (गी. १८. ५७ और ११. ५५); अतः इस विषय में कोई शङ्का नहीं रहती, कि परमेश्वर का आश्रय करके जिस योग का आचरण करने के लिये गीता कहती है, वह पीछे के छः अध्यायों में प्रतिपादित कर्मयोग ही है। कुछ लोग विज्ञान का अर्थ अनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, परन्तु ऊपर के कथनानुसार हमें ज्ञात होता है, कि परमेश्वरी ज्ञान के ही समष्टिरूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान) ये दो भेद हैं, इस कारण ज्ञान-विज्ञान शब्द से भी उन्हीं का अभिप्राय है (गी. १३.३०. और १८. २० देखो)। दूसरे श्लोक के शब्द "फिर और कुछ भी जानने के लिये नहीं रह

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३॥
§§ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४॥

जाता" उपनिषद् के आधार से लिये गये हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु से उसके बाप ने यह प्रश्न किया है कि "येन... अविज्ञातं विज्ञातं भवति"—वह क्या है, कि जिस एक के जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है? और फिर आगे उसका इस प्रकार खुलासा किया है "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छां. ६. १. ४) —हे तात! जिस प्रकार मिट्टी के एक गोले के भीतरी भेद को जान लेने से ज्ञात हो जाता है, कि शेष मिट्टी के पदार्थ उसी मृत्तिका के विभिन्न नाम-रूप धारण करनेवाले विकार हैं, और कुछ नहीं है; उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने से दूसरा कुछ भी जानने के लिये नहीं रहता। मुण्डक उपनिषद् (१.१.३) में भी आरम्भ में ही यह प्रश्न है, कि "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"—किसका ज्ञान हो जाने से अन्य सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है? इससे व्यक्त होता है, कि अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व यहाँ अभिप्रेत है, कि एक परमेश्वर का ज्ञान-विज्ञान हो, जाने से इस जगत् में और कुछ भी जानने के लिये रह नहीं जाता; क्योंकि जगत् का मूल तत्त्व तो एक ही है, नाम और रूप के भेद से वही सर्वत्र समाया हुआ है, सिवा उसके और कोई दूसरी वस्तु दुनिया में है ही नहीं। यदि ऐसा न हो तो दूसरे श्लोक की प्रतिज्ञा सार्थक नहीं होती।]

(३) हजारों मनुष्यों में कोई एक-आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है, और प्रयत्न करनेवाले इन (अनेक) सिद्ध पुरुषों में से एक-आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

[ध्यान रहे, कि यहाँ प्रयत्न करनेवालों को यद्यपि सिद्ध पुरुष कह दिया है, तथापि परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। परमेश्वर के ज्ञान के क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ये दो भाग हैं। इनमें से अब क्षर-अक्षर-विचार का आरम्भ करते हैं—]

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। (५) यह अपरा अर्थात्

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है। हे महाबाहु अर्जुन ! यह जानो कि इससे भिन्न, जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। (६) समझ रखो, कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगत् का प्रभाव अर्थात् मूल और प्रलय अर्थात् अन्त मैं ही हूँ। (७) हे धनञ्जय ! मुझ से परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान, मुझ में यह सब गुंथा हुआ है।

[इन चार श्लोकों में सब क्षर-अक्षर-ज्ञान का सार आ गया है; और अगले श्लोकों में इसी का विस्तार किया है। सांख्य-शास्त्र में सब सृष्टि के अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति और सचेतन पुरुष ये दो स्वतन्त्र तत्त्व बतला कर प्रतिपादन किया है, कि इन दोनों तत्त्वों से सब पदार्थ उत्पन्न हुए—इन दोनों से परे तीसरा तत्त्व नहीं है। परन्तु गीता को यह द्वैत मंजूर नहीं; अतः प्रकृति और पुरुष को एक ही परमेश्वर की दो विभूतियाँ मान कर चौथे और पाँचवें श्लोक में वर्णन किया है, कि इनमें जड़ प्रकृति निम्न श्रेणी की विभूति है और जीव अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ श्रेणी की विभूति है; और कहा है कि, इन दोनों से समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टि उत्पन्न होती है (देखो गी. १३.२६)। इनमें से जीवभूत श्रेष्ठ प्रकृतिं का विस्तार सहित विचार क्षेत्रज्ञ की दृष्टि से आगे तेरहवें अध्याय में किया है। अब रह गई जड़-प्रकृति, सो गीता का सिद्धान्त है (देखो गी. ६. १०), कि वह स्वतन्त्र नहीं, परमेश्वर की अध्यक्षता में उससे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यद्यपि गीता में प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना है, तथापि सांख्यशास्त्र में प्रकृति के जो भेद हैं उन्हीं को कुछ हेर-फेर से गीता में ग्राह्य कर लिया है (गीतार. पृ. १७६–१८३)। और परमेश्वर से माया के द्वारा जड़प्रकृति उत्पन्न हो चुकने पर (गी. ७. १४) सांख्यों का किया हुआ यह वर्णन, कि प्रकृति से सब पदार्थ कैसे निर्मित हुए, अर्थात् गुणोत्कर्ष का तत्त्व भी गीता को मान्य है (देखो गीतार. पृ. २४२)।

§§ रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

सांख्यों का कथन है, कि प्रकृति और पुरुष मिल कर कुल पचीस तत्त्व हैं। इनमें प्रकृति से ही तेईस तत्त्व उपजते हैं। इन तेईस तत्त्वों में पाँच स्थूल भूत, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व, शेष सात तत्त्वों से निकले हुए अर्थात् उनके विकार हैं। अतएव यह विचार करते समय कि "मूल तत्त्व" कितने हैं, इन सोलह तत्त्वों को छोड़ देते हैं; और इन्हें छोड़ देने से बुद्धि (महान्), अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्म भूत) मिल कर सात ही मूल तत्त्व बच रहते हैं। सांख्यशास्त्र में इन्हीं सातों को "प्रकृति-विकृति" कहते हैं। ये सात प्रकृति-विकृति और मूल-प्रकृति मिल कर अब आठ ही प्रकार की प्रकृति हुई; और महाभारत (शां. ३१०. १०-१५) में इसी को अष्टधा प्रकृति कहा है। परन्तु सात प्रकृति-विकृतियों के साथ ही मूल-प्रकृति की गिनती कर लेना गीता को योग्य नहीं जँचा। क्योंकि ऐसा करने से यह भेद नहीं दिखलाया जाता, कि एक मूल है और उसके सात विकार हैं। इसी से गीता के इस वर्गीकरण में, कि सात प्रकृति-विकृति और मन मिल कर अष्टधा मूल प्रकृति है, और महाभारत के वर्गीकरण में थोड़ा सा भेद किया गया है (गीतार. पृ. १८३)। सारांश, यद्यपि गीता को सांख्यवालों की स्वतन्त्र प्रकृति स्वीकृत नहीं, तथापि स्मरण रहे, कि उसके अगले विस्तार का निरूपण दोनों ने वस्तुतः समान ही किया है। गीता के समान उपनिषद् में भी वर्णन है, कि सामान्यतः परब्रह्म से ही—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

"इस (पर पुरुष) से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी—ये (सब) उत्पन्न होते हैं" (मुण्ड. २. १. ३ कै. १. १५; प्रश्न. ६. ४)। अधिक जानना हो, तो गीतारहस्य का ८ वाँ प्रकरण देखो ! चौथे श्लोक में कहा है, कि पृथ्वी, आप प्रभृति पञ्चतत्त्व मैं ही हूँ; और अब यह कह कर, कि तत्त्वों में जो गुण हैं वे भी मैं ही हूँ, ऊपर के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हैं, कि ये सब पदार्थ एक ही धागे में मणियों के समान पिरोये हुए हैं—]

(८) हे कौन्तेय ! जल में रस मैं हूँ, चन्द्र-सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब वेदों में प्रणव अर्थात् ॐकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, और सब पुरुषों का पौरुष

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

मैं हूँ । (९) पृथ्वी में पुण्यगन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ। सब प्राणियों की जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप मैं हूँ । (१०) हे पार्थ ! मुझ को सब प्राणियों का सनातन बीज समझ। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मैं हूँ। (११) काम-(वासना) और राग अर्थात् विषयासक्ति (इन दोनों को) घटा कर बलवान् लोगों का बल मैं हूँ; और हे भरतश्रेष्ठ ! प्राणियों में, धर्म के विरुद्ध न जानेवाला, काम भी मैं हूँ, (१२) और यह समझ कि जो कुछ सात्त्विक, राजस या तामस भाव अर्थात् पदार्थ हैं, वे सब मुझ से ही हुए हैं; परन्तु वे मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूँ।

["वे मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूँ" इसका अर्थ बड़ा ही गम्भीर है। पहला अर्थात् प्रगट अर्थ यह है, कि सभी पदार्थ परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये मणियों में धागे के समान इन पदार्थों का गुण-धर्म भी यद्यपि परमेश्वर ही है, तथापि परमेश्वर की व्याप्ति इसी में नहीं चुक जाती; समझना चाहिये, कि इनको व्याप्त कर इनके परे भी यही परमेश्वर है, और यही अर्थ आगे "इस समस्त जगत् को मैं एकांश से व्याप्त कर रहा हूँ" (गी. १०.४२) इस श्लोक में वर्णित है। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा भी अर्थ सदैव विवक्षित रहता है। वह यह, कि त्रिगुणात्मक जगत् का नानात्व यद्यपि मुझ से निर्गुण हुआ देख पड़ता है, तथापि वह नानात्व मेरे निर्गुण स्वरूप में नहीं रहता; और इस दूसरे अर्थ को मन में रख कर "भूतभृत् न च भूतस्थः" (९. ४ और ५) इत्यादि परमेश्वर की अलौकिक शक्तियों के वर्णन किये गये हैं (गी. १३.१४–१६)। इस प्रकार यदि परमेश्वर की व्याप्ति समस्त जगत् से भी अधिक है, तो प्रगट है कि

§§ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥
§§ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

[परमेश्वर के सच्चे स्वरूप को पहचानने के लिये इस मायिक जगत् से भी परे जाना चाहिये, और अब उसी अर्थ को स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं—]

(१३) (सत्त्व,रज और तम) इन तीन गुणात्मक भावों से अर्थात् पदार्थों से मोहित हो कर यह सारा संसार, इनसे परे के (अर्थात् निर्गुण) मुझ अव्यय (परमेश्वर) को नहीं जानता।

[माया के सम्बन्ध में गीतारहस्य के ९ वें प्रकरण में यह सिद्धान्त है, कि माया अथवा अज्ञान त्रिगुणात्मक देहेन्द्रिय का धर्म है, न कि आत्मा का; आत्मा तो ज्ञानमय और नित्य है,इन्द्रियाँ उसको भ्रम में डालती हैं–उसी अद्वैती सिद्धान्त को ऊपर के श्लोक में कहा है। देखो गीता. ७.२४ और गी.र.पृ.२३९-२४७]

(१४) मेरी यह गुणात्मक और दिव्य माया दुस्तर है। अतः इस माया को वे पार कर जाते हैं, जो मेरी ही शरण में आते हैं।

[इससे प्रगट होता है,कि सांख्यशास्त्र की त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही गीता में भगवान् अपनी माया कहते हैं। महाभारत के नारायणीय-उपाख्यान में कहा है, कि नारद को विश्वरूप दिखला कर अन्त में भगवान् बोले कि—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि॥

"हे नारद! तुम जिसे देख रहे हो,यह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तुम मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझो" (शां. ३३९.४४)। वही सिद्धान्त अब यहाँ भी बतलाया गया है। गीतारहस्य के ९ वें और १० वें प्रकरण में बतला दिया है, कि माया क्या चीज़ है।]

(१५) माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

[यह बतलाया दिया, कि माया में डूबे रहनेवाले लोग परमेश्वर को भूल जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अब ऐसा न करनेवाले अर्थात् परमेश्वर की शरण में जा कर उसकी भक्ति करनेवाले लोगों का वर्णन करते हैं।]

(१६) हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग मेरी भक्ति किया करते हैं:—१—आर्त अर्थात् रोग से पीड़ित, २—जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा रखनेवाले, ३—अर्थार्थी अर्थात् द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ४—ज्ञानी अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान पा कर कृतार्थ हो जाने से आगे कुछ प्राप्त न करना हो, तो भी निष्कामबुद्धि से भक्ति करनेवाले। (१७) इनमें एकभक्ति अर्थात् अनन्यभाव से मेरी भक्ति करनेवाले और सदैव युक्त यानी निष्काम बुद्धि से बर्तनेवाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है! ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (१८) ये सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं, परन्तु मेरा मत है, कि (इनमें) ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है; क्योंकि युक्तचित्त होकर (सब की) उत्तमोत्तम गति-स्वरूप मुझ में ही वह ठहरा रहता है। (१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से कि 'जो कुछ है, वह सब वासुदेव ही है,' ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

[चर-अचर की दृष्टि से भगवान् ने अपने स्वरूप का यह ज्ञान बतला दिया, कि प्रकृति और पुरुष दोनों मेरे ही स्वरूप हैं और चारों ओर मैं ही एकता से भरा हूँ; इसके साथ ही भगवान् ने ऊपर जो यह बतलाया है, कि इस स्वरूप की भक्ति करने से परमेश्वर की पहचान हो जाती है, इसके तात्पर्य को भली भाँति स्मरण रखना चाहिये। उपासना सभी को चाहिये, फिर चाहे व्यक्त की करो चाहे अव्यक्त की; परन्तु व्यक्त की उपासना सुलभ होने के कारण यहाँ उसी का वर्णन है और उसी का नाम भक्ति है। तथापि स्वार्थ-बुद्धि को मन में

§§ कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

[रख कर किसी विशेष हेतु के लिये परमेश्वर की भक्ति करना निम्न श्रेणी की भक्ति है। परमेश्वर का ज्ञान पाने के हेतु से भक्ति करनेवाले (जिज्ञासु) को भी सच्चा ही समझना चाहिये; क्योंकि उसकी जिज्ञासुत्व-अवस्था से ही व्यक्त होता है, कि अभी तक उसको परिपूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। तथापि कहा है, कि ये सब भक्ति करनेवाले होने के कारण उदार अर्थात् अच्छे मार्ग से जानेवाले हैं (श्लो. १८)। पहले तीन श्लोकों का तात्पर्य है, कि ज्ञान-प्राप्ति से कृतार्थ हो करके जिन्हें इस जगत् में कुछ करने अथवा पाने के लिये नहीं रह जाता (गी. ३. १७–१९), ऐसे ज्ञानी पुरुष निष्कामबुद्धि से जो भक्ति करते हैं (भाग. १.७. १०) वही सब में श्रेष्ठ है। प्रल्हाद-नारद आदि की भक्ति इसी श्रेष्ठ श्रेणी की है, और इसी से भागवत में भक्ति का लक्षण "भक्तियोग अर्थात् परमेश्वर की निर्हेतुक और निरन्तर भक्ति" माना है (भाग. ३. २९. १२; और गीतार. पृ. ४०९–४१०)। १७वें और १९ वें श्लोक के 'एकभक्तिः' और 'वासुदेवः' पद भागवतधर्म के हैं; और यह कहने में भी कोई क्षति नहीं, कि भक्तों का उक्त सभी वर्णन भागवतधर्म का ही है। क्योंकि महाभारत (शां. ३४१.३३–३५) में इस धर्म के वर्णन में चतुर्विध भक्तों का उल्लेख करते हुए कहा है कि—

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवं हि मे श्रुतम्।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्।
ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक्।

अनन्यदैवत और एकान्तिक भक्त जिस प्रकार निराशीः अर्थात् फलाशारहित कर्म करता है उस प्रकार अन्य तीन भक्त नहीं करते, वे कुछ न कुछ हेतु मन में रख कर भक्ति करते हैं, इसी से वे तीनों च्यवनशील हैं और एकान्ती प्रतिबुद्ध (जानकार) है। एवं आगे 'वासुदेव' शब्द की आध्यात्मिक व्युत्पत्ति यों की है— "सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्"—मैं प्राणिमात्र में वास करता हूँ इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं (शां.३४१.४०)। अब यह वर्णन करते हैं, कि यदि सर्वत्र एक ही परमेश्वर है तो लोग भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना क्यों करते हैं, और ऐसे उपासकों को क्या फल मिलता है—]

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

(२०) अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार भिन्न भिन्न (स्वर्ग आदि फलों की) काम-वासनाओं से पागल हुए लोग, भिन्न भिन्न (उपासनाओं के) नियमों को पाल कर दूसरे देवताओं को भजते रहते हैं। (२१) जो भक्त जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना किया चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूँ। (२२) फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है एवं उसको मेरे ही निर्माण किये हुए कामफल मिलते हैं। (२३) परन्तु (इन) अल्पबुद्धि लोगों को मिलनेवाले ये फल नाशवान् हैं (मोक्ष के समान स्थिर रहनेवाले नहीं हैं)। देवताओं को भजनेवाले उनके पास जाते हैं और मेरे भक्त मेरे यहाँ आते हैं।

[साधारण मनुष्यों की समझ होती है, कि यद्यपि परमेश्वर मोक्षदाता है, तथापि संसार के लिये आवश्यक अनेक इच्छित वस्तुओं को देने की शक्ति देवताओं में ही है और उनकी प्राप्ति के लिये इन्हीं देवताओं की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जब यह समझ दृढ़ हो गई, कि देवताओं की उपासना करनी चाहिये, तब अपनी अपनी स्वाभाविक श्रद्धा के अनुसार(देखो गी.१७.१-६) कोई पीपल पूजते हैं, कोई किसी चबूतरे की पूजा करते हैं और कोई किसी बड़ी भारी शिला को सिंदूर से रँग कर पूजते हैं। इसी बात का वर्णन उक्त श्लोकों में सुन्दर रीति से किया गया है। इसमें ध्यान देने योग्य पहली बात यह है, कि भिन्न-भिन्न देवताओं की आराधना से जो फल मिलता हैं,उसे आराधक समझते हैं, कि उसके देनेवाले वे ही देवता हैं, परन्तु पर्याय से वह परमेश्वर की पूजा हो जाती है (गी. ९. २३) और तात्त्विक दृष्टि से वह फल भी परमेश्वर ही दिया करता है (श्लो. २२)। यही नहीं, कि इसदेवता का आराधन करने की बुद्धि भी मनुष्य के पूर्वकर्मानुसार परमेश्वर ही देता है (श्लो.२१)। क्योंकि इस जगत् में

§§ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्तसूत्र (३. २. ३८-४१) और उपनिषद् (कौषी. ३. ८) में भी यही सिद्धान्त है। इन भिन्न-भिन्न देवताओं की भक्ति करते-करते बुद्धि स्थिर और शुद्ध हो जाती है, तथा अन्त में एक एवं नित्य परमेश्वर का ज्ञान होता है—यही इन भिन्न-भिन्न उपासनाओं का उपयोग है। परन्तु इससे पहले जो फल मिलते हैं, वे सभी अनित्य होते हैं। अतः भगवान् का उपदेश है, कि इन फलों की आशा में न उलझ कर 'ज्ञानी' भक्त होने की उमङ्ग प्रत्येक मनुष्य को रखनी चाहिये। माना, कि भगवान् सब बातों के करने-वाले और फलों के दाता हैं, पर वे जिसके जैसे कर्म होंगे तदनुसार ही तो फल देंगे (गी. ४. ११); अतः तात्त्विक दृष्टि से यह भी कहा जाता है, कि वे स्वयं कुछ भी नहीं करते (गी. ५. १४)। गीतारहस्य के १० वें (पृ. २६७) और १३ वें प्रकरण (पृ. ४२६–४२७) में इस विषय का अधिक विवेचन है, उसे देखो। कुछ लोग यह भूल जाते हैं, कि देवताराधन का फल भी ईश्वर ही देता है और वे प्रकृति-स्वभाव के अनुसार देवताओं की धुन में लग जाते हैं; अब ऊपर के इसी वर्णन का स्पष्टीकरण करते हैं—]

(२४) अबुद्धि अर्थात् मूढ़ लोग, मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यय रूप को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं! (२५) मैं अपनी योगरूप माया से आच्छादित रहने के कारण सब को (अपने स्वरूप से) प्रगट नहीं देखता। मूढ़ लोग नहीं जानते, कि मैं अज और अव्यय हूँ।

[अव्यक्त स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त स्वरूप धारण कर लेने की युक्ति को योग कहते हैं (देखो गी. ४. ६; ७. १५; ९. ७)। वेदान्ती लोग इसी को माया कहते हैं; इस योगमाया से ढका हुआ परमेश्वर व्यक्त-स्वरूपधारी होता है। सारांश, इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि व्यक्त सृष्टि मायिक अथवा अनित्य है और अव्यक्त परमेश्वर सच्चा या नित्य है। परन्तु कुछ लोग इस स्थान पर और अन्य स्थानों पर भी 'माया' का 'अलौकिक' अथवा 'विलक्षण' अर्थ मान कर प्रतिपादन करते हैं, कि यह माया मिथ्या नहीं—परमेश्वर के समान

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

ही नित्य है। गीतारहस्य के नवें प्रकरण में माया के स्वरूप का विस्तारसहित विचार किया है, इस कारण यहाँ इतना ही कहे देते हैं, कि यह बात अद्वैत वेदान्त को भी मान्य है कि माया परमेश्वर की ही कोई विलक्षण और अनादि लीला है। क्योंकि, माया यद्यपि इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ दृश्य है, तथापि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की ही सत्ता से यह काम करती हैं, अतएव अन्त में इस माया को परमेश्वर की लीला ही कहना पड़ता है। वाद है केवल इसके तत्त्वतः सत्य या मिथ्या होने में; सो उक्त श्लोकों से प्रगट होता है, कि इस विषय में अद्वैत वेदान्त के समान ही गीता का भी यही सिद्धान्त है, कि जिस नाम-रूपात्मक माया से अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त माना जाता है, वह माया—फिर चाहे उसे अलौकिक शक्ति कहो या और कुछ—'अज्ञान' से उपजी हुई दिखाऊ वस्तु या 'मोह' है, सत्य परमेश्वर-तत्त्व इससे पृथक् है। यदि ऐसा न हो तो 'अबुद्धि' और 'मूढ़' शब्दों के प्रयोग करने का कोई कारण नहीं देख पड़ता। सारांश, माया सत्य नहीं—सत्य है एक परमेश्वर ही। किन्तु गीता का कथन है, कि इस माया में भूले रहने से लोग अनेक देवताओं के फन्दे में पड़े रहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ४. १०) में इसी प्रकार का वर्णन है; वहाँ कहा है, कि जो लोग आत्मा और ब्रह्म को एक ही न जान कर भेद-भाव से भिन्न-भिन्न देवताओं के फंदे में पड़े रहते हैं, वे 'देवताओं के पशु' हैं, अर्थात् गाय आदि पशुओं से जैसे मनुष्य को फ़ायदा होता है, वैसे ही इन अज्ञानी भक्तों से सिर्फ देवताओं का ही फ़ायदा है, उनके भक्तों को मोक्ष नहीं मिलता। माया में उलझ कर भेद-भाव से अनेक देवताओं की उपासना करनेवालों का वर्णन हो चुका। अब बतलाते हैं कि, इस माया से धीरे-धीरे छुटकारा क्योंकर होता है—]

(२६) हे अर्जुन! भूत, वर्तमान और भविष्यत् (जो हो चुके हैं उन्हें, मौजूद और आगे होनेवाले) सभी प्राणियों को मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता। (२७) क्योंकि हे भारत! (इन्द्रियों के) इच्छा और द्वेष से उपजनेवाले (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से इस सृष्टि में समस्त प्राणी, हे परन्तप! भ्रम में फँस जाते

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
§§ जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

हैं। (२८) परन्तु जिन पुण्यात्माओं के पाप का अन्त हो गया है, वे (सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से छूट कर दृढ़व्रत हो करके मेरी भक्ति करते हैं।

[इस प्रकार माया से छुटकारा हो चुकने पर आगे उनकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हैं—]

(२९) (इस प्रकार) जो मेरा आश्रय कर जरा-मरण अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर से छूटने के लिये प्रयत्न करते हैं; वे (सब) ब्रह्म, (सब) अध्यात्म और सब कर्म को जान लेते हैं। (३०) और अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ सहित (अर्थात् इस प्रकार, कि मैं ही सब हूँ) जो मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त (होने के कारण) मरण-काल में भी मुझे जानते हैं।

[अगले अध्याय में अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का निरूपण किया है। धर्मशास्त्र का और उपनिषदों का सिद्धांत है, कि मरण-काल में मनुष्य के मन में जो वासना प्रबल रहती है, उसके अनुसार उसे आगे जन्म मिलता है; इस सिद्धान्त को लक्ष्य करके अन्तिम श्लोक में "मरण-काल में भी" शब्द हैं; तथापि उक्त श्लोक के 'भी' पद से स्पष्ट होता है, कि मरने से प्रथम परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हुए बिना केवल अन्तकाल में ही यह ज्ञान नहीं हो सकता (देखो गी. २. ७२)। विशेष विवरण अगले अध्याय में है। कह सकते हैं, कि इन दो श्लोकों में अधिभूत आदि शब्दों से आगे के अध्याय की प्रस्तावना ही की गई है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टमोऽध्यायः ।

आठवाँ अध्याय ।

[इस अध्याय में कर्मयोग के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान का ही निरूपण हो रहा है, और पिछले अध्याय में ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ,ये जो परमेश्वर के स्वरूप के विविध भेद कहे हैं,पहले उनका अर्थ बतला कर विवेचन किया है, कि उनमें क्या तथ्य है। परन्तु यह विवेचन इन शब्दों की केवल व्याख्या करके अर्थात् अत्यन्त संक्षिप्त रीति से किया गया है, अतः यहाँ पर उक्त विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना आवश्यक है । बाह्य सृष्टि के अवलोकन से, उसके कर्त्ता की कल्पना अनेक लोग अनेक रीतियों से किया सकते हैं। १–कोई कहते हैं,कि सृष्टि के सब पदार्थ पञ्चमहाभूतों के ही विकार हैं और इन पञ्चमहाभूतों को छोड़ मूल में दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। २–दूसरे कुछ लोग, जैसा कि गीता के चौथे अध्याय में वर्णन है,यह प्रतिपादन करते हैं, कि यह समस्त जगत् यज्ञ से हुआ है और परमेश्वर यज्ञनारायण-रूपी है,यज्ञ से ही उसकी पूजा होती है । ३–और कुछ लोगों का कहना है,कि स्वयं जड़ पदार्थ सृष्टि के व्यापार नहीं करते; किन्तु उनमें से प्रत्येक में कोई न कोई सचेतन पुरुष या देवता रहते हैं,जो कि इन व्यवहारों को किया करते हैं और इसी लिये हमें उन देवताओं की आराधना करनी चाहिये । उदाहरणार्थ, जड़ पांचभौतिक सूर्य के गोले में सूर्य नाम का जो पुरुष है वही प्रकाश देने वगैरह का काम किया करता है, अतएव वही उपास्य है । ४–चौथे पक्ष का कथन है, कि प्रत्येक पदार्थ में उस पदार्थ से भिन्न किसी देवता का निवास मानना ठीक नहीं है । जैसे मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु में उसी वस्तु का कुछ न कुछ सूक्ष्मरूप अर्थात् आत्मा के समान सूक्ष्म शक्ति वास करती है, वही उसका मूल और सच्चा स्वरूप है । उदाहरणार्थ, पंच स्थूल महाभूतों में पंच सूक्ष्म तन्मात्राएँ और हाथ-पैर आदि स्थूल इन्द्रियों में सूक्ष्म इन्द्रियाँ मूलभूत रहती हैं । इसी चौथे तत्त्व पर सांख्यों का यह मत भी अवलम्बित है,कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा भी पृथक्-पृथक् है और पुरुष असंख्य हैं; परन्तु जान पड़ता है,कि यहाँ इस सांख्यमत का 'अधिदेह' वर्ग में समावेश किया गया है । उक्त चार पक्षों को ही क्रम से अधिभूत, अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म कहते हैं। किसी भी शब्द के पीछे 'अधि' उपसर्ग रहने से

अर्जुन उवाच।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

यह अर्थ होता है—'तमधिकृत्य,' 'तद्विषयक,' 'उस सम्बन्ध का' या 'उसमें रहनेवाला'। इस अर्थ के अनुसार अधिदैवत अनेक देवताओं में रहनेवाला तत्त्व है। साधारणतया अध्यात्म उस शास्त्र को कहते हैं जो यह प्रतिपादन करता है, कि सर्वत्र एक ही आत्मा है। किन्तु यह अर्थ सिद्धान्त पक्ष का है; अर्थात् पूर्वपक्ष के इस कथन की जाँच करके कि "अनेक वस्तुओं या मनुष्यों में भी अनेक आत्मा हैं," वेदान्तशास्त्र ने आत्मा की एकता के सिद्धान्त को ही निश्चित कर दिया है। अतः पूर्वपक्ष का जब विचार करना होता है तब माना जाता है, कि प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म स्वरूप या आत्मा पृथक्-पृथक् है, और यहाँ पर अध्यात्म शब्द से यही अर्थ अभिप्रेत है। महाभारत में मनुष्य की इन्द्रियों का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है, कि अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत-दृष्टि से एक ही विवेचन के इस प्रकार भिन्न-भिन्न भेद क्योंकर होते हैं (देखो मभा. शां. ३१३; और अश्व. ४१)। महाभारतकार कहते हैं, कि मनुष्य की इन्द्रियों का विवेचन तीन तरह से किया जा सकता है, जैसे अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैवत। इन इन्द्रियों के द्वारा जो विषय ग्रहण किये जाते हैं-उदाहरणार्थ, हाथों से जो लिया जाता है, कानों से जो सुना जाता है, आँखों से जो देखा जाता है, और मन से जिसका चिन्तन किया जाता है—वे सब अधिभूत हैं और हाथ पैर आदि के (सांख्य-शास्त्रोक्त) सूक्ष्म स्वभाव, अर्थात् सूक्ष्म इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों के अध्यात्म हैं। परन्तु इन दोनों दृष्टियों को छोड़ कर अधिदैवत दृष्टि से विचार करने पर—अर्थात् यह मान करके, कि हाथों के देवता इन्द्र, पैरों के विष्णु, गुद के मित्र, उपस्थ के प्रजापति, वाणी के अग्नि, आँखों के सूर्य, कानों के आकाश अथवा दिशा, जीभ के जल, नाक के पृथ्वी, त्वचा के वायु, मन के चन्द्रमा, अहङ्कार के बुद्धि और बुद्धि के देवता पुरुष हैं—कहा जाता है, कि यही देवतालोग अपनी-अपनी इन्द्रियों के व्यापार किया करते हैं। उपनिषदों में भी उपासना के लिये ब्रह्म-स्वरूप के जो प्रतीक वर्णित हैं, उनमें मन को अध्यात्म और सूर्य अथवा आकाश को अधिदैवत प्रतीक कहा है (छां. ३.१८.१)। अध्यात्म और अधिदैवत का यह भेद केवल उपासना के लिये ही नहीं किया गया है; बल्कि अब इस प्रश्न का निर्णय करना पड़ा कि वाणी, चक्षु और श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों एवं प्राणों में श्रेष्ठ

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

कौन है, तब उपनिषदों में भी (बृ. १.५.२१–२३; छां. १.२–३; कौषी. ४.१२,१३) एक बार वाणी, चक्षु और श्रोत्र इन सूक्ष्म इन्द्रियों को ले कर अध्यात्मदृष्टि से विचार किया गया है, तथा दूसरी बार उन्हीं इन्द्रियों के देवता अग्नि, सूर्य और आकाश को ले कर अधिदैवत दृष्टि से विचार किया गया है। सारांश यह है, कि अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म आदि भेद प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और यह प्रश्न भी इसी जमाने का है, कि परमेश्वर के स्वरूप की इन भिन्न-भिन्न कल्पनाओं में से सच्ची कौन है तथा उसका तथ्य क्या है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३.७) में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से कहा है, कि सब प्राणियों में, सब देवताओं में, समग्र अध्यात्म में, सब लोकों में, सब यज्ञों में और सब देहों में व्याप्त होकर उनके न समझने पर भी, उनको नचानेवाला एक ही परमात्मा है। उपनिषदों का यही सिद्धान्त वेदान्तसूत्र के अन्तर्यामी अधिकरण में है (वेसू. १.२.१८–२०)। वहाँ भी सिद्ध किया है, कि सब के अंतःकरण में रहनेवाला यह तत्त्व सांख्यों की प्रकृति या जीवात्मा नहीं है, किन्तु परमात्मा है। इसी सिद्धान्त के अनुरोध से भगवान् अब अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य की देह में, सब प्राणियों में (अधिभूत), सब यज्ञों में (अधियज्ञ), सब देवताओं में (अधिदैवत), सब कर्मों में और सब वस्तुओं के सूक्ष्म स्वरूप (अर्थात् अध्यात्म) में एक ही परमेश्वर समाया हुआ है–यज्ञ इत्यादि नानात्व अथवा विविध ज्ञान सच्चा नहीं है। सातवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अधिभूत आदि जिन शब्दों का उच्चारण किया है, उनका अर्थ जानने की अर्जुन को इच्छा हुई; अतः वह पहले पूछता है—]

अर्जुन ने कहा—(१) हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म के मानी क्या है? अधिभूत किसे कहना चाहिये और अधिदैवत किसको कहते हैं? (२) अधियज्ञ कैसा होता है? हे मधुसूदन! इस देह में (अधिदेह) कौन है? और अन्तकाल में इन्द्रियनिग्रह करनेवाले लोग तुमको कैसे पहचानते हैं?

[ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधियज्ञ शब्द पिछले अध्याय में आ चुके हैं; इनके सिवा अब अर्जुन ने यह नया प्रश्न किया है, कि अधिदेह

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

कौन है। इस पर ध्यान देने से आगे के उत्तर का अर्थ समझने में कोई अड़चन न होगी।]

श्रीभगवान् ने कहा—(३) (सब से) परम अक्षर अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्त्व ब्रह्म है, (और) प्रत्येक वस्तु का मूलभाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है, (अक्षरब्रह्म से) भूतमात्रादि (चर-अचर) पदार्थों की उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग अर्थात् सृष्टिव्यापार कर्म है। (४) (उपजे हुए सब प्राणियों की) क्षर अर्थात् नामरूपात्मक नाशवान् स्थिति अधिभूत है; और (इस पदार्थ में) जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है, वही अधिदैवत है; (जिसे) अधियज्ञ (सब यज्ञों का अधिपति कहते हैं, वह) मैं ही हूँ। हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! मैं इस देह में (अधिदेह) हूँ।

[तीसरे श्लोक का 'परम' शब्द ब्रह्म का विशेषण नहीं है किन्तु अक्षर का विशेषण है। सांख्यशास्त्र में अव्यक्त प्रकृति को भी 'अक्षर' कहा है (गी. १५. १६)। परन्तु वेदान्तियों का ब्रह्म इस अव्यक्त और अक्षर प्रकृति के भी परे का है (इसी अध्याय का २० वाँ और २१ वाँ श्लोक देखो) और इसी कारण अकेले 'अक्षर' शब्द के प्रयोग से सांख्यों की प्रकृति अथवा ब्रह्म दोनों अर्थ हो सकते हैं। इसी सन्देह को मेटने के लिये 'अक्षर' शब्द के आगे 'परम' विशेषण रख कर ब्रह्म की व्याख्या की है (देखो गीतार. पृ. २०१-२०२)। हमने 'स्वभाव' शब्द का अर्थ महाभारत में दिये हुए उदाहरणों के अनुसार किसी भी पदार्थ का 'सूक्ष्मस्वरूप' किया है। नासदीय सूक्त में दृश्य जगत् को परब्रह्म की विसृष्टि (विसर्ग) कहा है (गी. र. पृ. २५४); और विसर्ग शब्द का वही अर्थ यहाँ लेना चाहिये। विसर्ग का अर्थ 'यज्ञ का हविरुत्सर्ग' करने की कोई ज़रूरत नहीं है। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. २६२) में विस्तृत विवेचन किया गया है, कि इस दृश्य सृष्टि को ही कर्म क्यों कहते हैं। पदार्थ मात्र के नाम-रूपात्मक विनाशी स्वरूप को 'क्षर' कहते हैं और इससे

§§ अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

परे जो अक्षर तत्त्व है उसी को ब्रह्म समझना चाहिये। 'पुरुष' शब्द से सूर्य का पुरुष, जल का देवता या वरुणपुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित हैं और हिरण्यगर्भ का भी उसमें समावेश होता है। यहाँ भगवान् ने 'अधियज्ञ' शब्द की व्याख्या नहीं की। क्योंकि, यज्ञ के विषय में तीसरे और चौथे अध्यायों में विस्तारसहित वर्णन हो चुका है और फिर आगे भी कहा है, कि "सब यज्ञों का प्रभु और भोक्ता मैं ही हूँ" (देखो गी. ६. २४; ५. २६; और मभा. शां. ३४०)। इस प्रकार अध्यात्म आदि के लक्षण बतला कर अन्त में संक्षेप से कह दिया है, कि इस देह में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ अर्थात् मनुष्य-देह में अधिदेव और अधियज्ञ भी मैं हूँ। प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् आत्मा (पुरुष) मान कर सांख्यवादी कहते हैं, कि वे असंख्य हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र को यह मत मान्य नहीं है; उसने निश्चय किया है, कि यद्यपि देह अनेक हैं तथापि आत्मा सब में एक ही है (गीतार. पृ. १६५-१६६)। 'अधि-देह मैं ही हूँ' इस वाक्य में यही सिद्धान्त दर्शाया है; तो भी इस वाक्य के "मैं ही हूँ" शब्द केवल अधियज्ञ अथवा अधिदेह को ही उद्देश करके प्रयुक्त नहीं हैं, उनका सम्बन्ध अध्यात्म आदि पूर्वपदों से भी है। अतः समग्र अर्थ ऐसा होता है, कि अनेक प्रकार के यज्ञ, अनेक पदार्थों के अनेक देवता, विनाश-वान् पंचमहाभूत, पदार्थमात्र के सूक्ष्म भाग अथवा विभिन्न आत्मा, ब्रह्म, कर्म अथवा भिन्न-भिन्न मनुष्यों की देह—इन सब में 'मैं ही हूँ,' अर्थात् सब में एक ही परमेश्वरतत्त्व है। कुछ लोगों का कथन है, कि यहाँ 'अधिदेह' स्वरूप का स्वतन्त्र वर्णन नहीं है,अधियज्ञ की व्याख्या करने में अधिदेह का पर्याय से उल्लेख हो गया है;किन्तु हमें यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि न केवल गीता में ही, प्रत्युत उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों में भी (बृ. ३. ७; वेसू. १.२. २०) जहाँ यह विषय आया है, वहाँ अधिभूत आदि स्वरूपों के साथ ही साथ शरीर आत्मा का भी विचार किया है और सिद्धान्त किया है,कि सर्वत्र एक ही परमात्मा है। ऐसे ही गीता में जब कि अधिदेह के विषय में पहले ही प्रश्न हो चुका है,तब यहाँ उसी के पृथक् उल्लेख को विवक्षित मानना युक्तिसङ्गत है। यदि यह सच है,कि सब कुछ परब्रह्म ही है,तो पहले-पहल ऐसा बोध होना सम्भव है,कि उसके अधिभूत आदि स्वरूपों का वर्णन करते समय उसमें परब्रह्म को भी

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा मद्भावभावितः ॥ ६ ॥

शामिल कर लेने की कोई ज़रूरत न थी। परन्तु नानात्व-दर्शक यह वर्णन उन लोगों को लक्ष्य करके किया गया है कि जो ब्रह्म, आत्मा, देवता और यज्ञनारायण आदि अनेक भेद करके नाना प्रकार की उपासनाओं में उलझे रहते हैं; अतएव पहले वे लक्षण बतलाये गये हैं, कि जो उन लोगों की समझ के अनुसार होते हैं, और फिर सिद्धान्त किया गया है कि "यह सब मैं ही हूँ"। उक्त बात पर ध्यान देने से कोई भी शङ्का नहीं रह जाती। अस्तु, इस भेद का तत्त्व बतला दिया गया कि उपासना के लिये अधिभूत, अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदेह प्रभृति अनेक भेद करनेपर भी यह नानात्व सच्चा नहीं है; वास्तव में एक ही परमेश्वर सब में व्याप्त है। अब अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हैं, कि अन्तकाल में सर्वव्यापी भगवान् कैसे पहचाना जाता है—]

(५) और अन्तकाल में जो मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में निःसन्देह मिल जाता है। (६) अथवा हे कौन्तेय ! सदा जन्मभर उसी में रँगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है वह उसी भाव में जा मिलता है।

[पाँचवें श्लोक में, मरण-समय में परमेश्वर के स्मरण करने की आवश्यकता और फल बतलाया है। सम्भव है, इसमें कोई यह समझ ले, कि केवल मरण-काल में यह स्मरण करने से ही काम चल जाता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में यह बतलाया है, कि जो बात जन्मभर मन में रहती है वह मरणकाल में भी नहीं छूटती, अतएव न केवल मरणकाल में प्रत्युत जन्मभर परमेश्वर का स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है (गीतार. पृ.२८८)। इस सिद्धान्त को मान लेने से आप ही आप सिद्ध हो जाता है, कि अन्तकाल में परमेश्वर को भजनेवाले परमेश्वर को पाते हैं और देवताओं का स्मरण करनेवाले देवताओं को पाते हैं (गी. ७.२३; ८. १३ और ९.२५) क्योंकि, छान्दोग्य उपनिषद् के कथनानुसार " यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति " (छां. ३. १४.१)—इस लोक में मनुष्य का जैसा क्रतु अर्थात् सङ्कल्प होता है, मरने पर उसे वैसी ही गति मिलती है। छान्दोग्य के समान और उपनिषदों में भी ऐसे

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥
§§ कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरुपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

ही वाक्य हैं (प्र. ३. १०; मैत्र्यु.४.६) । परन्तु गीता अब यह कहती है, कि जन्मभर एक ही भावना से मन को रँगे विना अन्तकाल की यातना के समय वही भावना स्थिर नहीं रह सकती । अतएव आमरणान्त, जिन्दगी भर, परमेश्वर का ध्यान करना आवश्यक है (वेसू. ४.१.१२)—इस सिद्धान्त के अनुसार अर्जुन से भगवान् कहते हैं, कि]

(७) इसलिये सर्वकाल—सदैव ही—मेरा स्मरण करता रह और युद्ध कर । मुझ में मन और बुद्धि अर्पण करने से (युद्ध करनेपर भी) मुझमें ही निःसन्देह आ मिलेगा । (८) हे पार्थ ! चित्त को दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यास की सहायता से उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुप का ध्यान करते रहने से मनुष्य उसी पुरुष में जा मिलता है ।

[जो लोग भगवद्गीता में इस विषय का प्रतिपादन बतलाते हैं, कि संसार को छोड़ दो, और केवल भक्ति का ही अवलम्ब करो, उन्हें सातवें श्लोक के सिद्धान्त की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये । मोक्ष तो परमेश्वर की ज्ञानयुक्त भक्ति से मिलता है; और यह निर्विवाद है, कि मरण-समय में भी उसी भक्ति के स्थिर रहने के लिये जन्मभर वही अभ्यास करना चाहिये । गीता का यह अभिप्राय नहीं, कि इसके लिये कर्मों को छोड़ देना चाहिये; इसके विरुद्ध गीताशास्त्र का सिद्धान्त है, कि भगवद्भक्त को स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जाएँ उन सब को निष्कामबुद्धि से करते रहना चाहिये, और उसी सिद्धान्त को इन शब्दों से व्यक्त किया है कि "मेरा सदैव चिन्तन कर और युद्ध कर"। अब बतलाते हैं, कि परमेश्वरार्पण-बुद्धि से जन्मभर निष्काम कर्म करनेवाले कर्मयोगी अन्तकाल में भी दिव्य परम पुरुष का चिन्तन, किस प्रकार से करते हैं—]

(९-१०) जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रिय-निग्रहरूप योग के सामर्थ्य से, भक्तियुक्त हो कर मन को स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में प्राण को भली

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

भौंहों के बीच में प्राण को भली भाँति रख कर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सब के धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अन्धकार से परे, सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है, वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष में जा मिलता है। (११) वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग हो कर यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हैं, वह पद अर्थात् ॐकारब्रह्म तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ। (१२) सब (इन्द्रियरूपी) द्वारों का संयम कर और मन का हृदय में निरोध करके (एवं) मस्तक में प्राण ले जा कर समाधियोग में स्थित होनेवाला, (१३) इस एकाक्षर ब्रह्म ॐ का जप और मेरा स्मरण करता हुआ जो (मनुष्य) देह छोड़ कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

[श्लोक ९-११ में परमेश्वर के स्वरूप का जो वर्णन है, वह उपनिषदों से लिया गया है। नवें श्लोक का "अणोरणीयान्" पद और अन्त का चरण श्वेताश्वतर उपनिषद् का है (श्वे. ३. ८ और ९), एवं ग्यारहवें श्लोक का पूर्वार्ध अर्थतः और उत्तरार्ध शब्दशः कठ उपनिषद् का है (कठ. २. १५)। कठ उपनिषद् में "तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि" इस चरण के आगे "ओमित्येतत्" स्पष्ट कहा गया है; इससे प्रगट होता है, कि ११ वें श्लोक के 'अक्षर' और 'पद' शब्दों का अर्थ ॐवर्णाक्षर-रूपी ब्रह्म अथवा ॐ शब्द लेना चाहिये; और १३ वें श्लोक से भी प्रगट होता है, कि यहाँ ॐकारोपासना ही उद्दिष्ट है (देखो प्रश्न. ५)। तथापि यह नहीं कह सकते, कि भगवान् के मन में 'अक्षर'= अविनाशी ब्रह्म, और 'पद'=परम स्थान, ये अर्थ भी न होंगे। क्योंकि, ॐ वर्णमाला का एक अक्षर है; इसके सिवा यह कहा जा सकेगा, कि वह ब्रह्म के

§§ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

प्रतीक के नाते अविनाशी भी है (२१ वाँ श्लोक देखो), इसलिये ११ वें श्लोक के अनुवाद में 'अक्षर' और 'पद' ये दुहरे अर्थवाले मूल शब्द ही हमने रख लिये हैं। अब इस उपासना से मिलनेवाली उत्तम गति का अधिक निरूपण करते हैं—]

(१४) हे पार्थ! अनन्य भाव से सदा-सर्वदा जो मेरा नित्य स्मरण करता रहता है, उस नित्ययुक्त (कर्म-) योगी को मेरी प्राप्ति सुलभ रीति से होती है। (१५) मुझमें मिल जाने पर परमसिद्धि पाये हुए महात्मा उस पुनर्जन्म को नहीं पाते, कि जो दुःखों का घर है और अशाश्वत है। (१६) हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक (स्वर्ग आदि) जितने लोक हैं वहाँ से (कभी न कभी इस लोक में) पुनरावर्तन अर्थात् लौटना (पड़ता) है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझमें मिल जाने से पुनर्जन्म नहीं होता।

[सोलहवें श्लोक के 'पुनरावर्तन' शब्द का अर्थ पुण्य चुक जाने पर भूलोक में लौट आना है (देखो गी. ९.२१; मभा. वन. २६०)। यज्ञ, देवताराधन और वेदाध्ययन प्रभृति कर्मों से यद्यपि इन्द्रलोक, वरुणलोक, सूर्यलोक और हुआ तो ब्रह्मलोक प्राप्त हो जावे, तथापि पुण्यांश के समाप्त होते ही वहाँ से फिर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है (बृ. ४. ४. ६), अथवा अन्ततः ब्रह्मलोक का नाश हो जाने पर पुनर्जन्म-चक्र में तो ज़रूर ही गिरना पड़ता है। अतएव उक्त श्लोक का भावार्थ यह है, कि ऊपर लिखी हुई सब गतियाँ कम दर्जे की हैं और परमेश्वर के ज्ञान से ही पुनर्जन्म नष्ट होता है, इस कारण वही गति सर्वश्रेष्ठ है (गी. ९.२०,२१)। अन्त में जो यह कहा है, कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी अनित्य है, उसके समर्थन में बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक तक समस्त सृष्टि कि उत्पत्ति और लय वारंवार कैसे होता रहता है—]

§§ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

(१७) अहोरात्र को (तत्त्वतः) जाननेवाले पुरुष समझते हैं, कि (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का एक महायुग होता है और ऐसे) हज़ार (महा-) युगों का समय ब्रह्मदेव का एक दिन है, और (ऐसे ही) हज़ार युगों की (उसकी) एक रात्रि है।

[यह श्लोक इससे पहले के युगमान का हिसाब न देकर गीता में आया है; इसका अर्थ अन्यत्र बतलाते हुए हिसाब से करना चाहिये। यह हिसाब और गीता का यह श्लोक भी भारत (शां. २३१. ३१) और मनुस्मृति (१. ७३) में है, तथा यास्क के निरुक्त में भी यही अर्थ वर्णित है (निरुक्त. १४.९)। ब्रह्मदेव के दिन को ही कल्प कहते हैं। अगले श्लोक में अव्यक्त का अर्थ सांख्यशास्त्र की अव्यक्त प्रकृति है। अव्यक्त का अर्थ परब्रह्म नहीं है; क्योंकि २० वें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है, कि ब्रह्मरूपी अव्यक्त १८ वें श्लोक में वर्णित अव्यक्त से परे का और भिन्न है। गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ. १९३) में इसका पूरा खुलासा है, कि अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि कैसे होती है, और कल्प के काल-मान का हिसाब भी वहीं लिखा है।]

(१८) (ब्रह्मदेव के) दिन का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि होने पर उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। (१९) हे पार्थ! भूतों का यही समुदाय (इस प्रकार) बार बार उत्पन्न होकर अवश होता हुआ, अर्थात् इच्छा हो या न हो, रात होते ही लीन हो जाता है और दिन होने पर (फिर) जन्म लेता है।

[अर्थात् पुण्य कर्मों से नित्य ब्रह्मलोकवास प्राप्त भी हो जाय, तो भी प्रलय-काल में, ब्रह्मलोक ही का नाश हो जाने से फिर नये कल्प के आरम्भ में प्राणियों का जन्म लेना नहीं छूटता। इससे बचने के लिये जो एक ही मार्ग है, उसे बतलाते हैं—]

§§ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

(२०) किन्तु इस ऊपर बतलाये हुए अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है, कि जो सब भूतों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता, (२१) जिस अव्यक्त को 'अक्षर' (भी) कहते हैं, जो परम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा जाता है; (और) जिसे पाकर फिर (जन्म में) लौटते नहीं हैं, (वही) मेरा परम स्थान है। (२२) हे पार्थ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने इस सब को फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वह पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है ।

[बीसवाँ और इक्कीसवाँ श्लोक मिल कर एक वाक्य बना है। २० वें श्लोक का 'अव्यक्त' शब्द पहले सांख्यों की प्रकृति को, अर्थात् १८ वें श्लोक के अव्यक्त द्रव्य को लक्ष्य करके प्रयुक्त है और आगे वही शब्द सांख्यों की प्रकृति से परे, परब्रह्म के लिये भी उपयुक्त हुआ है; तथा २१ वें श्लोक में कहा है, कि इसी दूसरे अव्यक्त को 'अक्षर' भी कहत हैं। अध्याय के आरम्भ में भी "अक्षरं ब्रह्म परमं" यह वर्णन है। सारांश, 'अव्यक्त' शब्द के समान ही गीता में 'अक्षर' शब्द का भी दो प्रकार से उपयोग किया गया है। कुछ यह नहीं, कि सांख्यों की प्रकृति ही अव्यक्त और अक्षर है, किन्तु परमेश्वर या ब्रह्म भी, कि जो "सब भूतों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता," अव्यक्त तथा अक्षर है। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम के लक्षण बतलाते हुए जो यह वर्णन है, कि वह क्षर और अक्षर से परे का है, उससे प्रगट है कि वहाँ का 'अक्षर' शब्द सांख्यों की प्रकृति के लिये उद्दिष्ट है (देखो गी. १५. १६–१८)। ध्यान रहे, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' दोनों विशेषणों का प्रयोग गीता में कभी सांख्यों की प्रकृति के लिये, और कभी प्रकृति से परे परब्रह्म के लिये किया गया है (देखो गीतार. पृ. २०१ और २०२)। व्यक्त और अव्यक्त से परे जो परब्रह्म है, उसका स्वरूप गीतारहस्य के नववें प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है।

§§ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

[उस 'अक्षरब्रह्म' का वर्णन हो चुका, कि जिस स्थान में पहुँच जाने से मनुष्य पुनर्जन्म की चपेट से छूट जाता है। अब मरने पर जिन्हें लौटना नहीं पड़ता (अनावृत्ति), और जिन्हें स्वर्ग से लौट कर जन्म लेना पड़ता है (आवृत्ति), उनके बीच के समय का और गति का भेद बतलाते हैं—]

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह काल बतलाता हूँ, कि जिस काल में (कर्म-)योगी मरने पर (इस लोक में जन्मने के लिये) लौट नहीं आते, और (जिस काल में मरने पर) लौट आते हैं। (२४) अग्नि, ज्योति अर्थात् ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं (लौट कर नहीं आते)। (२५) (अग्नि) धुआँ, रात्रि, कृष्णपक्ष (और) दक्षिणायन के छः महीनों में मरा हुआ (कर्म-)योगी चन्द्र के तेज में अर्थात् लोक में जा कर (पुण्यांश घटने पर) लौट आता है। (२६) इस प्रकार जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय और अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानी स्थिर मार्ग हैं। एक मार्ग से जाने पर लौटना नहीं पड़ता और दूसरे से फिर लौटना पड़ता है।

[उपनिषदों में इन दोनों गतियों को देवयान (शुक्ल) और पितृयाण (कृष्ण), अथवा अर्चिर आदि मार्ग और धूम्र आदि मार्ग कहा है, तथा ऋग्वेद में भी इन मार्गों का उलेख है। मरे हुए मनुष्य की देह को अग्नि में जला देने पर, अग्नि से ही इन मार्गों का आरम्भ हो जाता है, अतएव पचीसवें श्लोक में 'अग्नि' पद का पहले श्लोक से अध्याहार कर लेना चाहिये। पचीसवें श्लोक का हेतु यही बतलाना है, कि प्रथम श्लोकों में वर्णित मार्ग में और दूसरे मार्ग में कहाँ भेद होता है; इसी से 'अग्नि' शब्द की पुनरावृत्ति इसमें नहीं की गई। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण के अन्त (पृ. २९९–२९८) में इस सम्बन्ध की

§§ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अधिक बातें हैं; उनसे उल्लिखित श्लोक का भावार्थ खुल जावेगा। अब बतलाते हैं, कि इन दोनों मार्गों का तत्त्व जान लेने से क्या फल मिलता है—]

(२७) हे पार्थ! इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला कोई भी (कर्म-) योगी मोह में नहीं फँसता; अतएव हे अर्जुन! तू सदा सर्वदा (कर्म-)योगयुक्त हो। (२८) इसे (उक्त तत्त्व को) जान लेने से वेद, यज्ञ, तप और दान में जो पुण्य-फल बतलाया है, (कर्म-) योगी उस सब को छोड़ जाता है और उसके परे आद्यस्थान को पा लेता है।

[जिस मनुष्य ने देवयान और पितृयाण दोनों के तत्त्व को जान लिया —अर्थात् यह ज्ञात कर लिया, कि देवयान मार्ग से मोक्ष मिल जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं मिलता, और पितृयाण मार्ग स्वर्गप्रद हो तो भी मोक्षप्रद नहीं है—वह इनमें से अपने सच्चे कल्याण के मार्ग को ही स्वीकार करेगा; वह मोह से निम्न श्रेणी के मार्ग को स्वीकार न करेगा। इसी बात को लक्ष्य कर पहले श्लोक में "इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों को (तत्त्वतः) जाननेवाला" ये शब्द आये हैं। इन श्लोकों का भावार्थ यों है:—कर्मयोगी जानता है, कि देवयान और पितृयाण दोनों मार्गों में से कौन मार्ग कहाँ जाता है तथा इसी में से जो मार्ग उत्तम है, उसे ही वह स्वभावतः स्वीकार करता है, एवं स्वर्ग के आवागमन से बच कर इससे परे मोक्ष-पद की प्राप्ति कर लेता है। और २७ वें श्लोक में तदनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश भी किया गया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

नवमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

नवाँ अध्याय।

[सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का निरुपण यह दिखलाने के लिये किया गया है, कि कर्मयोग का आचरण करनेवाले पुरुष को परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान हो कर मन की शान्ति अथवा मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होती है। अक्षर और अव्यक्त पुरुष का स्वरूप भी बतला दिया गया है। पिछले अध्याय में कहा गया है, कि अन्तकाल में भी उसी स्वरूप को मन में स्थिर बनाये रखने के लिये पातंजल-योग से समाधि लगा कर, अन्त में ॐकार की उपासना की जावे। परन्तु पहले तो अक्षरब्रह्म का ज्ञान होना ही कठिन है, और फिर उसमें भी समाधि की आवश्यकता होने से साधारण लोगों को यह मार्ग ही छोड़ देना पड़ेगा! इस कठिनाई पर ध्यान देकर अब भगवान् ऐसा राजमार्ग बतलाते हैं, कि जिससे सब लोगों को परमेश्वर का ज्ञान सुलभ हो जावे। इसी को भक्तिमार्ग कहते हैं। गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में हमने उसका विस्तारसहित विवेचन किया है। इस मार्ग में परमेश्वर का स्वरूप प्रेमगम्य और व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष जानने योग्य रहता है; उसी व्यक्त स्वरूप का विस्तृत निरूपण नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में किया गया है। तथापि स्मरण रहे, कि यह भक्तिमार्ग भी स्वतन्त्र नहीं है—कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ किया गया है, उसी का यह भाग है। और इस अध्याय का आरम्भ भी पीछले ज्ञान-विज्ञान के अङ्ग की दृष्टि से ही किया गया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) अब तू दोषदर्शी नहीं है, इसलिये गुह्य से भी गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ, कि जिसके जान लेने से पाप से मुक्त होगा। (२) यह (ज्ञान) समस्त गुह्यों में राजा अर्थात् श्रेष्ठ है; यह राजविद्या अर्थात् सब विद्याओं में श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष बोध देनेवाला है;

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
§§ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यह आचरण करने में सुखकारक, अव्यय और धर्म्य है । (३) हे परन्तप ! इस पर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे नहीं पाते; वे मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में लौट आते हैं; (अर्थात् उन्हें मोक्ष नहीं मिलता) ।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४११–४१६) में दूसरे श्लोक के 'राजविद्या,' 'राजगुह्य,' और 'प्रत्यक्षावगम' पदों के अर्थों का विचार किया गया है । ईश्वर-प्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में 'विद्या' कहा है, और यह विद्या गुप्त रखी जाती थी । कहा है, कि भक्तिमार्ग अथवा व्यक्त की उपासनारूपी विद्या सब गुह्य विद्याओं में श्रेष्ठ अथवा राजा है; इसके अतिरिक्त यह धर्म आँखों से प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला और इसी से आचरण करने में सुलभ है । तथापि इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की परम्परा से ही इस योग का प्रचार हुआ है, (गी. ४. २), इसलिये इस मार्ग को राजाओं अर्थात् बड़े आदमियों की विद्या—राजविद्या—कह सकेंगे । कोई भी अर्थ क्यों न लीजिये, प्रगट है कि अक्षर या अव्यक्त ब्रह्म के ज्ञान को लक्ष्य करके यह वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु राजविद्या शब्द से यहाँ पर भक्तिमार्ग ही विवक्षित है । इस प्रकार आरम्भ में ही इस मार्ग की प्रशंसा कर भगवान् अब विस्तार से उसका वर्णन करते हैं—]

(४) मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस समग्र जगत् को फैलाया अथवा व्याप्त किया है । मुझमें सब भूत हैं, (परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ । (५) और मुझमें सब भूत भी नहीं हैं ! देखो, (यह कैसी) मेरी ईश्वरी करनी या योगसामर्थ्य है ! भूतों को उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा, उनका पालन करके भी (फिर) उनमें नहीं है ! (६) सर्वत्र बहनेवाली महान् वायु जिस प्रकार सर्वदा आकाश में रहती है, उसी प्रकार सब भूतों को मुझमें समझ ।

§§ सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

[यह विरोधाभास इसलिये होता है, कि परमेश्वर निर्गुण भी है और सगुण भी है (सातवें अध्याय के १२ वें श्लोक की टिप्पणी, और गीतारहस्य पृ. २०९, २०८ और २०९ देखो)। इस प्रकार अपने स्वरूप का आश्चर्यकारक वर्णन करके अर्जुन की जिज्ञासा को जागृत कर चुकने पर अब भगवान् फिर कुछ फेर-फार से वही वर्णन प्रसङ्गानुसार करते हैं, कि जो सातवें और आठवें अध्याय में पहले किया जा चुका है—अर्थात् हम से व्यक्त सृष्टि किस प्रकार होती है और हमारे व्यक्त रूप कौन से हैं (गी. ७. ४–१८; ८. १७–२०)। 'योग' शब्द का अर्थ यद्यपि अलौकिक सामर्थ्य या युक्ति किया जाय, तथापि स्मरण रहे कि, अव्यक्त से व्यक्त होने के इस योग अथवा युक्ति को ही माया कहते हैं। इस विषय का प्रतिपादन गीता ७. २५ की टिप्पणी में और रहस्य के नवम प्रकरण (२३६–२४०) में हो चुका है। परमेश्वर को यह 'योग' अत्यन्त सुलभ है; किंबहुना यह परमेश्वर का दास ही है, इसलिये परमेश्वर को योगेश्वर (गी. १८. ७५) कहते हैं। अब बतलाते हैं, कि इस योग-सामर्थ्य से जगत् की उत्पत्ति और नाश कैसे हुआ करते हैं—]

(७) हे कौन्तेय ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं और कल्प के आरम्भ में (ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में) उनको मैं ही फिर निर्माण करता हूँ। (८) मैं अपनी प्रकृति को हाथ में ले कर, (अपने अपने कर्मों से बँधे हुए) भूतों के इस समूचे समुदाय को पुनः पुनः निर्माण करता हूँ, कि जो (उस) प्रकृति के क़ाबू में रहने से अवश अर्थात् परतन्त्र है। (९) (परन्तु) हे धनञ्जय ! इस (सृष्टि-निर्माण करने के) काम में मेरी आसक्ति नहीं है, मैं उदासीन सा रहता हूँ, इस कारण मुझे वे कर्म बन्धक नहीं होते। (१०) मैं अध्यक्ष हो कर प्रकृति

हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥
§§ अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
§§ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता हूँ। हे कौन्तेय ! इस कारण जगत् का यह बनना-विगड़ना हुआ करता है।

[पिछले अध्याय में बतला आये हैं, कि ब्रह्मदेव के दिन का (कल्प का) आरम्भ होते ही अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त सृष्टि बनने लगती है (८.१८)। यहाँ इसी का अधिक खुलासा किया है, कि परमेश्वर प्रत्येक के कर्मानुसार उसे भला-बुरा जन्म देता है, अतएव वह स्वयं इन कर्मों से अलिप्त है। शास्त्रीय प्रतिपादन में ये सभी तत्त्व एक ही स्थान में बतला दिये जाते हैं। परन्तु गीता की पद्धति संवादात्मक है, इस कारण प्रसङ्ग के अनुसार एक विषय थोड़ा सा यहाँ और थोड़ा सा वहाँ इस प्रकार वर्णित है। कुछ लोगों की दलील है, कि दसवें श्लोक में ' जगद्विपरिवर्तते ' पद विवर्त-वाद को सूचित करते हैं। परन्तु ' जगत् का बनना-विगड़ना हुआ करता है,' अर्थात् 'व्यक्त का अव्यक्त और फिर अव्यक्त का व्यक्त होता रहता है' हम नहीं समझते, कि इसकी अपेक्षा 'विपरिवर्तते' पद का कुछ अधिक अर्थ हो सकता है। और शाङ्करभाष्य में भी और कोई विशेष अर्थ नहीं बतलाया गया है। गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया गया है, कि मनुष्य कर्म से अवश कैसे होता है।]

(११) मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते, कि जो सब भूतों का महान् ईश्वर है; वे मुझे मानव-तनुधारी समझ कर मेरी अवहेलना करते हैं। (१२) उनकी आशा व्यर्थ, कर्म फ़िज़ूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट है, वे मोहात्मक राक्षसी और आसुरी स्वभाव का आश्रय किये रहते हैं।

[यह आसुरी स्वभाव का वर्णन है। अब दैवी स्वभाव का वर्णन करते हैं—]

(१३) परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति का आश्रय करनेवाले महात्मा लोग सब भूतों के अव्यय आदिस्थान मुझको पहचान कर अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं;

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५ ॥
§§ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

(१४) और यत्नशील, दृढ़व्रत एवं नित्य योग-युक्त हो सदा मेरी कीर्तन और वन्दना करते हुए भक्ति से मेरी उपासना किया करते हैं। (१५) ऐसे ही और कुछ लोग एकत्व से अर्थात् अभेदभाव से, पृथक्त्व से अर्थात् भेदभाव से, या अनेक भाँति के ज्ञान-यज्ञ से यजन कर मेरी—जो सर्वतोमुख हूँ—उपासना किया करते हैं।

[संसार में पाये जानेवाले दैवी और राक्षसी स्वभावों के पुरुषों का यहाँ जो संक्षिप्त वर्णन है, उसका विस्तार आगे सोलहवें अध्याय में किया गया है। पहले बतला ही आये हैं, कि ज्ञान-यज्ञ का अर्थ "परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना" है (गी. ४. ३३ की टिप्पणी देखो)। किन्तु परमेश्वर का यह ज्ञान भी द्वैत-अद्वैत आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो सकता है; इस कारण ज्ञान-यज्ञ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान-यज्ञ अनेक हों, तो भी पन्द्रहवें श्लोक का तात्पर्य यह है, कि परमेश्वर के विश्वतोमुख होने के कारण, ये सब यज्ञ उसे ही पहुँचते हैं। 'एकत्व,' 'पृथक्त्व' आदि पदों से प्रगट है, कि द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय यद्यपि अर्वाचीन हैं, तथापि ये कल्पनाएँ प्राचीन हैं। इस श्लोक में परमेश्वर का एकत्व और पृथक्त्व बतलाया गया है, अब उसी का अधिक निरूपण कर बतलाते हैं कि पृथक्त्व में एकत्व क्या है—]

(१६) क्रतु अर्थात् श्रौत यज्ञ मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्त यज्ञ मैं हूँ, स्वधा अर्थात् श्राद्ध में पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न मैं हूँ, औषध अर्थात् वनस्पति से (यज्ञ के अर्थ) उत्पन्न हुआ अन्न मैं हूँ, (यज्ञ में हवन करते समय पढ़े जाने-वाले) मन्त्र मैं हूँ, घृत, अग्नि और (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ।

[मूल में क्रतु और यज्ञ दोनों शब्द समानार्थक ही हैं। परन्तु जिस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया और देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथिसत्कार, प्राणायाम एवं जप इत्यादि कर्मों को भी 'यज्ञ' कहने लगे (गी. ४. २३–३०),

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

उस प्रकार 'क्रतु' शब्द का अर्थ बढ़ने नहीं पाया। श्रौतधर्म में अश्वमेध आदि जिन यज्ञों के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका वही अर्थ आगे भी स्थिर रहा है। अतएव शांकरभाष्य में कहा है, कि इस स्थल पर 'क्रतु' शब्द से 'श्रौत' यज्ञ और 'यज्ञ' शब्द से 'स्मार्त' यज्ञ समझना चाहिये; और ऊपर हमने यही अर्थ किया है। क्योंकि ऐसा न करें तो 'क्रतु' और 'यज्ञ' शब्द समानार्थक होकर इस श्लोक में उनकी अकारण द्विरुक्ति करने का दोष लगता है।]

(१७) इस जगत् का पिता, माता, धाता (आधार), पितामह (बाबा) मैं हूँ, जो कुछ पवित्र या जो कुछ ज्ञेय है वह और ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद, तथा यजुर्वेद भी मैं हूँ, (१८) (सब की) गति, (सब का) पोषक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान और अव्यय बीज भी मैं हूँ। (१९) हे अर्जुन! मैं उष्णता देता हूँ, मैं पानी को रोकता और बरसाता हूँ; अमृत और मृत्यु, सत् और असत् भी मैं हूँ।

[परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन फिर विस्तार सहित १०,११ और १२ अध्यायों में है। तथापि यहाँ केवल विभूति न बतला कर यह विशेषता दिखलाई है, कि परमेश्वर का और जगत् के भूतों का सम्बन्ध मा-बाप और मित्र इत्यादि के समान है; इन दो स्थानों के वर्णनों में यही भेद है। ध्यान रहे, कि पानी को बरसाने और रोकने में एक क्रिया चाहे हमारी दृष्टि से फ़ायदे की और दूसरी नुकसान की हो, तथापि तात्त्विक दृष्टि से दोनों को परमेश्वर ही करता है, इसी अभिप्राय को मन में रख कर पहले (गी. ७. १२) भगवान् ने कहा है कि सात्त्विक, राजस और तामस सब पदार्थ मैं ही उत्पन्न करता हूँ; और आगे चौदहवें अध्याय में विस्तार सहित वर्णन किया है, कि गुणत्रय-विभाग से सृष्टि में नानात्व उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से २१ वें श्लोक के सत् और असत् पदों का क्रम से 'भला' और 'बुरा' यह अर्थ किया जा सकेगा, और आगे गीता

§§ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनः पर्युपासते ।

(१७.२६-२८) में एक बार ऐसा अर्थ किया भी गया है। परन्तु जान पड़ता है, कि इन शब्दों के सत्=अविनाशी और असत्=विनाशी या नाशवान् ये जो सामान्य अर्थ हैं (गी. २. १६), वेही इस स्थान में अभीष्ट होंगे; और 'मृत्यु और अमृत' के समान 'सत् और असत्' द्वन्द्वात्मक शब्द ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से सूझ पड़े होंगे। तथापि दोनों में भेद है; नासदीय सूक्त में 'सत्' शब्द का उपयोग दृश्य सृष्टि के लिये किया गया है और गीता 'सत्' शब्द का उपयोग परब्रह्म के लिये करती है एवं दृश्य सृष्टि को असत् कहती है (देखो गीतार. पृ. २४३-२४६)। किन्तु इस प्रकार परिभाषा का भेद हो तो भी 'सत्' और 'असत्' दोनों शब्दों की एक साथ योजना से प्रगट हो जाता है, कि इनमें दृश्य सृष्टि और परब्रह्म दोनों का एकत्र समावेश होता है। अतः यह भावार्थ भी निकाला जा सकेगा, कि परिभाषा के भेद से किसी को भी 'सत्' और 'असत्' कहा जाय, किन्तु यह दिखलाने के लिये कि दोनों परमेश्वर के ही रूप हैं, भगवान् ने 'सत्' और 'असत्' शब्दों की व्याख्या न दे कर सिर्फ यह वर्णन कर दिया है, कि 'सत्' और 'असत्' मैं ही हूँ (देखो गी. ११. ३७ और १३.१२)। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर के रूप अनेक हैं, तथापि अब बतलाते हैं, कि उनकी एकत्व से उपासना करने और अनेकत्व से उपासना करने में भेद है—]

(२०) जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों के कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले अर्थात् सोमयाजी तथा निष्पाप (पुरुष) यज्ञ से मेरी पूजा करके स्वर्गलोक प्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इन्द्र के पुण्यलोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं। (२१) और उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके, पुण्य का क्षय हो जाने पर वे (फिर जन्म लेकर) मृत्युलोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म अर्थात् तीनों वेदों के यज्ञ-याग आदि श्रौत धर्म के पालनेवाले और काम्य उपभोग की इच्छा करनेवाले लोगों को (स्वर्ग का) आवागमन प्राप्त होता है।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥
§§ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

[यह सिद्धान्त पहले कई बार आ चुका है, कि यज्ञ-याग आदि धर्म से या नाना प्रकार के देवताओं की आराधना से कुछ समय तक स्वर्गवास मिल जाय, तो भी पुण्यांश चुक जाने पर उन्हें फिर जन्म ले करके भूलोक में आना पड़ता है (गी. २. ४२-४४; ४.३४; ६. ४१; ७. २३; ८. १६ और २५)। परन्तु मोक्ष में वह झंझट नहीं है, वह नित्य है, अर्थात् एक बार परमेश्वर को पा लेने पर फिर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता। महाभारत (वन.२६०) में स्वर्गसुख का जो वर्णन है, वह भी ऐसा ही है। परंतु यज्ञ-याग आदि से पर्जन्य प्रभृति की उत्पत्ति होती है, अतएव शङ्का होती है, कि इनको छोड़ देने से इस जगत् का योग-क्षेम अर्थात् निर्वाह कैसे होगा (देखो गी. २. ४५ की टिप्पणी और गीतार. पृ. २९३)। इसलिये अब ऊपर के श्लोकों से मिला कर ही इसका उत्तर देते हैं—]

(२२) जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिन्तन कर मुझे भजते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं किया करता हूँ।

[जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटाने का नाम है योग, और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है क्षेम। शाश्वतकोश में भी (देखो १०० और २९२ श्लोक) योग-क्षेम की ऐसी ही व्याख्या है, और उसका पूरा अर्थ 'सांसारिक नित्य निर्वाह' है। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३८३-३८४) में इसका विचार किया गया है, कि कर्मयोग-मार्ग में इस श्लोक का क्या अर्थ होता है। इसी प्रकार नारायणीय धर्म (मभा. शां. ३४८. ७२) में भी वर्णन है कि—

मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

ये पुरुष एकान्तभक्त हों तो भी प्रवृत्तिमार्ग के हैं, अर्थात् निष्काम-बुद्धि से कर्म किया करते हैं। अब बतलाते हैं, कि परमेश्वर की बहुत्व से सेवा करनेवालों को अन्त में कौन गति होती है—]

(२३) हे कौन्तेय! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं के भक्त बन करके जो लोग यजन करते हैं, वे भी विधिपूर्वक न हो, तो भी (पर्याय से) मेरा ही यजन करते हैं;

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

(२४) क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। किन्तु वे तत्त्वतः मुझे नहीं जानते, इसलिये वे लोग गिर जाया करते हैं।

[गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४१९–४२३) में यह विवेचन है, कि इन दोनों श्लोकों के सिद्धान्त का महत्त्व क्या है। वैदिक धर्म में यह तत्त्व; बहुत पुराने समय से चला आरहा है, कि कोई भी देवता हो, वह भगवान् का ही एक स्वरूप है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में ही कहा है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ. १. १६४. ४६)—परमेश्वर एक है, परन्तु पण्डित लोग उसी को अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहा करते हैं, और इसी के अनुसार आगे के अध्याय में परमेश्वर के एक होनेपर भी उसकी अनेक विभूतियों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार महाभारत के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में, चार प्रकार के भक्तों में कर्म करनेवाले एकान्तिक भक्त को श्रेष्ठ (गी. ७. १९ की टिप्पणी देखो) बतला कर कहा है—

ब्रह्माणं शितिकंठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम् ॥

"ब्रह्मा को, शिव को, अथवा और दूसरे देवताओं को भजनेवाले साधु पुरुष भी मुझमें ही आ मिलते हैं" (मभा. शां. ३४१. ३५), और गीता के उक्त श्लोकों का अनुवाद भागवतपुराण में भी किया गया है (देखो भाग. १०. पू. ४०. ८–१०)। इसी प्रकार नारायणीयोपाख्यान में फिर भी कहा है—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते।

"देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गो प्रभृति की सेवा करनेवाले पर्याय से विष्णु का ही यजन करते हैं (मभा. शां. ३४५. २६, २७)। इस प्रकार भागवतधर्म के स्पष्ट कहने पर भी, कि भक्ति को मुख्य मानो, देवतारूप प्रतीक गौण है, यद्यपि विधिभेद हों तथापि उपासना तो एक ही परमेश्वर की होती है; यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि भागवतधर्मवाले शैवों से झगड़े किया करते है! यद्यपि यह सत्य है, कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें, पर वह पहुँचती भगवान् को ही है; तथापि यह ज्ञान न होने से, कि सभी देवता एक हैं,

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
§§ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

मोक्ष की राह छूट जाती है और भिन्न भिन्न देवताओं के उपासकों को, उनकी भावना को अनुसार भगवान् ही भिन्न भिन्न फल देते हैं—]

(२५) देवताओं का व्रत करनेवाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करनेवाले पितरों के पास, (भिन्न भिन्न) भूतों को पूजनेवाले (उन) भूतों के पास जाते हैं; और मेरा यजन करनेवाले मेरे पास आते हैं।

[सारांश, यद्यपि एक ही परमेश्वर सर्वत्र समाया हुआ है, तथापि उपासना का फल, प्रत्येक के भाव के अनुरूप न्यून-अधिक योग्यता का, मिला करता है। फिर भी इस पूर्व कथन को भूल न जाना चाहिये, कि यह फल-दान का कार्य देवता नहीं करते—परमेश्वर ही करता है (गी. ७. २०–२३)। ऊपर २४ वें श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है, कि "सब यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ" उसका तात्पर्य यही है। महाभारत में भी कहा है—

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम् ।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥

"जो पुरुष जिस भाव में निश्चय रखता है, वह उस भाव के अनुरूप ही फल पाता है" (शां. ३५२. ३), और श्रुति भी है "यं यथा यथोपासते तदेव भवति" (गी. ८. ६. की टिप्पणी देखो)। अनेक देवताओं की उपासना करनेवाले को (नानात्व से), जो फल मिलता है उसे पहले चरण में बतला कर दूसरे चरण में यह अर्थ वर्णन किया है, कि अनन्य भाव से भगवान् की भक्ति करनेवालों को ही सच्ची भगवत्प्राप्ति होती है। अब भक्तिमार्ग के महत्त्व का यह तत्त्व बतलाते हैं, कि भगवान् इस ओर न देख कर कि हमारा भक्त हमें क्या समर्पण करता है, केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि दे करके उसकी भक्ति को स्वीकार करते हैं—]

(२६) जो मुझे भक्ति से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा (यथाशक्ति) थोड़ा सा जल भी अर्पण करता है, उस प्रयतात्म अर्थात् नियतचित्त पुरुष की भक्ति की भेंट को मैं (आनन्द से) ग्रहण करता हूँ।

§§ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा वमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

[कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है (गी. २. ४९)—यह कर्मयोग का तत्त्व है; उसका जो रूपान्तर भक्तिमार्ग में होजाता है, उसी का वर्णन उक्त श्लोक में है (देखो गीतार. पृ. ४७३–४७५)। इस विषय में सुदामा के तन्दुलों की बात प्रसिद्ध है और यह श्लोक भागवतपुराण में, सुदामा-चरित के उपाख्यान में भी आया है (भाग. १० उ. ८१. ४)। इसमें सन्देह नहीं, कि पूजा के द्रव्य अथवा सामग्री का न्यूनाधिक होना सर्वथा और सर्वदा मनुष्य के हाथ में नहीं भी रहता। इसी से शास्त्र में कहा है, कि यथाशक्ति प्राप्त होनेवाले स्वल्प पूजा-द्रव्य से ही नहीं, प्रत्युत शुद्ध भाव से समर्पण किये हुए मानसिक पूजाद्रव्यों से भी भगवान् सन्तुष्ट हो जाते हैं। देवता भाव का भूखा है, न कि पूजा की सामग्री का। मीमांसक-मार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग में जो कुछ विशेषता है, वह यही है। यज्ञ-याग करने के लिये बहुत सी सामग्री जुटानी पड़ती है और उद्योग भी बहुत करना पड़ता है; परन्तु भक्ति-यज्ञ एक तुलसीदल से भी हो जाता है। महाभारत में कथा है, कि जब दुर्वासऋषि घर पर आये, तब द्रौपदी ने इसी प्रकार के यज्ञ से भगवान् को सन्तुष्ट किया था। भगवद्भक्त जिस प्रकार अपने कर्म करता है, अर्जुन को उसी प्रकार करने का उपदेश देकर बतलाते हैं, कि इससे क्या फल मिलता है—]

(२७) हे कौन्तेय! तू जो (कुछ) करता है, जो खाता है, होम-हवन करता है, जो दान करता है (और) जो तप करता है, वह (सब) मुझे अर्पण किया कर। (२८) इस प्रकार बर्तने से (कर्म करके भी) कर्मों के शुभ-अशुभ फल-रूप बन्धनों से तू मुक्त रहेगा, और (कर्मफलों के) संन्यास करने के इस योग से युक्तात्मा अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण हो कर मुक्त हो जायगा एवं मुझमें मिल जायगा।

[इससे प्रगट होता है, कि भगवद्भक्त भी कृष्णार्पणबुद्धि से समस्त कर्म करे, उन्हें छोड़ न दे। इस दृष्टि से ये दोनों श्लोक महत्त्व के हैं। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" यह ज्ञान-यज्ञ का तत्त्व है (गी. ४. २४), इसे ही भक्ति की परिभाषा के अनुसार इस श्लोक में बतलाया है (देखो गीतार. पृ. ४३० और ४३१)।

§§ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
अप चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

[तीसरे ही अध्याय में अर्जुन से कह दिया है, कि "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" (गी. ३. ३०)—मुझ में सब कर्मों का संन्यास करके—युद्ध कर; और पाँचवें अध्याय में फिर कहा है, कि "ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करके सङ्ग-रहित कर्म करनेवाले को, कर्म का लेप नहीं लगता" (५.१०)। गीता के मतानुसार यही यथार्थ संन्यास है (गी. १८. २)। इस प्रकार अर्थात् कर्म-फलाशा छोड़ कर (संन्यास) सब कर्मों को करनेवाला पुरुष ही 'नित्यसंन्यासी' है (गी. ५.३); कर्मत्यागरूप संन्यास गीता को सम्मत नहीं है। पीछे अनेक स्थलों पर कह चुके हैं, कि इस रीति से किये हुए कर्म मोक्ष के लिये प्रतिबन्धक नहीं होते (गी. २. ६४; ३. १९; ४. २३; ५. १२; ६. १; ८. ७), और इस २८ वें श्लोक में उसी बात को फिर कहा है। भागवतपुराण में ही नृसिंहरूप भगवान् ने प्रल्हाद को यह उपदेश किया है. कि "मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः"—मुझमें चित्त लगा कर सब काम किया कर (भाग. ७. १०. २३), और आगे एकादश स्कन्ध में भक्तियोग का यह तत्त्व बतलाया है, कि भगवद्भक्त सब कर्मों को नारायणार्पण कर दे (देखो भाग. ११. २. ३६ और ११. ११. २४)। इस अध्याय के आरम्भ में वर्णन किया है, कि भक्ति का मार्ग सुखकारक और सुलभ है। अब उसके समत्वरूपी दूसरे बड़े और विशेष गुण का वर्णन करते हैं—]

(२९) मैं सब को एक सा हूँ। न मुझे (कोई) द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है और न (कोई) प्यारा। भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ। (३०) बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये। क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। (३१) वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। हे कौन्तेय! तू खूब समझे रह, कि मेरा भक्त (कभी भी) नष्ट नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

[तीसवें श्लोक का भावार्थ ऐसा न समझना चाहिये, कि भगवद्भक्त यदि दुराचारी हों, तो भी वे भगवत् को प्यारे ही रहते हैं। भगवान् इतना ही कहते हैं, कि पहले कोई मनुष्य दुराचारी भी रहा हो, परन्तु जब एक बार उसकी बुद्धि का निश्चय परमेश्वर का भजन करने में हो जाता है, तब उसके हाथ से फिर कोई भी दुष्कर्म नहीं हो सकता; और वह धीरे-धीरे धर्मात्मा हो कर सिद्धि पाता है तथा इसी सिद्धि से उसके पाप का बिलकुल नाश हो जाता है। सारांश, छटे अध्याय (६. ४४) में जो यह सिद्धान्त किया था, कि कर्मयोग के जानने की सिर्फ इच्छा होने से ही, लाचार हो कर, मनुष्य शब्दब्रह्म से परे चला जाता है, अब उसे ही भक्तिमार्ग के लिये लागू कर दिखलाया है। अब इस बात का अधिक खुलासा करते हैं,कि परमेश्वर सब भूतों को एक सा कैसे है—]
(३२) क्योंकि हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र अथवा अन्त्यज आदि जो पापयोनि हों वे भी,परम गति पाते हैं। (३३) फिर पुण्यवान् ब्राह्मणों की, मेरे भक्तों की और राजर्षियों, क्षत्रियों की बात क्या कहनी है ? तू इस अनित्य और असुख अर्थात् दुःखकारक मृत्यु लोक में है, इस कारण मेरा भजन कर।

[३२ वें श्लोक के ' पापयोनि ' शब्द को स्वतन्त्र न मान कुछ टीकाकार कहते हैं, कि वह स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी लागू है, क्योंकि पहले कुछ न कुछ पाप किये बिना कोई भी स्त्री, वैश्य या शूद्र का जन्म नहीं पाता। उनके मत में पापयोनि शब्द साधारण है और उसके भेद बतलाने के लिये स्त्री, वैश्य तथा शूद्र उदाहरणार्थ दिये गये हैं। परन्तु हमारी राय में यह अर्थ ठीक नहीं है। पापयोनि शब्द से वह जाति विवक्षित है, जिसे कि आजकल राज-दरबार में " ज़रायम-पेशा क़ौम " कहते हैं; इस श्लोक का सिद्धान्त यह है, कि इस जाति के लोगों को भी भगवद्भक्ति से सिद्धि मिलती है। स्त्री, वैश्य और शूद्र कुछ इस वर्ग के नहीं हैं; उन्हें मोक्ष मिलने में इतनी ही बाधा है,कि वे वेद सुनने के अधिकारी नहीं हैं। इसी से भागवतपुराण में कहा है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

"स्त्रियों, शूद्रों अथवा कलियुग के नामधारी ब्राह्मणों के कानों में वेद नहीं पहुँचता, इस कारण उन्हें मूर्खता से बचाने के लिये व्यास मुनि ने कृपालु होकर उनके कल्याणार्थ महाभारत की—अर्थात् गीता की भी—रचना की" (भाग. १. ४.२५)। भगवद्गीता के ये श्लोक कुछ पाठभेद से अनुगीता में भी पाये जाते हैं (मभा. अश्व. १९. ६१,६२)। जाति का, वर्ण का, स्त्री-पुरुष आदि का, अथवा काले-गोरे रङ्ग प्रभृति का कोई भी भेद न रख कर सब को एक ही से सद्गति देनेवाले भगवद्भक्ति के इस राजमार्ग का ठीक बड़प्पन इस देश की और विशेषतः महाराष्ट्र की सन्तमण्डली के इतिहास से किसी को भी ज्ञात हो सकेगा। उल्लिखित श्लोक का अधिक खुलासा गीतारहस्य के पृ. ४३७–४४० में देखो। इस प्रकार के धर्म का आचरण करने के विषय में, ३३ वें श्लोक के उत्तरार्ध में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, अगले श्लोक में वही चल रहा है।]

(३४) मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार मत्परायण हो कर, योग का अभ्यास करने से मुझे ही पावेगा।

[वास्तव में इस उपदेश का आरम्भ ३३ वें श्लोक में ही हो गया है। ३३वें श्लोक में 'अनित्य' पद अध्यात्मशास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार आया है, कि प्रकृति का फैलाव अथवा नाम-रूपात्मक दृश्य-सृष्टि अनित्य है और एक परमात्मा ही नित्य है; और 'असुख' पद में इस सिद्धान्त का अनुवाद है, कि इस संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है। तथापि यह वर्णन अध्यात्म का नहीं है, भक्तिमार्ग का है। अतएव भगवान् ने परब्रह्म अथवा परमात्मा शब्द का प्रयोग न करके 'मुझे भज, मुझमें मन लगा, मुझे नमस्कार कर,' ऐसे व्यक्तस्वरूप के दर्शानेवाले प्रथम पुरुष का निर्देश किया है। भगवान् का अन्तिम कथन है

दशमोऽध्याय।

श्रीभगवानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

कि, हे अर्जुन! इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ योग अर्थात् कर्मयोग का अभ्यास करता रहेगा तो (देखो गी.७. १) तू कर्मबन्धन से मुक्त हो करके निःसन्देह मुझे पा लेगा। इसी उपदेश की पुनरावृत्ति ग्यारहवें अध्याय के अन्त में की गई है। गीता का रहस्य भी यही है। भेद इतना ही है,कि उस रहस्य को एक वार अध्यात्मदृष्टि से और एक वार भक्तिदृष्टि से बतला दिया है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में,ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग–अर्थात् कर्मयोग–शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, राजविद्या-राजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

दसवाँ अध्याय।

[पिछले अध्याय में कर्मयोग की सिद्धि के लिये,परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की उपासना का जो राजमार्ग बतलाया गया है,उसी का इस अध्याय में वर्णन हो रहा है; और अर्जुन के पूछने पर परमेश्वर के अनेक व्यक्त रूपों अथवा विभूतियों का वर्णन किया गया है। इस वर्णन को सुन कर अर्जुन के मन में भगवान् के प्रत्यक्ष स्वरूप को देखने की इच्छा हुई; अतः ११वें अध्याय में भगवान् ने उसे विश्वरूप दिखला कर कृतार्थ किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे महाबाहु! (मेरे भाषण से) सन्तुष्ट होनेवाले तुझसे, तेरे हितार्थ मैं फिर (एक) अच्छी बात कहता हूँ, उसे सुन। (२) देवताओं के गण और महर्षि भी मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते;क्योंकि देवताओं और महर्षि का सब प्रकार से मैं ही आदिकारण हूँ। (३) जो जानता है कि, मैं

§§ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

(पृथिवी आदि सब) लोकों का बड़ा ईश्वर हूँ, और मेरा जन्म तथा आदि नहीं है; मनुष्यों में वही मोह-विरहित हो कर सब पापों से मुक्त होता है।

[ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में यह विचार पाया जाता है, कि भगवान् या परब्रह्म देवताओं के भी पहले का है, देवता पीछे से हुए (देखो गीतार. प्र. ९. पृ. २४५)। इस प्रकार प्रस्तावना हो गई। अब भगवान् इसका निरूपण करते हैं, कि मैं सब का महेश्वर कैसे हूँ—]

(४) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उत्पत्ति), अभाव (नाश), भय, अभय, (५) अहिंसा, समता, तुष्टि (सन्तोष), तप, दान, यश और अयश आदि अनेक प्रकार के प्राणिमात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

['भाव' शब्द का अर्थ है 'अवस्था,' 'स्थिति' या 'वृत्ति' और सांख्यशास्त्र में 'बुद्धि के भाव' एवं 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है। सांख्य-शास्त्री पुरुष को अकर्त्ता और बुद्धि को प्रकृति का एक विकार मानते हैं, इस-लिये वे कहते हैं, कि लिङ्गशरीर को पशु-पक्षी आदि के भिन्न-भिन्न जन्म मिलने का कारण लिङ्गशरीर में रहनेवाली बुद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ अथवा भाव ही हैं (देखो गीतार. पृ. १९१ और सा. का. ४०–५५); और ऊपर के दो श्लोकों में इन्हीं भावों का वर्णन है। परंतु वेदान्तियों का सिद्धान्त है, कि प्रकृति और पुरुष से भी परे परमात्मरूपी एक नित्य तत्त्व है और (नासदीय सूक्त के वर्णनानुसार) उसी के मन में सृष्टि निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न होने पर सारा दृश्य जगत् उत्पन्न होता है; इस कारण वेदान्तशास्त्र में भी कहा है, कि सृष्टि के मायात्मक सभी पदार्थ परब्रह्म के मानस भाव हैं (अगला श्लोक देखो)। तप, दान और यज्ञ आदि शब्दों से तन्निष्ठक बुद्धि के भाव ही उद्दिष्ट हैं। भगवान् और कहते हैं कि—]

(६) सात महर्षि, उनके पहले के चार, और मनु मेरे ही मानस, अर्थात् मन से निर्माण किये हुए, भाव हैं कि जिनसे (इस) लोक में यह प्रजा हुई है।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

[यद्यपि इस श्लोक के शब्द सरल हैं, तथापि जिन पौराणिक पुरुषों को उद्देश करके यह श्लोक कहा गया है, उनके सम्बन्ध से टीकाकारों में बहुत ही मतभेद है; विशेषतः अनेकों ने इसका निर्णय कई प्रकार से किया है कि 'पहले के' (पूर्वे) और 'चार' (चत्वारः) पदों का अन्वय किस पद से लगाना चाहिये। सात महर्षि प्रसिद्ध हैं, परन्तु ब्रह्मा के एक कल्प में चौदह मन्वन्तर (देखो गीतार. पृ. १९३) होते हैं, और प्रत्येक मन्वन्तर के मनु, देवता एवं सप्तर्षि भिन्न भिन्न होते हैं (देखो हरिवंश १.७; विष्णु. ३. १. और मत्स्य ९)। इसीसे 'पहले के' शब्द को सात महर्षियों का विशेषण मान कई लोगों ने ऐसा अर्थ किया है, कि आज कल के अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर से पहले के चाक्षुष मन्वन्तरवाले सप्तर्षि यहाँ विवक्षित हैं। इन सप्तर्षियों के नाम भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु हैं। किन्तु हमारे मत में यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि, आज-कल के—वैवस्वत अथवा जिस मन्वन्तर में गीता कही गई, उससे—पहले के मन्वन्तरवाले सप्तर्षियों को बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। अतः वर्तमान मन्वन्तर के ही सप्तर्षियों को लेना चाहिये। महाभारत-शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में इनके ये नाम हैं:—मरीचि, अङ्गिरस्, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ (मभा. शां. ३३५. २८, २९; ३४०. ६४ और ६५)। और हमारे मत से यहाँ पर येही विवक्षित हैं। क्योंकि गीता में नारायणीय अथवा भागवत-धर्म ही विधिसहित प्रतिपाद्य है (देखो गीतार. पृ. ८-९)। तथापि यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि मरीचि आदि सप्तर्षियों के उक्त नामों में कहीं कहीं अङ्गिरस् के बदले भृगु का नाम पाया जाता है, और कुछ स्थानों पर तो ऐसा वर्णन है कि कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ वर्तमान युग के सप्तर्षि हैं (विष्णु. ३. १. ३२ और ३३; मत्स्य. ९. २७ और २८; मभा. अनु. ९३. २१)। मरीचि आदि ऊपर लिखे हुए सात ऋषियों में ही भृगु और दक्ष को मिला कर विष्णुपुराण (१. ७. ५, ६) में नौ मानस-पुत्रों का और इन्हीं में नारद को भी जोड़ कर मनुस्मृति में ब्रह्मदेव के दस मानस पुत्रों का वर्णन है (मनु. १. ३४, ३५)। इन मरीचि आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भारत में की गई है (मभा. अनु. ८५)। परन्तु हमें अभी इतना ही देखना है, कि सात महर्षि कौन कौन हैं, इस कारण

§§ एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः।

इन नौ-दस मानस पुत्रों का, अथवा इनके नामों की व्युत्पत्ति का विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। प्रगट है, कि 'पहले के' इस पद का अर्थ 'पूर्व मन्वन्तर के सात महर्षि' लगा नहीं सकते। अब देखना है कि 'पहले के चार' इन शब्दों को मनु का विशेषण मान कर कई एकों ने जो अर्थ किया है, वह कहाँ तक युक्तिसंगत है। कुल चौदह मन्वन्तर हैं और इनके चौदह मनु हैं; इनमें सात-सात के दो वर्ग हैं। पहले सातों के नाम स्वायम्भुव स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुप और वैवस्वत हैं, तथा ये स्वायम्भुव आदि मनु कहे जाते हैं (मनु. १. ६२ और ६३)। इसमें से छः मनु हो चुके और आज-कल सातवाँ अर्थात् वैवस्वत मनु चल रहा है। इसके समाप्त होने पर आगे जो सात मनु आवेंगे (भाग. ८. १३. ७) उनको सावर्णि मनु कहते हैं; उनके नाम सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, और इन्द्रसावर्णि हैं (विष्णु. ३.२; भागवत. ८.१३ हरिवंश १.७)। इस प्रकार, प्रत्येक मनु के सात-सात होने पर, कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता, कि किसी भी वर्ग के 'पहले के' 'चार' ही गीता में क्यों विवक्षित होंगे। ब्रह्माण्डपुराण (४.१) में कहा है, कि सावर्णि मनुओं में पहले मनु को छोड़ कर अगले चार अर्थात् दक्ष-, ब्रह्म-, धर्म-, और रुद्रसावर्णि एक ही समय में उत्पन्न हुए; और इसी आधार से कुछ लोग कहते हैं, कि यही चार सावर्णि मनु गीता में विवक्षित हैं। किन्तु इस पर दूसरा आक्षेप यह है, कि ये सब सावर्णि मनु भविष्य में होनेवाले हैं, इस कारण यह भूतकाल-दर्शक अगला वाक्य "जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई" भावी सावर्णि मनुओं को लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'पहले के चार' शब्दों का सम्बन्ध 'मनु' पद से जोड देना ठीक नहीं है। अतएव कहना पड़ता है कि 'पहले के चार' ये दोनों शब्द स्वतन्त्र रीति से प्राचीन काल के कोई चार ऋषियों अथवा पुरुषों का बोध कराते हैं। और ऐसा मान लेने से यह प्रश्न सहज ही होता है, कि ये पहले के चार ऋषि या पुरुष कौन हैं? जिन टीकाकारों ने इस श्लोक का ऐसा अर्थ किया है, उनके मत में सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार (भागवत ३.१२.४) येही वे चार ऋषि हैं। किन्तु इस अर्थ पर आक्षेप यह है, कि यद्यपि ये चारों ऋषि ब्रह्मा के

सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मानसपुत्र हैं, तथापि ये सभी जन्म से ही संन्यासी होने के कारण प्रजा-वृद्धि न करते थे और इससे ब्रह्मा इन पर क्रुद्ध हो गये थे (भाग. ३.१२;विष्णु १.७)। अर्थात् यह वाक्य इन चार ऋषियों को बिलकुल ही उपयुक्त नहीं होता कि "जिनसे इस लोक में यह प्रजा हुई "—येषां लोक इमाः प्रजाः । इसके अतिरिक्त कुछ पुराणों में यद्यपि यह वर्णन है, कि ये ऋषि चार ही थे; तथापि भारत के नारायणीय अर्थात् भागवतधर्म में कहा है, कि इन चारों में सन, कपिल और सनत्सुजात को मिला लेने से जो सात ऋषि होते हैं, वे सब, ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं और वे पहले से ही निवृत्तिधर्म के थे (मभा. शां ३४०. ६७, ६८)। इस प्रकार सनक आदि ऋषियों को सात मान लेने से कोई कारण नहीं देख पड़ता, कि इनमें से चार ही क्यों लिये जायँ । फिर 'पहले के चार' हैं कौन ? हमारे मत में इस प्रश्न का उत्तर नारायणीय अथवा भागवत धर्म की पौराणिक कथा से ही दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह निर्विवाद है, कि गीता में भागवतधर्म ही का प्रतिपादन किया गया है। अब यदि यह देखें, कि भागवतधर्म में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना किस प्रकार की थी, तो पता लगेगा कि मरीचि आदि सात ऋषियों के पहले वासुदेव (आत्मा), सङ्कर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), और अनिरुद्ध (अहङ्कार) ये चार मूर्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं; और कहा है, कि इनमें से पिछले अनिरुद्ध से अर्थात् अहंकार से या ब्रह्मदेव से मरीचि आदि पुत्र उत्पन्न हुए (मभा. शां. ३३९. ३४–४० और ६०–७२; ३४०. २७–३१)। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन्हीं चार मूर्तियों को 'चतुर्व्यूह' कहते हैं; और भागवतधर्म के एक पन्थ का मत है, कि ये चारों मूर्तियाँ स्वतन्त्र थीं तथा दूसरे कुछ लोक इनमें से तीन अथवा दो को ही प्रधान मानते हैं । भगवद्गीता को ये कल्पनाएँ मान्य नहीं हैं। हमने गीतारहस्य (पृ. १९५ और ५३७–५३८) में दिखलाया है, कि गीता एकव्यूह-पन्थ की है, अर्थात् एक ही परमेश्वर से चतुर्व्यूह आदि सब कुछ की उत्पत्ति मानती है। अतः व्यूहात्मक वासुदेव आदि मूर्तियों को स्वतन्त्र न मान कर इस श्लोक में दर्शाया है,कि ये चारों व्यूह एक ही परमेश्वर अर्थात् सर्वव्यापी वासुदेव के (गी.७.१९) 'भाव' हैं। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा, कि भागवतधर्म के अनुसार'पहले के चार' इन श-

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

व्दों का उपयोग वासुदेव आदि चतुर्व्यूह के लिये किया गया है, कि जो सप्तर्षियों के पूर्व उत्पन्न हुए थे । भारत में ही लिखा है, कि भागवतधर्म के चतुर्व्यूह आदि भेद पहले से ही प्रचलित थे (मभा. शां. ३४८.५७); यह कल्पना कुछ हमारी ही नई नहीं है। सारांश, भारतान्तर्गत नारायणीयाख्यान के अनुसार हमने इस श्लोक का अर्थ यों लगाया है:—'सात महर्षि' अर्थात् मरीचि आदि, 'पहले के चार' अर्थात् वासुदेव आदि चतुर्व्यूह, और 'मनु' अर्थात् जो उस समय से पहले हो चुके थे और वर्तमान, सब मिला कर स्वायम्भुव आदि सात मनु । अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार आदि चार मूर्तियों को परमेश्वर के पुत्र मानने की कल्पना भारत में और अन्य स्थानों में भी पाई जाती है (देखो मभा. शां ३११.७,८)। परमेश्वर के भावों का वर्णन हो चुका; अब बतलाते हैं, कि इन्हें जान करके उपासना करने से क्या फल मिलता है—]

(७) जो मेरी इस विभूति अर्थात् विस्तार, और योग अर्थात् विस्तार करने की शक्ति या सामर्थ्य के तत्त्व को जानता है, उसे निस्सन्देह स्थिर (कर्म-) योग प्राप्त होता है । (८) यह जान कर, कि मैं सब का उत्पत्तिस्थान हूँ और मुझसे सब वस्तुओं की प्रवृत्ति होती है, ज्ञानी पुरुष भावयुक्त होते हुए मुझको भजते हैं। (९) वे मुझमें मन जमा कर और प्राणों को लगा कर परस्पर बोध करते हुए एवं मेरी कथा कहते हुए (उसी में) सदा संतुष्ट और रममाण रहते हैं । (१०) इस प्रकार सदैव युक्त होकर अर्थात् समाधान से रह कर जो लोग मुझे प्रीतिपूर्वक भजते हैं, उनको मैं ही ऐसी (समत्व-)बुद्धि का योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझे पा लेवें । (११) और उन पर अनुग्रह करने के लिये ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात्

अर्जुन उवाच ।

§§ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

अन्तःकरण में पैठ कर तेजस्वी ज्ञान-दीप से; (उनके) अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ।

[सातवें अध्याय में कहा है, कि भिन्न भिन्न देवताओं की श्रद्धा भी परमेश्वर ही देता है (७.२१)। उसी प्रकार अब ऊपर के दसवें श्लोक में भी वर्णन है, कि भक्तिमार्ग में लगे हुए मनुष्य की समत्व-बुद्धि को उन्नत करने का काम भी परमेश्वर ही करता है; और, पहले (गी. ६. ४४) जो यह वर्णन है, कि जब मनुष्य के मन में एक बार कर्मयोग की जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब वह आप ही आप पूर्ण सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है, उसके साथ भक्तिमार्ग का यह सिद्धान्त समानार्थक है। ज्ञान की दृष्टि से अर्थात् कर्म-विपाकप्रक्रिया के अनुसार कहा जाता है, कि यह कर्तृत्व आत्मा की स्वतन्त्रता से मिलता है। पर आत्मा भी तो परमेश्वर ही है; इस कारण भक्तिमार्ग में ऐसा वर्णन हुआ करता है, कि इस फल अथवा बुद्धि को परमेश्वर ही प्रत्येक मनुष्य के पूर्वकर्मों के अनुसार देता है (देखो गी.७.२० और गीतार. पृ. ४२७)। इस प्रकार भगवान् के भक्तिमार्ग का तत्त्व बतला चुकने पर—]

अर्जुन ने कहा—(१२–१३) तुम ही परम ब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान और पवित्र वस्तु (हो); सब ऋषि, ऐसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास भी तुमको दिव्य एवं शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अजन्मा, सर्वविभु अर्थात् सर्वव्यापी कहते हैं, और स्वयं तुम भी मुझसे वही कहते हो। (१४) हे केशव! तुम मुझसे जो कहते

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हो, उस सब को मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवान् ! तुम्हारी व्यक्ति अर्थात् तुम्हारा मूल देवताओं को विदित नहीं और दानवों को विदित नहीं । (१५) सब भूतों के उत्पन्न करनेवाले हे भूतेश ! देवदेव जगत्पते ! हे पुरुषोत्तम ! तुम स्वयं ही अपने आप को जानते हो । (१६) अतः तुम्हारी जो दिव्य विभूतियाँ हैं, जिन विभूतियों से इन सब लोकों को तुम व्याप्त कर रहे हो, उन्हें आप ही (कृपा कर) पूर्णता से बतलावें । (१७) हे योगिन् ! (मुझे यह बतलाइये कि) सदा तुम्हारा चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ ? और हे भगवान् ! मैं किन-किन पदार्थों में तुम्हारा चिन्तन करूँ ? (१८) हे जनार्दन ! अपनी विभूति और योग मुझे फिर विस्तार से बतलाओ; क्योंकि अमृततुल्य (तुम्हारे भाषण को) सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती ।

[विभूति और योग, दोनों शब्द इसी अध्याय के सातवें श्लोक में आये हैं और यहाँ अर्जुन ने उन्हीं को दुहरा दिया है । 'योग' शब्द का अर्थ पहले (गी. ७.२५) दिया जा चुका है, उसे देखो । भगवान् की विभूतियों को अर्जुन इसलिये नहीं पूछता, कि भिन्न भिन्न विभूतियों का ध्यान देवता समझ कर किया जावें; किन्तु सत्रहवें श्लोक के इस कथन को स्मरण रखना चाहिये, कि उक्त विभूतियों में सर्वव्यापी परमेश्वर की ही भावना रखने के लिये उन्हें पूछा है । क्योंकि भगवान् यह पहले ही बतला आये हैं (गी.७.२०-२५; ९.२२-२८) कि एक ही परमेश्वर को सब स्थानों में विद्यमान जानना एक बात है, और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को भिन्न भिन्न देवता मानना दूसरी बात है; इन दोनों में भक्तिमार्ग की दृष्टि से महान् अन्तर है ।]

श्रीभगवान् ने कहा-(१९) अच्छा; तो अब हे कुरुश्रेष्ठ ! अपनी दिव्य विभूतियों में से तुम्हें मुख्य मुख्य बतलाता हूँ, क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

[इस विभूति-वर्णन के समान ही अनुशासनपर्व (१४.३११–३२१) में और अनुगीता (अश्व.४३ और ४४) में परमेश्वर के रूप का वर्णन है। परन्तु गीता का वर्णन उसकी अपेक्षा अधिक सरस है, इस कारण इसी का अनुकरण और स्थलों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ, भागवतपुराण के एकादश स्कन्ध के सोलहवें अध्याय में, इसी प्रकार का विभूति-वर्णन भगवान् ने उद्धव को समझाया है; और वहीं आरम्भ में (भाग. ११.१६.६–८) कह दिया गया है, कि यह वर्णन गीता के इस अध्यायवाले वर्णन के अनुसार है।]

(२०) हे गुडाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। (२१) (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ; तेजस्वियों में किरणमाली सूर्य, (सात अथवा उनचास) मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ। (२२) मैं वेदों में सामवेद हूँ; देवताओं में इन्द्र हूँ; और इन्द्रियों में मन हूँ; भूतों में चेतना अर्थात् प्राण की चलन-शक्ति मैं हूँ।

[यहाँ वर्णन है, कि मैं वेदों में सामवेद हूँ, अर्थात् सामवेद मुख्य है; ठीक ऐसा ही महाभारत के अनुशासन पर्व (१४.३१७) में भी "सामवेदश्च वेदानां यजुषां शतरुद्रियम्" कहा है। पर अनुगीता में 'ॐकारः सर्व वेदानाम्' (अश्व. ४४. ६) इस प्रकार, सब वेदों में ॐकार को ही श्रेष्ठता दी है; तथा पहले गीता (७. ८) में भी "प्रणवः सर्ववेदेषु" कहा है। गीता ६. १७ के "ऋक्सामयजुरेव च" इस वाक्य में सामवेद की अपेक्षा ऋग्वेद को अग्रस्थान दिया गया है, और साधारण लोगों की समझ भी ऐसी ही है। इन परस्पर-विरोधी वर्णनों पर कुछ लोगों ने अपनी कल्पना को खूब सरपट दौड़ाया है। छान्दोग्य उपनिषद् में ॐकार ही का नाम उद्गीथ है और लिखा है, कि "यह उद्गीथ सामवेद का सार है और सामवेद ऋग्वेद का सार है" (छां. १.

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

[१.२.)। सब वेदों में कौन वेद श्रेष्ठ है,इस विषय के भिन्न भिन्न उक्त विधानों का मेल छान्दोग्य के इस वाक्य से हो सकता है। क्योंकि सामवेद के मन्त्र भी मूल ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। पर इतने ही से सन्तुष्ट न होकर कुछ लोग कहते हैं,कि गीता में सामवेद को यहाँ पर जो प्रधानता दी गई है, इसका कुछ न कुछ गूढ़ कारण होना चाहिये। यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् में सामवेद को प्रधानता दी है,तथापि मनु ने कहा है कि " सामवेद की ध्वनि अशुचि है " (मनु. ४. १२४)। अतः एक ने अनुमान किया है, कि सामवेद को प्रधानता देनेवाली गीता मनु से पहले की होगी; और दूसरा कहता है, कि गीता बनानेवाला सामवेदी होगा, इसी से उसने यहाँ पर सामवेद को प्रधानता दी होगी। परन्तु हमारी समझ में "मैं वेदों में सामवेद हूँ" इसकी उपपत्ति लगाने के लिये इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। भक्तिमार्ग में परमेश्वर की गानयुक्त स्तुति को सदैव प्रधानता दी जाती है। उदाहरणार्थ, नारायणीयधर्म में नारद ने भगवान् का वर्णन किया है कि " वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे " (मभा. शां. ३३४. २३); और वसु राजा " जप्यं जगौ " –जप्य गाता था (देखो शां. ३३७.२७; और ३४२.७० और ८१)—इस प्रकार 'गै' धातु का ही प्रयोग फिर किया गया है। अतएव भक्ति-प्रधान धर्म में, यज्ञ-याग आदि क्रियात्मक वेदों की अपेक्षा, गान-प्रधान वेद अर्थात् सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं; और " मैं वेदों में सामवेद हूँ " इसकथन का हमारे मत में सीधा और सहज कारण यही है।]

(२३) (ग्यारह) रुद्रों में शङ्कर मैं हूँ;यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ;(आठ) वसुओं में पावक हूँ; (और सात) पर्वतों में मेरु हूँ। (२४) हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझको समझ। मैं सेनानायकों में स्कन्द (कार्त्तिकेय) और जलाशयों में समुद्र हूँ। (२५) महर्षियों में मैं भृगु हूँ; वाणी में एकाक्षर अर्थात् ॐकार हूँ। यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ; स्थावर अर्थात् स्थिर पदार्थों में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

["यज्ञों में जपयज्ञ मैं हूँ" यह वाक्य महत्त्व का है। अनुगीता (मभा. अश्व. ४४. ८) में कहा है कि "यज्ञानां हुतमुत्तमम्" अर्थात् यज्ञों में (अग्नि में) हवि समर्पण करके सिद्ध होनेवाला यज्ञ उत्तम है; और वही वैदिक कर्म-काण्डवालों का मत है। पर भक्तिमार्ग में हविर्यज्ञ की अपेक्षा नाम-यज्ञ या जप-यज्ञ का विशेष महत्त्व है,इसी से गीता में 'यज्ञानां जप-यज्ञोऽस्मि" कहा है। मनु ने भी एक स्थान पर (२.८७) कहा है कि "और कुछ करे या न करे,केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।" भागवत में "यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं" पाठ है।]

(२६) मैं सब वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल और देवर्षियों में नारद हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ। (२७) घोड़ों में (अमृत-मन्थन के समय निकला हुआ) उच्चैःश्रवा मुझे समझो। मैं गजेन्द्रों में ऐरावत,और मनुष्यों में राजा हूँ। (२८) मैं आयुधों में वज्र, गौओं में कामधेनु,और प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं हूँ; सर्पों में वासुकि हूँ। (२९) नागों में अनन्त मैं हूँ; यादस् अर्थात् जलचर प्राणियों में वरुण, और पितरों में अर्यमा मैं हूँ; मैं नियमन करनेवाले में यम हूँ!

[वासुकि=सर्पों का राजा और अनन्त ='शेष' ये अर्थ निश्चित हैं और अमरकोश तथा महाभारत में भी यही अर्थ दिये गये हैं (देखो मभा. आदि ३५-३९)। परन्तु निश्चयपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता, कि नाग और सर्प में क्या भेद है। महाभारत के आस्तिक-उपाख्यान में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक ही है। तथापि जान पड़ता है, कि यहाँ पर सर्प और नाग शब्दों से सर्प के साधारण वर्ग की दो भिन्न-भिन्न जातियाँ विवक्षित हैं। श्रीधर टीका में सर्प को विषैला और नाग को विषहीन कहा है; रामानुजभाष्य में सर्प को एक

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥
सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥

सिरवाला और नाग को अनेक सिरोंवाला कहा है। परन्तु ये दोनों भेद ठीक नहीं जँचते। क्योंकि कुछ स्थलों पर, नागों के ही प्रमुख कुल बतलाते हुए उन में अनन्त और वासुकि को पहले गिनाया है और वर्णन किया है, कि दोनों ही अनेक सिरोंवाले एवं विषधर हैं; किन्तु अनन्त है अग्निवर्ण का और वासुकि है पीला। भागवत का पाठ गीता के समान ही है।]

(३०) मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ; मैं ग्रसनेवालों में काल, पशुओं में मृगेन्द्र अर्थात् सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ। (३१) मैं वेगवानों में वायु हूँ; मैं शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर और नदियों में भागीरथी हूँ। (३२) हे अर्जुन! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त और मध्य भी मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्मविद्या और वाद करनेवालों का वाद मैं हूँ।

[पीछे २० वें श्लोक में बतला दिया है, कि सचेतन भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ तथा अब कहते हैं, कि सब चराचर सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ; यही भेद है।]

(३३) मैं अक्षरों में अकार और समासों में (उभयपद-प्रधान) द्वन्द्व हूँ; (निमेष, मुहूर्त आदि) अक्षय काल और सर्वतोमुख अर्थात् चारों ओर से मुखोंवाला धाता यानी ब्रह्मा मैं हूँ; (३४) सबका क्षय करनेवाली मृत्यु और आगे जन्म लेनेवालों का उत्पत्तिस्थान मैं हूँ, स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा मैं हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥
दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

[कीर्ति, श्री, वाणी इत्यादि शब्दों से वही देवता विवक्षित हैं। महाभारत (आदि. ६६. १३, १४) में वर्णन है, कि इनमें से वाणी और क्षमा को छोड़ शेष पाँच, और दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा, और मति) दोनों मिल कर कुल दशों दक्ष की कन्याएँ हैं। धर्म के साथ ब्याही जाने के कारण इन्हें धर्मपत्नी कहते हैं।]

(३५) साम अर्थात् गाने के योग्य वैदिक स्तोत्रों में बृहत्साम, (और) छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ; मैं महिनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

[महिनों में मार्गशीर्ष को प्रथम स्थान इसलिये दिया गया है, कि उन दिनों में बारह महिनों को मार्गशीर्ष से ही गिनने की रीति थी,—जैसे कि आजकल चैत्र से है—(देखो मभा. अनु. १०६ और १०९; एवं वाल्मीकिरामायण ३. १६)। भागवत ११. १६. २७ में भी ऐसा ही उल्लेख है। हमने अपने 'ओरायन' ग्रन्थ में लिखा है, कि मृगशीर्ष नक्षत्र को अग्रहायणी अथवा वर्षारम्भ का नक्षत्र कहते थे; जब मृगादि नक्षत्र-गणना का प्रचार था तब मृगनक्षत्र को प्रथम अग्रस्थान मिला, और इसी से फिर मार्गशीर्ष महीने को भी श्रेष्ठता मिली होगी। इस विषय को यहाँ विस्तार के भय से अधिक बढ़ाना उचित नहीं है।]

(३६) मैं छलियों में द्यूत हूँ, तेजस्वियों का तेज, (विजयशाली पुरुषों का) विजय, (निश्चयी पुरुषों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ। (३७) मैं यादवों में वासुदेव, पांडवों में धनञ्जय, मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ। (३८) मैं शासन करनेवालों का दंड, जय की इच्छा करनेवालों की नीति, और गुह्यों में मौन हूँ। ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ। (३९) इसी प्रकार हे अर्जुन! सब भूतों का

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
§§ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

जो कुछ बीज है वह मैं हूँ; ऐसा कोई चर-अचर भूत नहीं है जो मुझे छोड़े हो। (४०) हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। विभूतियों का यह विस्तार मैंने (केवल) दिग्दर्शनार्थ बतलाया है।

[इस प्रकार मुख्य मुख्य विभूतियाँ बतला कर अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—]

(४१) जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से उपजी हुई समझो। (४२) अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस फैलाव को जान कर करना क्या है? (संक्षेप में बतलाये देता हूँ, कि) मैं अपने एक (ही) अंश से इस सारे जगत् को व्याप्त कर रहा हूँ।

[अन्त का श्लोक पुरुषसूक्त की इस ऋचा के आधार पर कहा गया है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ. १०. ९०. ३), और यह मन्त्र छान्दोग्य उपनिषद् (३. १२. ६) में भी है। 'अंश' शब्द के अर्थ का खुलासा गीतारहस्य के नवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४६ और २४७) में किया गया है। प्रगट है, कि जब भगवान् अपने एक ही अंश से इस जगत् में व्याप्त हो रहे हैं, तब इसकी अपेक्षा भगवान् की पूरी महिमा बहुत ही अधिक होगी; और उसे बतलाने के हेतु से ही अन्तिम श्लोक कहा गया है। पुरुषसूक्त में तो स्पष्ट ही कह दिया है, कि "एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"— यह इतनी इसकी महिमा हुई, पुरुष तो इस की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है।]

एकादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ग्यारहवाँ अध्याय।

[जब पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया, तब उसे सुन कर अर्जुन को परमेश्वर का विश्वरूप देखने की इच्छा हुई। भगवान् ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया, उसका वर्णन इस अध्याय में है। यह वर्णन इतना सरस है, कि गीता के उत्तम भागों में इसकी गिनती होती है और अन्यान्य गीताओं की रचना करनेवालों ने इसी का अनुकरण किया है। प्रथम अर्जुन पूछता है, कि—]

अर्जुन ने कहा–(१) मुझ पर अनुग्रह करने के लिये तुमने अध्यात्म-संज्ञक जो परम गुप्त बात बतलाई, उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (२) इसी प्रकार हे कमलपत्राक्ष! भूतों की उत्पत्ति, लय, और (तुम्हारा) अक्षय महात्म्य भी मैंने तुमसे विस्तार सहित सुन लिया। (३) (अब) हे परमेश्वर! तुमने अपना जैसा वर्णन किया है, हे पुरुषोत्तम! मैं तुम्हारे उस प्रकार के ईश्वरी स्वरूप को (प्रत्यक्ष) देखना चाहता हूँ। (४) हे प्रभो! यदि तुम समझते हो, कि उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर! तुम अपना अव्यय स्वरूप मुझे दिखलाओ।

श्रीभगवानुवाच ।

§§ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

[सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का आरम्भ कर, सातवें और आठवें में परमेश्वर के अक्षर अथवा अव्यक्त रूप का तथा नवें एवं दसवें में अनेक व्यक्त रूपों का जो ज्ञान बतलाया है, उसे ही अर्जुन ने पहले श्लोक में 'अध्यात्म' कहा है। एक अव्यक्त से अनेक व्यक्त पदार्थों से निर्मित होने का जो वर्णन सातवें (४-१५), आठवें (१६-२१), और नवें (४-८) अध्यायों में है, वही 'भूतों की उत्पत्ति और लय' इन शब्दों से दूसरे श्लोक में अभिप्रेत है। तीसरे श्लोक के दोनों अर्धांशों को, दो भिन्न-भिन्न वाक्य मान कर कुछ लोग उनका ऐसा अर्थ करते हैं, कि " हे परमेश्वर ! तुमने अपना जैसा (स्वरूप का) वर्णन किया वह सत्य है (अर्थात् मैं समझ गया); अब हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे ईश्वरी स्वरूप को देखना चाहता हूँ" (देखो गीता. १०. १४)। परन्तु दोनों पंक्तियों को मिला कर एक वाक्य मानना ठीक जान पड़ता है और परमार्थप्रपा टीका में ऐसा किया भी गया है। चौथे श्लोक में जो 'योगेश्वर' शब्द है, उसका अर्थ योगों का (योगियों का नहीं) ईश्वर है (१८.७५)। योग का अर्थ पहले (गी. ७.२५ और ९.५) अव्यक्त रूप से व्यक्त सृष्टि निर्माण करने का सामर्थ्य अथवा युक्ति किया जा चुका है; अब उस सामर्थ्य से ही विश्वरूप दिखलाना है, इस कारण यहाँ 'योगेश्वर' सम्बोधन का प्रयोग सहेतुक है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(५) हे पार्थ ! मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रङ्गों के, और आकारों के (इन) सैकड़ों अथवा हज़ारों दिव्य रूपों को देखो। (६) यह देखो (बारह) आदित्य, (आठ) वसु, (ग्यारह) रुद्र, (दो) अश्विनी कुमार, और (४९) मरुद्गण। हे भारत ! ये अनेक आश्चर्य देखो, कि जो पहले कभी भी न देखे होंगे।

[नारायणीय धर्म में नारद को जो विश्वरूप दिखलाया गया है, उसमें यह विशेष वर्णन है, कि बाईं ओर बारह आदित्य, सन्मुख आठ वसु, दहिनी ओर ग्यारह रुद्र और पिछली ओर दो अश्विनीकुमार थे (शां. ३३९.५०-५२)। परन्तु कोई आवश्यकता नहीं, कि यही वर्णन सर्वत्र विवक्षित हो (देखो मभा.

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८॥

संजय उवाच।

§§ एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

उ.१३०)। आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण ये वैदिक देवता हैं, और देवताओं के चातुर्वर्ण्य का भेद महाभारत (शां. २०८.२३, २४) में यों बतलाया है, कि आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं, और अश्विनीकुमार शूद्र हैं। देखो शतपथ ब्राह्मण १४. ४. २. २३।]

(७) हे गुडाकेश ! आज यहाँ पर एकत्रित सब चर-अचर जगत् देख ले; और भी जो कुछ तुझे देखने की लालसा हो वह मेरी (इस) देह में देख ले ! (८) परन्तु तू अपनी इसी दृष्टि से मुझे देख न सकेगा; तुझे मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ, (इससे) मेरे इस ईश्वरी योग अर्थात् योग-सामर्थ्य को देख।

सञ्जय ने कहा—(९) फिर हे राजा धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कह करके योगों के ईश्वर हरि ने अर्जुन को (अपना) श्रेष्ठ ईश्वरी रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया। (१०) उसके अर्थात् विश्वरूप के अनेक मुख और नेत्र थे, और उसमें अनेक अद्भुत दृश्य देख पड़ते थे, उस पर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार थे और उस में नाना प्रकार के दिव्य आयुध सजित थे। (११) उस अनन्त, सर्वतोमुख और सब आश्चर्यों से भरे हुए देवता के दिव्य सुगन्धित उबटन लगा हुआ था और वह दिव्य पुष्प एवं वस्त्र धारण किये हुए था। (१२) यदि आकाश में एक हज़ार सूर्यों की प्रभा एकसाथ

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

§§ पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

हो, तो वह उस महात्मा की कान्ति के समान (कुछ कुछ) देख पड़े ! (१३) तब देवाधिदेव के इस शरीर में नाना प्रकार से बँटा हुआ सारा जगत् अर्जुन को एकत्रित दिखाई दिया । (१४) फिर आश्चर्य में डूबने से उसके शरीर पर रोमाञ्च खड़े हो आये; और मस्तक नमा कर नमस्कार करके एवं हाथ जोड़ कर उस अर्जुन ने देवता से कहा—

अर्जुन ने कहा—(१५) हे देव ! तुम्हारी इस देह में सब देवताओं को और नाना प्रकार के प्राणियों के समुदायों को, ऐसे ही कमलासन पर बैठे हुए (सब देवताओं के) स्वामी ब्रह्मदेव, सब ऋषियों और (वासुकि प्रभृति) सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ । (१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रधारी, अनन्तरूपी तुम्हीं को मैं चारों ओर देखता हूँ; परन्तु हे विश्वेश्वर, विश्वरूप ! तुम्हारा न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही मुझे (कहीं) देख पड़ता है । (१७) किरीट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, चारों ओर प्रभा फैलाये हुए, तेजःपुंज, दमकते हुए अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, आँखों से देखने में भी अशक्य और अपरंपार (भरे हुए) तुम्हीं मुझे जहाँ-तहाँ देख पड़ते हो । (१८) तुम्हीं अन्तिम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म), तुम्हीं इस विश्व के अन्तिम आधार, तुम्हीं अव्यय और

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥
द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

तुम्हीं शाश्वत धर्म के रक्षक हो; मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो (१९) जिसके न आदि है, न मध्य और न अन्त, अनन्त जिसके बाहु हैं, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, ऐसे अनन्त शक्तिमान् तुम ही अपने तेज से इस समस्त जगत् को तपा रहे हो; तुम्हारा ऐसा रूप मैं देख रहा हूँ। (२०) क्योंकि आकाश और पृथ्वी के बीच का यह (सब) अन्तर और सभी दिशाएँ अकेले तुम्हीं ने व्याप्त कर डाली हैं। हे महात्मन्! तुम्हारे इस अद्भुत और उग्र रूप को देख कर त्रैलोक्य (डर से) व्यथित हो रहा है। (२१) यह देखो, देवताओं के समूह, तुममें प्रवेश कर रहे हैं, (और) कुछ भय से हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं, (एवं) 'स्वस्ति, स्वस्ति' कह कर महर्षि और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। (२२) रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, (दोनों) अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपा अर्थात् पितर और गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं सिद्धों के झुण्ड के झुण्ड विस्मित हो कर तुम्हारी ओर देख रहे हैं।

[श्राद्ध में पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है, उसे वे तभी तक ग्रहण करते हैं, जब तक कि वह गरमागरम रहे, इसी से उनको 'उष्मपा' कहते हैं (मनु. ३. २३७)। मनुस्मृति (३. १९४-२००) में इन्हीं पितरों के सोमसद्, अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोपमा, हविष्मान्, आज्यपा और सुकालिन् ये सात प्रकार के गण बतलाये हैं। आदित्य आदि देवता वैदिक हैं। ऊपर का छठा श्लोक देखो। बृहदारण्यक उपनिषद् (३. ९. २) में यह वर्णन है, कि आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और इन्द्र तथा प्रजापति को मिला कर

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

३३ देवता होते हैं; और महाभारत आदिपर्व अ. ६५ एवँ ६६ में तथा शान्तिपर्व अ. २०८ में इनके नाम और इनकी उत्पत्ति बतलाई गई है ।]

(२३) हे महाबाहु ! तुम्हारे इस महान्, अनेक मुखों के, अनेक आँखों के, अनेक भुजाओं के, अनेक जङ्घाओं के, अनेक पैरों के, अनेक उदरों के और अनेक डाढ़ों के कारण विकराल दिखनेवाले रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी भय हो रहा है। (२४) आकाश से भिड़े हुए, प्रकाशमान, अनेक रंगों के, जबड़े फैलाये हुए और बड़े चमकीले नेत्रों से युक्त तुमको देख कर अन्तरात्मा घबड़ा गया है; इससे हे विष्णो ! मेरा धीरज छूट गया और शान्ति भी जाती रही ! (२५) डाढ़ों से विकराल तथा प्रलयकालीन अग्नि के समान तुम्हारे (इन) मुखों को देखते ही मुझे दिशाएँ नहीं सूझती और समाधान भी नहीं होता। हे जगन्निवास, देवाधिदेव ! प्रसन्न हो जाओ ! (२६) यह देखो ! राजाओं के झुण्डों समेत धृतराष्ट्र के सब पुत्र, भीष्म, द्रोण और यह सूतपुत्र (कर्ण), हमारी भी ओर के मुख्य मुख्य योद्धाओं के साथ, (२७) तुम्हारी विकराल डाढ़ोंवाले इन अनेक भयङ्कर मुखों में धड़ाधड़ घुस रहे हैं; और कुछ लोग दाँतों में दब कर ऐसे दिखाई दे रहे हैं कि जिनकी खोपड़ियाँ चुर हैं। (२८) तुम्हारे अनेक प्रज्वलित मुखों में मनुष्यलोक के ये वीर वैसे ही घुस रहे हैं, जैसे कि नदियों के बड़े बड़े प्रवाह समुद्र की ही ओर

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

§§ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

चले जाते हैं। (२९) जलती हुई अग्नि में मरने के लिये बड़े वेग से जिस प्रकार पतङ्ग कूदते हैं, वैसे ही तुम्हारे भी जबड़ों में (ये) लोग मरने के लिये बड़े वेग से प्रवेश कर रहे हैं। (३०) हे विष्णो! चारों ओर से सब लोगों को अपने प्रज्वलित मुखों से निगल कर तुम जीभ चाट रहे हो! और तुम्हारी उग्र प्रभाएँ तेज से समूचे जगत् को व्याप्त कर (चारों ओर) चमक रही हैं। (३१) मुझे बतलाओ कि इस उग्र रूप को धारण करनेवाले तुम कौन हो? हे देवदेवश्रेष्ठ! तुम्हें नमस्कार करता हूँ! प्रसन्न हो जाओ! मैं जानना चाहता हूँ, कि तुम आदि-पुरुष कौन हो। क्योंकि मैं तुम्हारी इस करनी को (बिलकुल) नहीं जानता।

श्रीभगवान् ने कहा—(३२) मैं लोकों का क्षय करनेवाला और बढ़ा हुआ 'काल' हूँ; यहाँ लोकों का संहार करने आया हूँ। तू न हो तो भी (अर्थात् तू कुछ न करे तो भी), सेनाओं में खड़े हुए ये सब योद्धा नष्ट होनेवाले (मरनेवाले) हैं; (३३) अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर, और शत्रुओं को जीत करके समृद्ध राज्य का उपभोग कर। मैंने इन्हें पहले ही मार डाला है; (इसलिये अब) हे सव्यसाची (अर्जुन)! तू केवल निमित्त के लिये (आगे) हो! (३४) मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धाओं को (पहले ही) मार चुका हूँ; उन्हें तू मार; घबड़ाना नहीं! युद्ध कर! तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा।

संजय उवाच।

§§एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

[सारांश, जब श्रीकृष्ण सन्धि के लिये गये थे, तब दुर्योधन को मेल की कोई भी बात सुनते न देख भीष्म ने श्रीकृष्ण से केवल शब्दों में कहा था, कि "कालपक्कमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन" (मभा. उ. १२७. ३२)-ये सब क्षत्रिय कालपक्क हो गये हैं। उसी कथन का यह प्रत्यक्ष दृश्य श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप से अर्जुन को दिखला दिया है (ऊपर २६-३१ श्लोक देखो)। कर्मविपाक-प्रक्रिया का यह सिद्धान्त भी ३३ वें श्लोक में आ गया है, कि दुष्ट मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं, उनको मारनेवाला तो सिर्फ निमित्त है, इसलिये मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता।]

सञ्जय ने कहा—(३५) केशव के इस भाषण को सुन कर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हो गया, गला रुँध कर, काँपते-काँपते हाथ जोड़, नमस्कार करके उसने श्रीकृष्ण से नम्र होकर फिर कहा—अर्जुन ने कहा—(३६) हे हृषीकेश ! (सब) जगत् तुम्हारे (गुण-) कीर्तन से प्रसन्न होता है, और (उसमें) अनुरक्त रहता है, राक्षस तुमको डर कर (दशों) दिशाओं में भाग जाते हैं, और सिद्ध पुरुषों के संघ तुम्हीं को नमस्कार करते हैं, यह (सब) उचित ही है। (३७) हे महात्मन्! तुम ब्रह्मदेव के भी आदिकरण और उससे भी श्रेष्ठ हो; तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे ? हे अनन्त ! हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनों से परे जो अक्षर है वह भी तुम्हीं हो !

[गीता ७. २४; ८. २०; और १५. १६ से देख पड़ेगा, कि सत् और असत् शब्दों के अर्थ वहाँ पर क्रम से व्यक्त और अव्यक्त अथवा क्षर और अक्षर इन शब्दों के अर्थों के समान हैं। सत् और असत् से परे जो तत्त्व है, वही अक्षर

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

ब्रह्म है; इसी कारण गीता १३.१२ में स्पष्ट वर्णन है कि 'मैं न तो सत् हूँ और न असत्।' गीता में 'अक्षर' शब्द कभी प्रकृति के लिये और कभी ब्रह्म के लिये उपयुक्त होता है। गीता ८.१९;१३. १२; और १५. १६ की टिप्पणी देखो।]

(३८) तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम इस जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो;और हे अनन्तरूप! तुम्ही ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। (३९) वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा, और परदादा भी तुम्हीं हो। तुम्हें हजार बार नमस्कार है! और फिर भी तुम्हीं को नमस्कार है!

[ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानस पुत्र उत्पन्न हुए और मरीचि से कश्यप तथा कश्यप से सब प्रजा उत्पन्न हुई है (मभा. आदि. ६५.११); इसलिये इन मरीचि आदि को ही प्रजापति कहते हैं (शां. ३४०.६५)। इसी से कोई कोई प्रजापति शब्द का अर्थ कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। परन्तु यहाँ प्रजापति शब्द एकवचनान्त है, इस कारण प्रजापति का अर्थ ब्रह्मदेव ही अधिक ग्राह्य देख पड़ता है, इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, मरीचि आदि के पिता अर्थात् सब के पितामह (दादा) हैं, अतः आगे का 'प्रपितामह' (परदादा) पद भी आप ही आप प्रगट होता है, और उसकी सार्थकता व्यक्त हो जाती है।]

(४०) हे सर्वात्मक! तुम्हें सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सभी ओर से तुमको नमस्कार है। तुम्हारा वीर्य अनन्त है और तुम्हारा पराक्रम अतुल है, सब को यथेष्ट होने के कारण तुम्हीं 'सर्व' हो।

[सामने से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, ये शब्द परमेश्वर की सर्वव्यापकता दिखलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म का ऐसा वर्णन है, कि "ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मुं. २.२. ११; छां.७.२५) उसी के अनुसार भक्तिमार्ग की यह नमनात्मक स्तुति है।]

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव: ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देवा सोढुम् ॥ ४४ ॥

(४१) तुम्हारी इस महिमा को बिना जाने, मित्र समझ कर प्यार से या भूल से 'अरे कृष्ण,' 'ओ यादव,' 'हे सखा,' इत्यादि जो कुछ मैं ने कह डाला हो, (४२) और हे अच्युत! आहार-विहार में अथवा सोने-बैठने में, अकेले में या दस मनुष्यों के समक्ष मैं ने हँसी-दिल्लगी में तुम्हारा जो अपमान किया हो, उसके लिये मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। (४३) इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो, तुम पूज्य हो और गुरु के भी गुरु हो! त्रैलोक्य भर में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। फिर हे अतुलप्रभाव! अधिक कहाँ से होगा? (४४) तुम्हीं स्तुत्य और समर्थ हो; इसलिये मैं शरीर झुका कर नमस्कार करके तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि "प्रसन्न हो जाओ"। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के अथवा सखा अपने सखा के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव! प्रेमी (आप) को प्रिय के (अपने प्रेमपात्र के अर्थात् मेरे, सब) अपराध क्षमा करना चाहिये।

[कुछ लोग "प्रियः प्रियायार्हसि" इन शब्दों का "प्रिय पुरुष जिस प्रकार अपनी स्त्री के" ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। क्योंकि व्याकरण की रीति से 'प्रियायार्हसि' के प्रियायाः+अर्हसि अथवा प्रियायै+अर्हसि ऐसे पद नहीं टूटते, और उपमा-द्योतक 'इव' शब्द भी इस श्लोक में दो बार ही आया है। अतः 'प्रियः प्रियायार्हसि' को तीसरी उपमा न समझ कर उपमेय मानना ही अधिक प्रशस्त है। 'पुत्र के' (पुत्रस्य), सखा के (सख्युः), इन दोनों उपमानात्मक षष्ठ्यन्त शब्दों के समान यदि उपमेय में भी 'प्रियस्य' (प्रिय के) यह षष्ठ्यन्त पद होता, तो बहुत अच्छा होता। परन्तु अब 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्याय के अनुसार यहाँ व्यवहार करना चाहिये। हमारी समझ में यह बात बिलकुल युक्तिसङ्गत नहीं देख पड़ती, कि

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

'प्रियस्य' इस षष्ठ्यन्त स्त्रीलिंग पद के अभाव में, व्याकरण के विरुद्ध 'प्रियायाः' यह षष्ठ्यन्त स्त्रीलिङ्ग का पद किया जावे; और जब वह पद अर्जुन के लिये लागू न हो सके तब, 'इव' शब्द को अध्याहार मान कर 'प्रियः प्रियायाः'—प्रेमी अपनी प्यारी स्त्री के—ऐसी तीसरी उपमा मानी जावे, और वह भी शृङ्गारिक अतएव अप्रासङ्गिक हो। इसके सिवा, एक और बात है, कि पुत्रस्य, सख्युः, प्रियायाः, इन तीनों पदों के उपमान में चले जाने से उपमेय में षष्ठ्यन्त पद बिलकुल ही नहीं रह जाता, और 'मे अथवा मम' पद का फिर भी अध्याहार करना पड़ता है; एवं इतनी माथापच्ची करने पर उपमान और उपमेय में जैसे तैसे विभक्ति की समता हो गई, तो दोनों में लिङ्ग की विषमता का नया दोष बना ही रहता है। दूसरे पक्ष में अर्थात् प्रियाय+अर्हसि ऐसे व्याकरण की रीति से शुद्ध और सरल पद किये जायँ तो उपमेय में जहाँ षष्ठी होनी चाहिये, वहाँ 'प्रियाय' यह चतुर्थी आती है,—बस इतना ही दोष रहता है, और यह दोष कोई विशेष महत्त्व का नहीं है। क्योंकि षष्ठी का अर्थ यहाँ चतुर्थी का सा है और अन्यत्र भी कई बार ऐसा होता है। इस श्लोक का अर्थ परमार्थप्रपा टीका में वैसा ही है, जैसा कि हमने किया है।]

(४५) कभी न देखे हुए रूप को देख कर मुझे हर्ष हुआ है और भय से मेरा मन व्याकुल भी हो गया है। हे जगन्निवास, देवाधिदेव! प्रसन्न हो जाओ! और हे देव! अपना वही पहले का स्वरूप दिखलाओ। (४६) मैं पहले के समान ही किरीट और गदा धारण करनेवाले, हाथ में चक्र लिये हुए तुमको देखना चाहता हूँ; (अतएव) हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति! उसी चतुर्भुज रूप से प्रगट हो जाओ!

श्रीभगवान् ने कहा—(४७) हे अर्जुन! (तुझ पर) प्रसन्न हो कर यह तेजोमय, अनन्त, आद्य और परम विश्वरूप अपने योग-सामर्थ्य से मैं ने तुझे दिखलाया है;

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

इसे तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा। (४८) हे कुरुवीरश्रेष्ठ! मनुष्यलोक में मेरे इस प्रकार का स्वरूप कोई भी वेद से, यज्ञों से, स्वाध्याय से, दान से, कर्मों से, अथवा उग्र तप से नहीं देख सकता, कि जिसे तू ने देखा है। (४९) मेरे ऐसे घोर रूप को देख कर अपने चित्त में व्यथा न होने दे; और मूढ़ मत हो जा। डर छोड़ कर संतुष्ट मन से मेरे उसी स्वरूप को फिर देख ले। सञ्जय ने कहा—(५०) इस प्रकार भाषण करके वासुदेव ने अर्जुन को फिर अपना (पहले का) स्वरूप दिखलाया; और फिर सौम्य रूप धारण करके उस महात्मा ने डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया।

[गीता के द्वितीय अध्याय के ५ वें से ८ वें, २० वें, २२ वें, २९ वें और ७० वें श्लोक, आठवें अध्याय के ९वें, १०वें, ११वें और २८वें श्लोक, नवें अध्याय के २० और २१वें श्लोक, पन्द्रहवें अध्याय के २ रे से ५ वें और १५वें श्लोक का छन्द विश्वरूप-वर्णन के उक्त ३६ श्लोकों के छन्द के समान है; अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर हैं। परन्तु इनमें गणों का कोई एक नियम नहीं है; इससे कालिदास प्रभृति के काव्यों के इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी आदि छन्दों की चाल पर ये श्लोक नहीं कहे जा सकते। अर्थात् यह वृत्तरचना आर्ष यानी वेदसंहिता के त्रिष्टुप् वृत्त के नमुने पर की गई है; इस कारण यह सिद्धान्त और भी सुदृढ़ हो जाता है, कि गीता बहुत प्राचीन होगी। देखो गीतारहस्य परिशिष्ट प्रकरण पृ. ५१६।]

अर्जुन ने कहा—(५१) हे जनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य और मनुष्य-देहधारी रूप को देख कर अब मन ठिकाने आ गया और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ।

श्रीभगवानुवाच।

§§ सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
§§ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।

श्रीभगवान् ने कहा—(५२) मेरे जिस रूप को तू ने देखा है, इसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है। देवता भी इस रूप को देखने की सदैव इच्छा किये रहते हैं। (५३) जैसा तूने मुझे देखा है वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से, अथवा यज्ञ से भी (कोई), देख नहीं सकता। (५४) हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना, और हे परन्तप! मुझमें तत्त्व से प्रवेश करना सम्भव है।

[भक्ति करने से परमेश्वर का पहले ज्ञान होता है, और फिर अन्त में परमेश्वर के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। यही सिद्धान्त पहले ४. ३९ में और आगे १८. ५५ में फिर आया है। इसका खुलासा हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण (पृ. ४२६-४२८) में किया है। अब अर्जुन को पूरी गीता के अर्थ का सार बतलाते हैं—]

(५५) हे पाण्डव! जो इस बुद्धि से कर्म करता है, कि सब कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण और सङ्गविरहित है, और जो सब प्राणियों के विषय में निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है!

[उक्त श्लोक का आशय यह है, कि जगत् के सब व्यवहार भगवद्भक्त को परमेश्वरार्पणबुद्धि से करना चाहिये (ऊपर ३३ वाँ श्लोक देखो), अर्थात् उसे सारे व्यवहार इस निरभिमान बुद्धि से करना चाहिये, कि जगत् के सभी कर्म परमेश्वर के हैं, सच्चा कर्ता और करानेवाला वही है; किन्तु हमें निमित्त बना कर वह ये कर्म हम से करवा रहा है; ऐसा करने से वे कर्म शांति अथवा मोक्ष-प्राप्ति में बाधक नहीं होते। शाङ्करभाष्य में भी यही कहा है, कि इस श्लोक में पूरे

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

गीताशास्त्र का तात्पर्य आ गया है। इससे प्रगट है, कि गीता का भक्तिमार्ग यह नहीं कहता कि आराम से 'राम राम' जपा करो; प्रत्युत उसका कथन है, कि उत्कट भक्ति के साथ ही साथ उत्साह से सब निष्काम कर्म करते रहो। संन्यास-मार्गवाले कहते हैं, कि 'निर्वैर' का अर्थ निष्क्रिय है; परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, इसी बात को प्रगट करने के लिये उसके साथ 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् 'सब कर्मों को परमेश्वर के (अपने नहीं) समझ कर परमेश्वरार्पण बुद्धि से करनेवाला' विशेषण लगाया गया है। इस विषय का विस्तृत विचार गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३६०–३६७) में किया गया है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

बारहवाँ अध्याय।

[कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ कर आठवें में अक्षर, अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है। फिर नवें अध्याय में भक्तिरूप प्रत्यक्ष राजमार्ग के निरूपण का प्रारम्भ करके दसवें और ग्यारहवें में तदन्तर्गत 'विभूति-वर्णन' एवं 'विश्वरूप-दर्शन' इन दो उपाख्यानों का वर्णन किया है; और ग्यारहवें अध्याय के अन्त में सार-रूप से अर्जुन को उपदेश किया है, कि भक्ति से एवं निःसङ्ग बुद्धि से समस्त कर्म करते रहो। अब इस पर अर्जुन का प्रश्न है, कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षर-विचार पूर्वक परमेश्वर के अव्यक्त रूप को श्रेष्ठ सिद्ध करके अव्यक्त की अथवा अक्षर की उपासना (७.१९ और २४; ८.२१) बतलाई है और उपदेश किया है, कि युक्तचित्त से युद्ध कर (८.७); एवं नवें अध्याय में व्यक्त उपासना-रूप प्रत्यक्ष धर्म बतला कर कहा है, कि परमेश्वरार्पण बुद्धि से सभी कर्म करना चाहिये (९.२७, ३४ और ११ ५५); तो अब इन दोनों में श्रेष्ठ मार्ग कौनसा है?

द्वादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

§§ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्यैंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

इस प्रश्न में व्यक्तोपासना का अर्थ भक्ति है। परन्तु यहाँ भक्ति से भिन्न भिन्न अनेक उपास्यों का अर्थ विवक्षित नहीं है; उपास्य अथवा प्रतीक कोई भी हो; उसमें एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर की भावना रख कर जो भक्ति की जाती है वही सच्ची व्यक्त उपासना है और इस अध्याय में वही उद्दिष्ट है।]

अर्जुन ने कहा—(१) इस प्रकार सदा युक्त अर्थात् योगयुक्त हो कर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना करते हैं उनमें उत्तम (कर्म-)योगवेत्ता कौन हैं ?

श्रीभगवान् ने कहा—(२)मुझमें मन लगा कर सदा युक्तचित्त हो कर के परम श्रद्धा से जो मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सब से उत्तम युक्त अर्थात् योगी हैं। (३-४) परन्तु जो अनिर्देश्य अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ अर्थात् सब के मूल में रहनेवाले, अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोक कर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे सब भूतों के हित में निमग्न (लोग भी) मुझे ही पाते हैं;(५) (तथापि) उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनके क्लेश अधिक होते हैं। क्योंकि (व्यक्त देहधारी मनुष्यों को) अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

होता है। (६) परन्तु जो मुझ में सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं, (७) हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगों का, मैं इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना विलम्ब किये, उद्धार कर देता हूँ। (८) (अतएव) मुझमें ही मन लगा, मुझमें बुद्धि को स्थिर कर, इससे तू निःसन्देह मुझमें ही निवास करेगा।

[इसमें भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धान्त किया है, कि भगवद्भक्त उत्तम योगी है; फिर तीसरे श्लोक में पक्षान्तरबोधक 'तु' अव्यय का प्रयोग कर, इसमें और चौथे श्लोक में कहा है, कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु इसके सत्य होने पर भी पाँचवें श्लोक में यह बतलाया है, कि अव्यक्त-उपासकों का मार्ग अधिक क्लेशदायक होता है; छठे और सातवें श्लोक में वर्णन किया है, कि अव्यक्त की अपेक्षा व्यक्त की उपासना सुलभ होती है; और आठवें श्लोक में इसके अनुसार व्यवहार करने का अर्जुन को उपदेश किया है। सारांश, ग्यारहवें अध्याय के अन्त (गी.११.५५) में जो उपदेश कर आये हैं, यहाँ अर्जुन के प्रश्न करने पर उसी को दृढ़ कर दिया है। इसका विस्तारपूर्वक विचार, कि भक्तिमार्ग में सुलभता क्या है, गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में कर चुके हैं; इस कारण यहाँ हम उसकी पुनरुक्ति नहीं करते। इतना ही कहे देते हैं, कि अव्यक्त की उपासना कष्टमय होने पर भी मोक्षदायक ही है; और भक्तिमार्गवालों को स्मरण रखना चाहिये, कि भक्तिमार्ग में भी कर्म न छोड़ कर ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है। इसी हेतु से छठे श्लोक में "मुझमें ही सब कर्मों का संन्यास कर के" ये शब्द रखे गये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि भक्तिमार्ग में भी कर्मों को स्वरूपतः न छोड़े किन्तु परमेश्वर में उन्हें अर्थात् उनके फलों को अर्पण कर दे। इससे प्रगट होता है, कि भगवान् ने इस

§§ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

[अध्याय के अन्त में जिस भक्तिमान् पुरुष को अपना प्यारा बतलाया है, उसे भी इसी अर्थात् निष्काम कर्मयोग-मार्ग का ही समझना चाहिये; वह स्वरूपतः कर्मसंन्यासी नहीं है। इस प्रकार भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता और सुलभता बतला कर अब परमेश्वर में ऐसी भक्ति करने के उपाय अथवा साधन बतलाते हुए, उनके तारतम्य का भी खुलासा करते हैं—]

(९) अब (इस प्रकार) मुझमें भली भाँति चित्त को स्थिर करते न बन पड़े तो हे धनञ्जय! अभ्यास की सहायता से अर्थात् बारम्बार प्रयत्न करके मेरी प्राप्ति कर लेने की आशा रख। (१०) यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्ति के अर्थ (शास्त्रों में बतलाये हुए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-पाठ आदि) कर्म करता जा; मदर्थ (ये) कर्म करने से भी तू सिद्धि पावेगा (११) परन्तु यदि इसके करने में भी तू असमर्थ हो, तो उद्योग—मदर्पणपूर्वक योग यानी कर्मयोग—का आश्रय करके यतात्मा होकर अर्थात् धीरे धीरे चित्त को रोकता हुआ, (अन्त में) सब कर्मों के फलों का त्याग कर दे। (१२) क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है, ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, और (इस कर्मफल के) त्याग से तुरंत ही शांति प्राप्त होती है।

[कर्मयोग की दृष्टि से ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के हैं। इन श्लोकों में भक्ति-युक्त कर्मयोग के सिद्ध होने के लिये अभ्यास, ज्ञान-भजन आदि साधन बतला कर, इसके और अन्य साधनों के तारतम्य का विचार करके अन्त में अर्थात् १२ वें श्लोक में, कर्मफल के त्याग की अर्थात् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता वर्णित है। निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता का वर्णन कुछ यहीं नहीं है; किन्तु तीसरे (३.८) पाँचवें (५. २), और छठे (६. ४६) अध्यायों में भी यही अर्थ स्पष्ट रीति से

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनंतरम् ॥ १२ ॥

वर्णित है; और उसके अनुसार फल-त्यागरूप कर्मयोग का आचरण करने के लिये स्थान-स्थान पर अर्जुन को उपदेश भी किया है (देखो गीतार. पृ. ३०७—३०८)। परन्तु गीताधर्म से जिनका सम्प्रदाय जुदा है, उनके लिये यह बात प्रतिकूल है; इसलिये उन्होंने ऊपर के श्लोकों का और विशेषतया १२ वें श्लोक के पदों का अर्थ बदलने का प्रयत्न किया है। निरे ज्ञानमार्गी अर्थात् सांख्य-टीकाकारों को यह पसन्द नहीं है, कि ज्ञान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ बतलाया जावे। इसलिये उन्होंने कहा है, कि या तो ज्ञान शब्द से 'पुस्तकों का ज्ञान' लेना चाहिये, अथवा कर्मफल-त्याग की इस प्रशंसा को अर्थवादात्मक यानी कोरी प्रशंसा समझनी चाहिये। इसी प्रकार पातंजलयोग-मार्गवालों को अभ्यास की अपेक्षा कर्मफल-त्याग का बड़प्पन नहीं सुहाता और कोरे भक्तिमार्गवालों को—अर्थात् जो कहते हैं कि भक्ति को छोड़ दूसरे कोई भी कर्म न करो उनको—ध्यान की अपेक्षा अर्थात् भक्ति की अपेक्षा कर्मफलत्याग की श्रेष्ठता मान्य नहीं है। वर्तमान समय में गीता का भक्तियुक्त कर्मयोग सम्प्रदाय लुप्त सा हो गया है, कि जो पातञ्जलयोग, ज्ञान और भक्ति इन तीनों सम्प्रदायों से भिन्न है, और इसी से उस सम्प्रदाय का कोई टीकाकार भी नहीं पाया जाता है। अतएव आज कल गीता पर जितनी टीकाएँ पाई जाती हैं, उनमें कर्मफल-त्याग की श्रेष्ठता अर्थवादात्मक समझी गई है। परन्तु हमारी राय में यह भूल है। गीता में निष्काम कर्मयोग को ही प्रतिपाद्य मान लेने से इस श्लोक के अर्थ के विषय में कोई भी अड़चन नहीं रहती। यदि मान लिया जाय, कि कर्म छोड़ने से निर्वाह नहीं होता, निष्काम कर्म करना ही चाहिये; तो स्वरूपतः कर्मों को त्यागनेवाला ज्ञानमार्ग कर्मयोग से कनिष्ठ निश्चित होता है, कोरी इन्द्रियों की ही कसरत करनेवाला पातञ्जलयोग कर्मयोग से हलका जँचने लगता है, और सभी कर्मों को छोड़ देनेवाला भक्तिमार्ग भी कर्मयोग की अपेक्षा कम योग्यता का सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाने पर यही प्रश्न रह जाता है, कि कर्मयोग में आवश्यक भक्तियुक्त साम्यबुद्धि को प्राप्त करने के लिये उपाय क्या है। ये उपाय तीन हैं—अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमें, यदि किसी से अभ्यास न सधे तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। गीता का कथन है, कि इन उपायों का आचरण करना,

§§ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

यथोक्त क्रम से सुलभ है। १२ वें श्लोक में कहा है, कि यदि इनमें से एक भी उपाय न सधे, तो मनुष्य को चाहिये कि वह कर्मयोग के आचरण करने का ही एकदम आरम्भ कर दें। अब यहाँ एक शंका यह होती है, कि जिससे अभ्यास नहीं सधता और जिससे ज्ञान-ध्यान भी नहीं होता, वह कर्मयोग करेगा ही कैसे? कई एकों ने निश्चय किया है, कि फिर कर्मयोग को सब की अपेक्षा सुलभ कहना ही निरर्थक है। परन्तु विचार करने से देख पड़ेगा, कि इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं है। १२ वें श्लोक में यह नहीं कहा है, कि सब कर्मों के फलों का 'एकदम' त्याग कर दे; वरन् यह कहा है कि पहले भगवान् के बतलाये हुए कर्मयोग का आश्रय करके, (ततः) तदनन्तर धीरे-धीरे इस बात को अन्त में सिद्ध कर ले। और ऐसा अर्थ करने से कुछ भी विसङ्गति नहीं रह जाती। पिछले अध्यायों में कह आये हैं, कि कर्मफल के स्वल्प आचरण से ही नहीं (गी.२.४०), किन्तु जिज्ञासा (देखो गी. ६.४४ और हमारी टिप्पणी) हो जाने से भी मनुष्य आप ही आप अन्तिम सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है। अतएव उस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला साधन या सिढ़ी यही है, कि कर्मयोग का आश्रय करना चाहिये अर्थात् इस मार्ग से जाने की मन में इच्छा होनी चाहिये। कौन कह सकता है, कि यह साधन अभ्यास, ज्ञान और ध्यान की अपेक्षा सुलभ नहीं है? और १२ वें श्लोक का भावार्थ है भी यही। न केवल भगवद्गीता में किन्तु सूर्यगीता में भी कहा है—

> ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्।
> इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः॥

"जो इस वेदान्ततत्त्व को जानता है, कि ज्ञान की अपेक्षा उपासना अर्थात् ध्यान या भक्ति उत्कृष्ट है, एवं उपासना की अपेक्षा कर्म अर्थात् निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है" (सूर्यगी. ४. ७७)। सारांश, भगवद्गीता का निश्चित मत यह है, कि कर्मफल-त्यागरूपी योग अर्थात् ज्ञान-भक्ति-युक्त निष्काम कर्मयोग ही सब मार्गों में श्रेष्ठ है; और इसके अनुकूल ही नहीं प्रत्युत पोषक युक्तिवाद १२ वें श्लोक में है। यदि किसी दूसरे सम्प्रदाय को वह न रुचे तो, वह उसे छोड़ दे; परन्तु अर्थ की व्यर्थ खींचातानी न करे। इस प्रकार कर्मफल-त्याग को श्रेष्ठ सिद्ध करके उस मार्ग से जानेवाले को (स्वरूपतः कर्म छोड़नेवाले को नहीं) जो सम और

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।

[शान्त स्थिति अन्त में प्राप्त होती है उसी का वर्णन करके अब भगवान् बतलाते हैं, कि ऐसा भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है—]

(१३) जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से वर्तता है, जो कृपालु है, जो ममत्वबुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान एवं क्षमाशील है, (१४) जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़-निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा (कर्म-) योगी भक्त मुझको प्यारा है। (१५) जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। (१६) मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़ कर करता है, जो (फल के विषय में) उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता, और जिसने (काम्यफल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं। (१७) जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। (१८) जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं, और जिसे (किसी में भी) आसक्ति नहीं है, (१९) जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

जावे उसी में सन्तुष्ट है, एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसका (कर्म-फलाशारूप) ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।

['अनिकेत' शब्द उन यतियों के वर्णनों में भी अनेक बार आया करता है, कि जो गृहस्थाश्रम छोड़, संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते रहते हैं (देखो मनु. ६. २५) और इसका धात्वर्थ 'बिना घरवाला' है। अतः इस अध्याय के 'निर्मम,' 'सर्वारम्भ-परित्यागी' और 'अनिकेत' शब्दों से, तथा अन्यत्र गीता में 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' (४. २१), अथवा 'विविक्तसेवी' (१८.५२) इत्यादि जो शब्द हैं उनके आधार से संन्यास-मार्गवाले टीकाकार कहते हैं, कि हमारे मार्ग का यह परम ध्येय "घर-द्वार छोड़ कर बिना किसी इच्छा के जङ्गलों में आयु के दिन बिताना" ही गीता में प्रतिपाद्य है; और वे इसके लिये स्मृतिग्रन्थों के संन्यास-आश्रम प्रकरण के श्लोकों का प्रमाण दिया करते हैं। गीता-वाक्यों के ये निरे संन्यास-प्रतिपादक अर्थ संन्यास-सम्प्रदाय की दृष्टि से महत्त्व के हो सकते हैं, किन्तु सच्चे नहीं हैं। क्योंकि गीता के अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना सच्चा संन्यास नहीं है। पीछे कई बार गीता का यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (देखो गी. ५.२ और ६.१,२) कि केवल फलाशा को छोड़ना चाहिये, न कि कर्म को। अतः 'अनिकेत' पद का घर-द्वार छोड़ना अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये, कि जिसका गीता के कर्मयोग के साथ मेल मिल सके। गी. ४. २० वें श्लोक में कर्मफल की आशा न रखनेवाले पुरुष को ही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है, और गी. ६. १ में उसी अर्थ में "अनाश्रितः कर्मफलं" शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। अतएव अनिकेत का गृहत्यागी अर्थ न करके, ऐसा करना चाहिये कि गृह आदि में जिसके मन का स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार ऊपर १६ वें श्लोक में जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' शब्द है, उसका भी अर्थ "सारे कर्म या उद्योगों को छोड़नेवाला" नहीं करना चाहिये; किन्तु गीता ४. १९ में जो यह कहा है कि "जिसके समारम्भ फलाशा-विरहित हैं उसके कर्म ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं" वैसा ही अर्थ यानी "काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला" करना चाहिये। यह बात गी. १८.२ और १८.४८ एवं ४९से

§§ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थी में, बालबच्चों में, अथवा संसार के अन्यान्य कामों में उलझा रहता है, उसी को आगे दुःख होता है। अतएव, गीता का इतना ही कहना है, कि इन सब बातों में चित्त को फँसने न दो। और मन की इसी वैराग्य स्थिति को प्रगट करने लिये गीता में 'अनिकेत' और 'सर्वारम्भपरित्यागी' आदि शब्द स्थितप्रज्ञ के वर्णन में आया करते हैं। यही शब्द यतियों के अर्थात् कर्म त्यागनेवाले संन्यासियों के वर्णनों में भी स्मृतिग्रन्थों में आये हैं। पर सिर्फ इसी बुनियाद पर यह नहीं कहा जा सकता, कि कर्मत्याग-रूप संन्यास ही गीता में प्रतिपाद्य है। क्योंकि, इसके साथ ही गीता का यह दूसरा निश्चित सिद्धान्त है, कि जिसकी बुद्धि में पूर्ण वैराग्य भिद गया हो, उस ज्ञानी पुरुष को भी इसी विरक्त-बुद्धि से फलाशा छोड़ कर शास्त्रतः प्राप्त होनेवाले सब कर्म करते ही रहना चाहिये। इस समूचे पूर्वापर सम्बन्ध को बिना समझे गीता में जहाँ कहीं " अनिकेत " की जोड़ के वैराग्य-बोधक शब्द मिल जावें उन्हीं पर सारा दारमदार रख कर यह कह देना ठीक नहीं है, कि गीता में कर्म-संन्यास-प्रधान मार्ग ही प्रतिपाद्य है।]

(२०) उपर बतलाये हुए इस अमृततुल्य धर्म का जो मत्परायण होते हुए श्रद्धा से आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

[यह वर्णन हो चुका है (गी. ६. ४७; ७. १८) कि भक्तिमान् ज्ञानी पुरुष सब से श्रेष्ठ है; उसी वर्णन के अनुसार भगवान् ने इस श्लोक में बतलाया है, कि हमें अत्यन्त प्रिय कौन है, अर्थात् यहाँ परम भगवद्भक्त कर्मयोगी का वर्णन किया है। पर भगवान् ही गी. ९. २९ वें श्लोक में कहते हैं, कि "मुझे सब एक से हैं, कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं है"। देखने में यह विरोध प्रतीत होता है सही; पर यह जान लेने से कोई विरोध नहीं रह जाता, कि एक वर्णन सगुण उपासना का अथवा भक्ति-मार्ग का है, और दूसरा अध्यात्म-दृष्टि अथवा कर्म-विपाक-दृष्टि से किया गया है। गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण के अन्त (पृ. ४२९—४३०) में इस विषय का विवेचन है।

त्रयोदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

—— ——

तेरहवाँ अध्याय।

[पिछले अध्याय में यह बात सिद्ध की गई है, कि अनिर्देश्य और अव्यक्त परमेश्वर का (बुद्धि से) चिन्तन करने पर अन्त में मोक्ष तो मिलता है; परन्तु उसकी अपेक्षा, श्रद्धा से परमेश्वर के प्रत्यक्ष और व्यक्त स्वरूप की भक्ति करके परमेश्वरार्पण बुद्धि से सब कर्मों को करते रहने पर, वही मोक्ष सुलभ रीति से मिल जाता है। परन्तु इतने ही से ज्ञान-विज्ञान का वह निरूपण समाप्त नहीं हो जाता, कि जिसका आरम्भ सातवें अध्याय में किया गया है। परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होने के लिये बाहरी सृष्टि के क्षर-अक्षर-विचार के साथ ही साथ मनुष्य के शरीर और आत्मा का अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भी विचार करना पड़ता है। ऐसे ही यदि सामान्य रीति से जान लिया, कि सब व्यक्त पदार्थ जड़ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, तो भी यह बतलाये बिना ज्ञान-विज्ञान का निरूपण पूरा नहीं होता, कि प्रकृति के किस गुण से यह विस्तार होता है और उसका क्रम कौनसा है। अतएव तेरहवें अध्याय में पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार, और फिर आगे चार अध्यायों में गुणत्रय का विभाग, बतला कर अठारहवें अध्याय में समग्र विषय का उपसंहार किया गया है। सारांश, तीसरी षडध्यायी स्वतन्त्र नहीं है, कर्मयोग की सिद्धि के लिये जिस ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का सातवें अध्याय में आरम्भ हो चुका है उसी की पूर्ति इस षडध्यायी में की गई है। देखो गीतारहस्य पृ. ४९९–४६१। गीता की कई एक प्रतियों में, इस तेरहवें अध्याय के आरम्भ में, यह श्लोक पाया जाता है "अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥" और उसका अर्थ यह है-"अर्जुन ने कहा, मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के जानने की इच्छा है, सो बतलाओ।" परन्तु

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

स्पष्ट देख पड़ता है, कि किसी ने यह न जान कर कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार गीता में आया कैसे है, पीछे से यह श्लोक गीता में घुसेड़ दिया है। टीकाकार इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं, और क्षेपक न मानने से गीता के श्लोकों की संख्या भी सात सौ से एक अधिक बढ़ जाती है। अतः इस श्लोक को हमने भी प्रक्षिप्त ही मान कर, शाङ्करभाष्य के अनुसार इस अध्याय का आरम्भ किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) हे कौन्तेय! इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं। इसे (शरीर को) जो जानता है उसे, तद्विद अर्थात् इस शास्त्र के जाननेवाले, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। (२) हे भारत! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है।

[पहले श्लोक में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' इन दो शब्दों का अर्थ दिया है; और दूसरे श्लोक में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बतलाया है, कि क्षेत्रज्ञ मैं परमेश्वर हूँ, अथवा जो पिण्ड में है वही ब्रह्मांड में है। दूसरे श्लोक के चापि=भी शब्दों का अर्थ यह है—न केवल क्षेत्रज्ञ ही प्रत्युत क्षेत्र भी मैं ही हूँ। क्योंकि जिन पञ्च-महाभूतों से क्षेत्र या शरीर बनता है, वे प्रकृति से बने रहते हैं; और सातवें तथा आठवें अध्याय में बतला आये हैं, कि यह प्रकृति परमेश्वर की ही कनिष्ठ विभूति है (देखो ७. ४; ८. ४; ६. ८)। इस रीति से क्षेत्र या शरीर के पञ्च-महाभूतों से बने हुए रहने के कारण क्षेत्र का समावेश उस वर्ग में होता है जिसे क्षर-अक्षर-विचार में 'क्षर' कहते हैं; और क्षेत्रज्ञ ही परमेश्वर है। इस प्रकार क्षराक्षर-विचार के समान ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार भी परमेश्वर के ज्ञान का एक भाग बन जाता है (देखो गीतार. पृ. १४२–१४८)। और इसी अभि-प्राय को मन में ला कर दूसरे श्लोक के अन्त में यह वाक्य आया है कि "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान है।" जो अद्वैत वेदान्त को नहीं मानते, उन्हें "क्षेत्रज्ञ भी मैं हूँ" इस वाक्य की खींचातानी करनी पड़ती है, और प्रतिपादन करना पड़ता है, कि इस वाक्य से 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मैं, परमेश्वर' का अभेदभाव नहीं दिखलाया जाता। और कई लोग 'मेरा' (मम) इस पद का अन्वय 'ज्ञान' शब्द के साथ न लगा 'मतं' अर्थात् 'माना

§§ तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

गया है' शब्द के साथ लगा कर यों अर्थ करते हैं कि "इनके ज्ञान को मैं ज्ञान समझता हूँ।" पर ये अर्थ सहज नहीं हैं। आठवें अध्याय के आरम्भ में ही वर्णन है कि देह में निवास करनेवाला आत्मा (अधिदेव) मैं ही हूँ अथवा "जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है;" और सातवें में भी भगवान् ने 'जीव' को अपनी ही परा प्रकृति कहा है (७.५)। इसी अध्याय के २२ वें और ३१वें श्लोक में भी ऐसा ही वर्णन है। अब बतलाते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार कहाँ पर और किसने किया है—]

(३) क्षेत्र क्या है, वह किस प्रकार का है, उसके कौन कौन विकार हैं, (उसमें भी) किससे क्या होता है; ऐसे ही वह अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका प्रभाव क्या है—इसे मैं संक्षेप से बतलाता हूँ, सुन। (४) ब्रह्मसूत्र के पदों से भी यह विषय गाया गया है, कि जिन्हें बहुत प्रकार से, विविध छन्दों में पृथक् पृथक् (अनेक) ऋषियों ने (कार्य-कारणरूप) हेतु दिखाला कर पूर्ण निश्चित किया है।

[गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण (पृ. ५३२-५३६) में हमने विस्तारपूर्वक दिखलाया है, कि इस श्लोक में ब्रह्मसूत्र शब्द से वर्तमान वेदान्तसूत्र उद्दिष्ट हैं। उपनिषद् किसी एक ऋषि का कोई एक ग्रन्थ नहीं है। अनेक ऋषियों को भिन्न भिन्न काल या स्थान में जिन अध्यात्मविचारों का स्फुरण हो आया, वे विचार विना किसी पारस्परिक सम्बन्ध के भिन्न भिन्न उपनिषदों में वर्णित हैं। इसलिये उपनिषद् सङ्कीर्ण हो गये हैं और कई स्थानों पर वे परस्पर-विरुद्ध से जान पड़ते हैं। ऊपर के श्लोक के पहले चरण में जो 'विविध' और 'पृथक्' शब्द हैं वे उपनिषदों के इसी सङ्कीर्ण स्वरूप का बोध कराते हैं। इन उपनिषदों के सङ्कीर्ण और परस्पर-विरुद्ध होने के कारण आचार्य बादरायण ने उनके सिद्धान्तों की एकवाक्यता करने के लिये ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों की रचना की है। और, इन सूत्रों में उपनिषदों के सब विषयों को लेकर प्रमाण सहित, अर्थात् कार्य-कारण आदि हेतु दिखला करके, पूर्ण रीति से सिद्ध किया है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में सब उपनिषदों से एक ही सिद्धान्त कैसे निकाला जाता है; अर्थात् उपनिषदों का

§§ महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पञ्च चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

रहस्य समझने के लिये वेदान्तसूत्रों की सदैव ज़रूरत पड़ती है। अतः इस श्लोक में दोनों ही का उल्लेख किया गया है। ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में, तीसरे पाद के पहले १६ सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अन्त तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है। ब्रह्मसूत्रों में यह विचार है, इसलिये उन्हें 'शारीरक सूत्र' अर्थात् शरीर या क्षेत्र का विचार करनेवाले सूत्र भी कहते हैं। यह बतला चुके, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार किसने कहाँ किया है; अब बतलाते हैं कि क्षेत्र क्या है—]

(५) (पृथिवी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महान्), अव्यक्त (प्रकृति), दश (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक (मन); तथा (पाँच) इन्द्रियों के पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सूक्ष्म) विषय, (६) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार, और धृति यानी धैर्य, इस (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

[यह क्षेत्र और उसके विकारों का लक्षण है। पाँचवें श्लोक में सांख्य मतवालों के पचीस तत्त्वों में से, पुरुष को छोड़ शेष चौबीस तत्त्व आगये हैं। इन्हीं चौबीस तत्त्वों में मन का समावेश होने के कारण इच्छा, द्वेष आदि मनोधर्मों को अलग बतलाने की ज़रूरत न थी। परन्तु कणाद-मतानुयायियों के मत से ये धर्म आत्मा के हैं। इस मत को मान लेने से शंका होती है, कि इन गुणों का क्षेत्र में ही समावेश होता है या नहीं। अतः क्षेत्र शब्द की व्याख्या को निःसन्दिग्ध करने के लिये यहाँ स्पष्ट रीति से क्षेत्र में ही इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्वों का समावेश कर लिया है और उसी में भय-अभय आदि अन्य द्वन्द्वों का भी लक्षण से समावेश हो जाता है। यह दिखलाने के लिये, कि सब का संघात अर्थात् समूह क्षेत्र से स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है, उसकी गणना क्षेत्र में ही की गई है। कई बार 'चेतना' शब्द का 'चैतन्य' अर्थ होता है। परन्तु यहाँ चेतना से जड़ देह में प्राण आदि के देख पड़नेवाले व्यापार, अथवा जीवितावस्था

§§ अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

की चेष्टा, ' इतना ही अर्थ विवक्षित है; और ऊपर दूसरे श्लोक में कहा है, कि जड़ वस्तु में यह चेतना जिससे उत्पन्न होती है वह चिच्छक्ति अथवा चैतन्य, क्षेत्रज्ञ-रूप से, क्षेत्र से अलग रहता है। ' धृति' शब्द की व्याख्या आगे गीता (१८. ३३) में ही की है, उसे देखो। छठे श्लोक के ' समासेन ' पद का अर्थ "इन सब का समुदाय" है। अधिक विवरण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण के अन्त (पृ. १४३ और १४४) में मिलेगा। पहले 'क्षेत्रज्ञ' के मानी ' परमेश्वर ' बतला कर फिर खुलासा किया है कि ' क्षेत्र ' क्या है। अब मनुष्य के स्वभाव पर ज्ञान के जो परिणाम होते हैं, उनका वर्णन करके यह बतलाते हैं, कि ज्ञान किसको कहते हैं; और आगे ज्ञेय का स्वरूप बतलाया है। ये दोनों विषय देखने में भिन्न देख पड़ते हैं अवश्य; पर वास्तविक रीति से वे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के ही दो भाग हैं। क्योंकि, आरम्भ में ही क्षेत्रज्ञ का अर्थ परमेश्वर बतला आये हैं। अतएव क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है और उसी का स्वरूप अगले श्लोकों में वर्णित है—बीच में ही कोई मनमाना विषय नहीं घर घुसेड़ा है।

(७) मान-हीनता, दम्भ-हीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, (८) इन्द्रियों के विषयों में विराग, अहङ्कार-हीनता, और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखों को (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना; (९) (कर्म में) अनासक्ति, बालबच्चों और घर-गृहस्थी आदि में लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति से चित्त की सर्वदा एक ही सी वृत्ति रखना, (१०) और मुझमें अनन्य भाव से अटल भक्ति, 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

एकान्त स्थान में रहना, साधारण लोगों के जमाव को पसन्द न करना, (११) अध्यात्म ज्ञान को नित्य समझना और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का परिशीलन—इनको ज्ञान कहते हैं; इसके व्यतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है।

[सांख्यों के मत में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान है; और उसे इसी अध्याय में आगे बतलाया है (१३. १९–२३; १४. १८)। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय (१८. २०) में ज्ञान के स्वरूप का यह व्यापक लक्षण बतलाया है—"अविभक्तं विभक्तेषु"। परन्तु मोक्षशास्त्र में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अर्थ बुद्धि से यही जान लेना नहीं होता, कि अमुक अमुक बातें अमुक प्रकार की हैं। अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त यह है, कि उस ज्ञान का देह के स्वभाव पर साम्यबुद्धिरूप परिणाम होना चाहिये; अन्यथा वह ज्ञान अपूर्ण या कच्चा है। अतएव यह नहीं बतलाया, कि बुद्धि से अमुक अमुक जान लेना ही ज्ञान है; बल्कि, ऊपर पाँच श्लोकों में ज्ञान की इस प्रकार व्याख्या की गई है, कि जब उक्त श्लोकों में बतलाये हुए बीस गुण (मान और दम्भ का छूट जाना, अहिंसा, अनासक्ति, समबुद्धि, इत्यादि) मनुष्य के स्वभाव में देख पड़ने लगें तब, उसे ज्ञान कहना चाहिये; (गीतार. पृ. २४० और २४८)। दसवें श्लोक में "विविक्तस्थान में रहना और जमाव को नापसन्द करना" भी ज्ञान का एक लक्षण कहा है; इससे कुछ लोगों ने यह दिखान का प्रयत्न किया है, कि गीता को संन्यासमार्ग ही अभीष्ट है। किन्तु हम पहले ही बतला आये हैं (देखो गी. १२. १९ की टिप्पणी और गीतार. पृ. २८३) कि यह मत ठीक नहीं है, और ऐसा अर्थ करना उचित भी नहीं है। यहाँ इतना ही विचार किया है कि 'ज्ञान' क्या है; और वह ज्ञान बाल-बच्चों में, घर-गृहस्थी में अथवा लोगों के जमाव में अनासक्ति है, एवं इस विषय में कोई वाद भी नहीं है। अब अगला प्रश्न यह है कि इस ज्ञान के हो जाने पर, इसी अनासक्त-बुद्धि से बाल-बच्चों में अथवा संसार में रह कर प्राणिमात्र के हितार्थ जगत् के व्यवहार किये जायँ अथवा न किये जायँ; और केवल ज्ञान की व्याख्या से ही इसका निर्णय करना उचित नहीं है। क्योंकि गीता में ही भगवान् ने अनेक स्थलों पर कहा है, कि ज्ञानी पुरुष कर्मों में लिप्त न होकर उन्हें आसक्त-बुद्धि से लोकसंग्रह

§§ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥
सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत्॥ १५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

के निमित्त करता रहे और इसकी सिद्धि के लिये जनक के बर्ताव का और अपने व्यवहार का उदाहरण भी दिया है (गी. ३. १९-२५; ४. १४)। समर्थ श्रीरामदास स्वामी के चरित्र से यह बात प्रगट होती है, कि शहर में रहने की लालसा न रहने पर भी जगत् के व्यवहार केवल कर्त्तव्य समझकर कैसे किये जा सकते हैं (देखो दासबोध १९. ६. २९ और १९. ९. ११)। यह ज्ञान का लक्षण हुआ, अब ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं]

(१२) (अब तुझे) वह बतलाता हूँ (कि) जिसे जान लेने से 'अमृत' अर्थात् मोक्ष मिलता है। (वह) अनादि (सब से) परे का ब्रह्म है। न उसे 'सत्' कहते हैं और न 'असत्' ही। (१३) उसके, सब ओर हाथ-पैर हैं; सब ओर आँखें, सिर और मुंह हैं; सब ओर कान हैं; और वही इस लोक में सब को व्याप रहा है। (१४) (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है; वह (सब से) असक्त अर्थात् अलग हो कर भी सब का पालन करता है; और निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग करता है। (१५) (वह) सब भूतों के भीतर और बाहर भी है; अचर है और चर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है; और दूर होकर भी समीप है। (१६) वह (तत्त्वतः) 'अविभक्त' अर्थात् अखंडित होकर भी, सब भूतों में मानों (नानात्व से) विभक्त हो रहा है; और (सब) भूतों का पालन करनेवाला, ग्रसनेवाला एवं उत्पन्न करने-

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

वाला भी उसे ही समझना चाहिये।(१७)उसे ही तेज का भी तेज, और अन्धकार से परे का कहते हैं; ज्ञान, जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय), और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से (ही) विदित होनेवाला भी (वही) है, सब के हृदय में वही अधिष्ठित है।

[अचिन्त्य और अक्षर परब्रह्म—जिसे कि क्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा भी कहते हैं—(गी. १३. २२) का जो वर्णन ऊपर है, वह आठवें अध्यायवाले अक्षर ब्रह्म के वर्णन के समान (गी. ८. ९-११) उपनिषदों के आधार पर किया गया है। पूरा तेरहवाँ श्लोक (श्वे. ३. १६) और अगले श्लोक का यह अर्धांश कि "सब इन्द्रियों के गुणों का भास होनेवाला, तथापि सब इन्द्रियों से विरहित" श्वेताश्वतर उपनिषद् (३.१७) में ज्यों का त्यों है; एवं "दूर होने पर भी समीप" ये शब्द ईशावास्य (५) और मुण्डक (३.१. ७) उपनिषदों में पाये जाते हैं। ऐसे ही "तेज का तेज" ये शब्द बृहदारण्यक (४. ४.१६) के हैं, और "अन्धकार से परे का" ये शब्द श्वेताश्वतर (३.८) के हैं। इसी भाँति यह वर्णन कि "जो न तो सत् कहा जाता है और न असत् कहा जाता है" ऋग्वेद के "नासदासीत् नो सदासीत्" इस ब्रह्म-विषयक प्रसिद्ध सूक्त को (ऋ. १० १२९) लक्ष्य कर किया गया है। 'सत्' और 'असत्' शब्दों के अर्थों का विचार गीतारहस्य पृ. २४३–२४४ में विस्तार सहित किया गया है; और फिर गीता ९.१९ वें श्लोक की टिप्पणी में भी किया गया है। गीता ९. १९ में कहा है कि 'सत्' और 'असत्' मैं ही हूँ। अब यह वर्णन विरुद्ध सा जँचता है, कि सच्चा ब्रह्म न 'सत्' है और न 'असत्'। परन्तु वास्तव में यह विरोध सच्चा नहीं है। क्योंकि 'व्यक्त' (क्षर) सृष्टि और 'अव्यक्त' (अक्षर) सृष्टि, ये दोनों यद्यपि परमेश्वर के ही स्वरूप हों, तथापि सच्चा परमेश्वरतत्त्व इन दोनों से परे अर्थात् पूर्णतया अज्ञेय है। यह सिद्धान्त गीता में ही पहले "भूतभृन्न च भूतस्थ" (गी. ९.५) में और आगे फिर (१५. १६, १७) पुरुषोत्तम-लक्षण में स्पष्टतया बतलाया गया है। निर्गुण ब्रह्म किसे कहते हैं, और जगत् में रह कर भी वह जगत् से बाहर कैसे है अथवा वह 'विभक्त' अर्थात् नानारूपात्मक देख पड़ने पर भी मूल में अविभक्त अर्थात् एक ही कैसे है, इत्यादि प्रश्नों का विचार गीता-

§§ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

रहस्य के नवें प्रकरण में (पृ. २०८ से आगे) किया जा चुका है। सोलहवें श्लोक में 'विभक्तमिव' का अनुवाद यह है—"मानों विभक्त हुआ सा देख पड़ता है"। यह 'इव' शब्द उपनिषदों में अनेक बार इसी अर्थ में आया है, कि जगत् का नानात्व भ्रान्तिकारक है और एकत्व ही सत्य है। उदाहरणार्थ "द्वैतमिव भवति," "य इह नानेव पश्यति" इत्यादि (बृ.२. ४. १४; ४. ४. १६; ४. ३ ७)। अतएव प्रगट है, कि गीता में यह अद्वैत सिद्धान्त ही प्रतिपाद्य है कि, नाना नाम-रूपात्मक माया भ्रम है और उसमें अविभक्त से रहनेवाला ब्रह्म ही सत्य है। गीता.१८.२० में फिर बतलाया है, कि 'अविभक्तं विभक्तेषु' अर्थात् नानात्व में एकत्व देखना सात्त्विक ज्ञान का लक्षण है। गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण में वर्णन है, कि यही सात्त्विक ज्ञान ब्रह्म है। देखो गीतार. पृ.२१४,२१५; और पृ. १३१-१३२।]

(१८) इस प्रकार संक्षेप से बतला दिया कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय किसे कहते हैं। मेरा भक्त इसे जान कर, मेरे स्वरूप को पाता है।

[अध्यात्म या वेदान्तशास्त्र के आधार से अब तक क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया। इनमें 'ज्ञेय' ही क्षेत्रज्ञ अथवा परब्रह्म है और 'ज्ञान' दूसरे श्लोक में बतलाया हुआ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है, इस कारण यही संक्षेप में परमेश्वर के सब ज्ञान का निरूपण है। १८ वें श्लोक में यह सिद्धान्त बतला दिया है, कि जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ही परमेश्वर का ज्ञान है, तब आगे यह आप ही सिद्ध है,कि उसका फल भी मोक्ष ही होना चाहिये। वेदान्तशास्त्र का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार यहाँ समाप्त हो गया। परन्तु प्रकृति से ही पाञ्चभौतिक विकार-वान् क्षेत्र उत्पन्न होता है इसलिये,और सांख्य जिसे 'पुरुष' कहते हैं उसे ही अध्यात्मशास्त्र में 'आत्मा' कहते हैं इसलिये, सांख्य की दृष्टि से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार ही प्रकृति-पुरुष का विवेक होता है। गीताशास्त्र प्रकृति और पुरुष को सांख्य के समान दो स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता; सातवें अध्याय (७.४,५) में कहा है, कि ये एक ही परमेश्वर के, कनिष्ठ और श्रेष्ठ, दो रूप हैं। परन्तु सांख्यों के द्वैत के बदले गीताशास्त्र के इस अद्वैत को एक बार स्वीकार कर लेने पर,फिर प्रकृति और पुरुष के परस्पर सम्बन्ध का सांख्यों का ज्ञान गीता को अमान्य नहीं है।

§§ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १९॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

[और यह भी कह सकते हैं, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का ही रूपान्तर प्रकृति-पुरुष का विवेक है (देखो गीतार. प्र.७)। इसी लिये अब तक उपनिषदों के आधार से जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान बतलाया गया, उसे ही अब सांख्यों की परिभाषा में, किन्तु सांख्यों के द्वैत को अस्वीकार करके, प्रकृति-पुरुष-विवेक के रूप से बतलाते हैं—]

(१९) प्रकृति और पुरुष, दोनों को ही अनादि समझ। विकार और गुणों को प्रकृति से ही उपजा हुआ जान।

[सांख्यशास्त्र के मत में प्रकृति और पुरुष, दोनों न केवल अनादि हैं प्रत्युत स्वतन्त्र और स्वयंभू भी हैं। वेदान्ती समझते हैं कि प्रकृति परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई है, अतएव वह न स्वयम्भू है और न स्वतन्त्र है (गी. ४.५, ६)। परन्तु यह नहीं बतलाया जा सकता, कि परमेश्वर से प्रकृति कब उत्पन्न हुई; और पुरुष (जीव) परमेश्वर का ही अंश है (गी. १५.७); इस कारण वेदान्तियों को इतना मान्य है, कि दोनों अनादि हैं। इस विषय का अधिक विवेचन गीता-रहस्य के ७ वें प्रकरण में और विशेषतः पृ.१६१–१६७ में, एवं १० वें प्रकरण के पृ. २६२–२६५ में किया है।]

(२०) कार्य अर्थात् देह के और कारण अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व के लिये प्रकृति कारण कही जाती है; और (कर्ता न होने पर भी) सुख-दुःखों को भोगने के लिये पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण कहा जाता है।

[इस श्लोक में 'कार्यकरण' के स्थान में 'कार्यकारण' भी पाठ है, और तब उसका यह अर्थ होता है:—सांख्यों के महत् आदि तेईस तत्त्व एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा इस कार्य-कारण क्रम से उपज कर सारी व्यक्त सृष्टि प्रकृति से बनती है। यह अर्थ भी बेजा नहीं है; परन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार में क्षेत्र की उत्पत्ति बतलाना प्रसंगानुसार नहीं है। प्रकृति से जगत् के उत्पन्न होने का वर्णन तो पहले ही सातवें और नवें अध्याय में हो चुका है। अतएव 'कार्य-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
§§ उपद्रष्टाऽनुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

कारण' पाठ ही यहाँ अधिक प्रशस्त देख पड़ता है। शाङ्करभाष्य में यह 'कार्यकारण' पाठ है।]

(२१) क्योंकि पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित हो कर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है; और (प्रकृति के) गुणों का यह संयोग पुरुष को भली-बुरी योनियों में जन्म लेने के लिये कारण होता है।

[प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का और भेद का यह वर्णन सांख्यशास्त्र का है (देखो गीतार. पृ.१५४—१६२)। अब यह कह कर, कि वेदान्ती लोग पुरुष को परमात्मा कहते हैं,सांख्य और वेदान्त का मेल कर दिया गया है, और ऐसा करने से प्रकृति-पुरुष-विचार एवं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार की पूरी एकवाक्यता हो जाती है।

(२२) (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठ कर देखनेवाले, अनुमोदन करनेवाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ानेवाले, और उपभोग करनेवाले को ही इस देह में परपुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। (२३) इस प्रकार पुरुष (निर्गुण) और प्रकृति को ही जो गुणों समेत जानता है, वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

[२२ वें श्लोक में जब यह निश्चय हो चुका, कि पुरुष ही देह में परमात्मा है, तब सांख्यशास्त्र के अनुसार पुरुष का जो उदासीनत्व और अकर्तृत्व है वही आत्मा का अकर्तृत्व हो जाता है और इस प्रकार सांख्यों की उपपत्ति से वेदान्त की एकवाक्यता हो जाती है। कुछ वेदान्तवाले ग्रन्थकारों की समझ है, कि सांख्य-वादी वेदान्त के शत्रु हैं,अतः बहुतेरे वेदान्ती सांख्य-उपपत्ति को सर्वथा त्याज्य मानते हैं। किन्तु गीता ने ऐसा नहीं किया;एक ही विषय, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का एक बार वेदान्त की दृष्टि से, और दूसरी बार (वेदान्त के अद्वैत मत

§§ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

§§ यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।

को बिना छोड़े ही) सांख्य-दृष्टि से, प्रतिपादन किया है। इससे गीताशास्त्र की समबुद्धि प्रगट हो जाती है। यह भी कह सकते हैं, कि उपनिषदों के और गीता के विवेचन में यह एक महत्त्व का भेद है (देखो गी.र. परिशिष्ट पृ.५२७)। इससे प्रगट होता है, कि यद्यपि सांख्यों का द्वैत-वाद गीता को मान्य नहीं है, तथापि उनके प्रतिपादन में जो कुछ युक्तिसङ्गत जान पड़ता है, वह गीता को अमान्य नहीं है। दूसरे ही श्लोक में कह दिया है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमेश्वर का ज्ञान है। अब प्रसङ्ग के अनुसार संक्षेप से पिण्ड का ज्ञान और देह के परमेश्वर का ज्ञान सम्पादन कर मोक्ष प्राप्त करने के मार्ग बतलाते हैं—]

(२४) कुछ लोग स्वयं अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं; कोई सांख्ययोग से देखते हैं और कोई कर्मयोग से। (२५) परन्तु इस प्रकार जिन्हें (अपने आप ही) ज्ञान नहीं होता वे दूसरे से सुन कर (श्रद्धा से परमेश्वर का) भजन करते हैं। सुनी हुई बात को प्रमाण मान कर वर्तनेवाले ये पुरुष भी मृत्यु को पार कर जाते हैं।

[इन दो श्लोकों में पातञ्जलयोग के अनुसार ध्यान, सांख्यमार्ग के अनुसार ज्ञानोत्तर कर्मसंन्यास, कर्मयोग-मार्ग के अनुसार निष्काम बुद्धि से परमेश्वरार्पण-पूर्वक कर्म करना, और ज्ञान न हो तो भी श्रद्धा से आप्तों के वचनों पर विश्वास रख कर परमेश्वर की भक्ति करना (गी. ४.३९), ये आत्मज्ञान के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाये गये हैं। कोई किसी भी मार्ग से जावे, अन्त में उसे भगवान् का ज्ञान हो कर मोक्ष मिल ही जाता है। तथापि पहले जो यह सिद्धान्त किया गया है, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्मयोग श्रेष्ठ है, वह इससे खण्डित नहीं होता। इस प्रकार साधन बतला कर सामान्य रीति से समग्र विषय का अगले श्लोक में उपसंहार किया है, और उसमें भी वेदान्त से कापिल सांख्य का मेल मिला दिया है।]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥
§§ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

(२६) हे भरतश्रेष्ठ ! स्मरण रख, कि स्थावर या जङ्गम किसी भी वस्तु का निर्माण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है। (२७) सब भूतों में एक सा रहने वाला, और सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, कहना होगा कि उसी ने (सच्चे तत्त्व को) पहचाना। (२८) ईश्वर को सर्वत्र एक सा व्याप्त समझ कर (जो पुरुष) अपने आप ही घात नहीं करता, अर्थात् अपने आप अच्छे मार्ग में लग जाता है, वह इस कारण से उत्तम गति पाता है।

[२७ वें श्लोक में परमेश्वर का जो लक्षण बतलाया है, वह पीछे गी. ८. २०वें श्लोक में आ चुका है और उसका खुलासा गीतारहस्य के नवें प्रकरण में किया गया है (देखो गीतार. पृ. २१८ और २४९)। ऐसे ही २८वें श्लोक में फिर वही बात कही है जो पीछे (गी. ६. ५–७) कही जा चुकी है, कि आत्मा अपना बन्धु है और वही अपना शत्रु है। इस प्रकार २६, २७ और २८ वें श्लोकों में, सब प्राणियों के विषय में साम्यबुद्धिरूप भाव का वर्णन कर चुकने पर बतलाते हैं, कि इसके जान लेने से क्या होता है—]

(२९) जिसने यह जान लिया कि (सब) कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं, और आत्मा अकर्त्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, कहना चाहिये कि उसनें (सच्चे तत्त्व को) पहचान लिया। (३०) जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे), और इस (एकता) से ही (सब) विस्तार दीखने लगे, तब ब्रह्म प्राप्त होता है।

§§ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

§§ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

[अब बतलाते हैं कि आत्मा निर्गुण, अलिप्त और अक्रिय कैसे है —]

(३१) हे कौन्तेय ! अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रह कर भी कुछ करता-धरता नहीं है, और उसे (किसी भी कर्म का) लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता। (३२) जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे (किसी का भी) लेप नहीं लगता, वैसे ही देह में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को (किसी का भी) लेप नहीं लगता । (३३) हे भारत ! जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है ।

(३४) इस प्रकार ज्ञान-चक्षु से अर्थात् ज्ञानरूप नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को, एवं सब भूतों की (मूल) प्रकृति के मोक्ष को, जो जानते हैं वे परब्रह्म को पाते हैं ।

[यह पूरे प्रकरण का उपसंहार है। 'भूतप्रकृतिमोक्ष' शब्द का अर्थ हमने सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार किया है। सांख्यों का सिद्धान्त है, कि मोक्ष का मिलना या न मिलना आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं, क्योंकि वह तो सदैव अकर्त्ता और असङ्ग है; परन्तु प्रकृति के गुणों के सङ्ग से वह अपने में कर्तृत्व का आरोप किया करता है, इसलिये जब उसका यह अज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके साथ लगी हुई प्रकृति छूट जाती है, अर्थात् उसी का मोक्ष हो जाता है और इसके पश्चात् उसका पुरुष के आगे नाचना बन्द हो जाता है । अतएव सांख्य मत-वाले प्रतिपादन किया करते हैं, कि तात्त्विक दृष्टि से बन्ध और मोक्ष

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

दोनों अवस्थाएँ प्रकृति की ही हैं (देखो सांख्यकारिका ६२ और गीतारहस्य पृ. १६४–१६५)। हमें जान पड़ता है, कि सांख्य के ऊपर लिखे हुए सिद्धान्त के अनुसार ही इस श्लोक में 'प्रकृति का मोक्ष' ये शब्द आये हैं। परन्तु कुछ लोग इन शब्दों का यह अर्थ भी लगाते हैं कि "भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः"—पञ्चमहाभूत और प्रकृति से अर्थात् मायात्मक कर्मों से आत्मा का मोक्ष होता है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक ज्ञान-चक्षु से विदित होनेवाला है (गी.१३.३४); नवें अध्याय की राजविद्या प्रत्यक्ष अर्थात् चर्मचक्षु से ज्ञात होनेवाली है (गी. ९. २); और विश्वरूप-दर्शन परम भगवद्भक्त को भी केवल दिव्य-चक्षु से ही होनेवाला है (गी.११.८)। नवें, ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय के ज्ञान-विज्ञान निरूपण का उक्त भेद ध्यान देने योग्य है।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में प्रकृति-पुरुष-विवेक अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

चौदहवाँ अध्याय।

[तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार एक बार वेदान्त की दृष्टि से और दूसरी बार सांख्य की दृष्टि से बतलाया है; एवं उसी में प्रतिपादन किया है, कि सब कर्तृत्व प्रकृति का ही है, पुरुष अर्थात् क्षेत्रज्ञ उदासीन रहता है। परन्तु इस बात का विवेचन अब तक नहीं हुआ, कि प्रकृति का यह कर्तृत्व क्योंकर चला करता है। अतएव इस अध्याय में बतलाते हैं, कि एक ही प्रकृति से विविध सृष्टि, विशेषतः सजीव सृष्टि, कैसे उत्पन्न होती है। केवल मानवी सृष्टि का ही विचार करें तो यह विषय क्षेत्र-सम्बन्धी अर्थात् शरीर का होता है, और उसका समावेश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में हो सकता है। परन्तु जब स्थावर सृष्टि भी त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही फैलाव है, तब प्रकृति के गुण-भेद का यह विवेचन क्षर-अक्षर-विचार का भी भाग हो सकता है; अतएव इस संकुचित 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' नाम को छोड़ कर सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान के बतलाने का आरम्भ किया था, उसी को

चतुर्दशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
§§ ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

स्पष्ट रीति से फिर भी बतलाने का आरम्भ भगवान् ने इस अध्याय में किया है। सांख्यशास्त्र की दृष्टि से इस विषय का विस्तृत निरूपण गीतारहस्य के आठवें प्रकरण में किया गया है। त्रिगुण के विस्तार का यह वर्णन अनुगीता और मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में भी है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) और फिर सब ज्ञानों से उत्तम ज्ञान बतलाता हूँ, कि जिसको जान कर सब मुनि लोग इस लोक से परम सिद्धि पा गये हैं। (२) इस ज्ञान का आश्रय करके मुझसे एकरूपता पाये हुए लोग, सृष्टि के उत्पत्तिकाल में भी नहीं जन्मते और प्रलयकाल में भी व्यथा नहीं पाते (अर्थात् जन्ममरण से एकदम छुटकारा पा जाते हैं)।

[यह हुई प्रस्तावना। अब पहले बतलाते हैं, कि प्रकृति मेरा ही स्वरूप है, फिर सांख्यों के द्वैत को अलग कर, वेदान्तशास्त्र के अनुकूल यह निरूपण करते हैं, कि प्रकृति के सत्त्व,रज और तम इन तीन गुणों से सृष्टि के नाना प्रकार के व्यक्त पदार्थ किस प्रकार निर्मित होते हैं—]

(३) हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी ही योनि है,मैं उसमें गर्भ रखता हूँ;फिर उससे समस्त भूत उत्पन्न होने लगते हैं। (४) हे कौन्तेय! (पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो मूर्तियाँ जन्मती हैं, उनकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं बीजदाता पिता हूँ।

§§ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

(५) हे महाबाहु! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम गुण देह में रहनेवाले अव्यय अर्थात् निर्विकार आत्मा को देह में बाँध लेते हैं। (६) हे निष्पाप अर्जुन! इन गुणों में निर्मलता के कारण प्रकाश डालनेवाला और निर्दोष सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के साथ (प्राणी को) बाँधता है। (७) रजोगुण का स्वभाव रागात्मक है, इससे तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय! वह प्राणी को कर्म करने के (प्रवृत्तिरूप) सङ्ग से बाँध डालता है। (८) किन्तु तमोगुण अज्ञान से उपजता है, वह सब प्राणियों को मोह में डालता है। हे भारत! वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से (प्राणी को) बाँध लेता है। (९) सत्वगुण सुख में, और रजोगुण कर्म में, आसक्ति उत्पन्न करता है। परन्तु हे भारत! तमोगुण ज्ञान को ढँक कर प्रमाद अर्थात् कर्तव्य-मूढ़ता में या कर्तव्य के विस्मरण में आसक्ति उत्पन्न करता है।

[सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के ये पृथक् लक्षण बतलाये गये हैं। किन्तु ये गुण पृथक्-पृथक् कभी भी नहीं रहते, तीनों सदैव एकत्र रहा करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई भी भला काम करना यद्यपि सत्त्व का लक्षण है, तथापि भले काम को करने की प्रवृत्ति होना रज का धर्म है, इस कारण सात्त्विक स्वभाव में भी थोड़े से रज का मिश्रण सदैव रहता ही है। इसी से अनुगीता में इन गुणों का इस प्रकार मिथुनात्मक वर्णन है कि तम का जोड़ा सत्त्व है, और सत्त्व का जोड़ा रज है (मभा. अश्व. ३६); और कहा है, कि इनके अन्योन्य

§§ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
§§ यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।

अर्थात् पारस्परिक आश्रय से अथवा झगड़े से सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं। देखो सां.का.१२ और गीतार. पृ. १५७ और १५८। अब पहले इसी तत्त्व को बतला कर फिर सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव के लक्षण बतलाते हैं—]

(१०) रज और तम को दबा कर सत्त्व (अधिक) होता है (तब उसे सात्त्विक कहना चाहिये); एवं इसी प्रकार सत्त्व और तम को दबा कर रज, तथा सत्त्व और रज को हटा कर तम (अधिक हुआ करता है)। (११) जब इस देह के सब द्वारों में (इन्द्रियों में) प्रकाश अर्थात् निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है, समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। (१२) हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण बढ़ने से लोभ, कर्म की ओर प्रवृत्ति और उसका आरम्भ, अतृप्ति एवं इच्छा उत्पन्न होती है। (१३) और हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की वृत्ति होने पर अँधेरा, कुछ भी न करने की इच्छा, प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की विस्मृति और मोह भी उत्पन्न होता है।

[यह बतला दिया, कि मनुष्य की जीवितावस्था में त्रिगुणों के कारण उसके स्वभाव में कौन कौन से फर्क़ पड़ते हैं। अब बतलाते हैं, कि इन तीन प्रकार के मनुष्यों को कौन सी गति मिलती है—]

(१४) सत्त्वगुण के उत्कर्ष-काल में यदि प्राणी मर जावे तो उत्तम तत्त्व जानने-वालों के, अर्थात् देवता आदि के, निर्मल (स्वर्ग प्रभृति) लोक उसको प्राप्त होते हैं। (१५) रजोगुण की प्रबलता में मरे तो जो कर्मों में आसक्त हों, उनमें (जनों में)

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

जन्म लेता है; और तमोगुण में मरे तो (पशु-पक्षी आदि) मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है। (१६) कहा है कि, पुण्य-कर्म का फल निर्मल और सात्त्विक होता है; परन्तु राजस कर्म का फल दुःख, और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है। (१७) सत्त्व से ज्ञान, और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है, प्रत्युत् अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। (१८) सात्त्विक पुरुष ऊपर के, अर्थात् स्वर्ग आदि, लोकों को जाते हैं। राजस मध्यम लोक में अर्थात् मनुष्यलोक में रहते हैं और कनिष्ठगुण वृत्ति के तामस अधोगति पाते हैं।

[सांख्यकारिका में भी यह वर्णन है, कि धार्मिक और पुण्यकर्म-कर्त्ता होने के कारण सत्त्वस्थ मनुष्य स्वर्ग पाता है और अधर्माचरण करके तामस पुरुष अधोगति पाता है (सां. का. ४४)। इसी प्रकार यह १८ वाँ श्लोक अनुगीता के त्रिगुण-वर्णन में भी ज्यों का त्यों आया है (देखो मभा. अश्व. ३९.१०; और मनु. १२.४०)। सात्त्विक कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति हो भले जावे, पर स्वर्गसुख है तो अनित्य ही; इस कारण परम पुरुषार्थ की सिद्धि इससे नहीं होती है। सांख्यों का सिद्धान्त है, कि इस परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति के लिये उत्तम सात्त्विक स्थिति तो रहे ही; इसके सिवा यह ज्ञान होना भी आवश्यक है, कि प्रकृति अलग है और मैं (पुरुष) जुदा हूँ। सांख्य इसी को त्रिगुणातीत-अवस्था कहते हैं। यद्यपि यह स्थिति सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से भी परे की है तो भी यह सात्त्विक अवस्था की ही पराकाष्ठा है; इस कारण इसका समावेश सामान्यतः सात्त्विक वर्ग में ही किया जाता है, इसके लिये एक नया चौथा वर्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है (देखो गीतार. पृ. १६७-१६८)। परन्तु गीता को

§§ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

§§ कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

यह प्रकृति-पुरुषवाला सांख्यों का द्वैत मान्य नहीं है; इसलिये सांख्यों के उक्त सिद्धान्त का गीता में इस प्रकार रूपान्तर हो जाता है,कि प्रकृति और पुरुष से परे जो एक आत्मस्वरूप परमेश्वर या परब्रह्म है, उस निर्गुण ब्रह्म को जो पहचान लेता है उसे त्रिगुणातीत कहना चाहिये। यही अर्थ अगले श्लोकों में वर्णित है—]

(१९) द्रष्टा अर्थात् उदासीनता से देखनेवाला पुरुष, जब जान लेता है कि (प्रकृति के) गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है, और जब (तीनों) गुणों से परे (तत्त्व को) पहचान जाता है,तब वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है। (२०) देहधारी मनुष्य देह की उत्पत्ति के कारण (स्वरूप) उन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से विमुक्त होता हुआ अमृत का अर्थात् मोक्ष का अनुभव करता है।

[वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, उसी को सांख्यमत-वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं; इसलिये त्रिगुणातीत होना ही माया से छूट कर परब्रह्म को पहचान लेना है (गी. २.४५); और इसी को ब्राह्मी अवस्था कहते हैं (गी. २.७२; ८.५३)। अध्यात्मशास्त्र में बतलाये हुए त्रिगुणातीत के इस लक्षण को सुन कर उसका और अधिक वृत्तान्त जानने की अर्जुन को इच्छा हुई; और द्वितीय अध्याय (२.५४) में जैसा उसने स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में प्रश्न किया था, वैसा ही यहाँ भी वह पूछता है—]

अर्जुन ने कहा—(२१) हे प्रभो! किन लक्षणों से (जाना जाय कि वह) इन तीन गुणों के पार चला जाता है? (मुझे बतलाइये,कि) वह (त्रिगुणातीत

श्रीभगवानुवाच।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ २२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते॥ २३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

का) आचार क्या है, और वह इन तीन गुणों के परे कैसे जाता है? श्रीभगवान् ने कहा—(२२) हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (अर्थात् क्रम से सत्त्व, रज और तम, इन गुणों के कार्य अथवा फल) होने से जो उनका द्वेष नहीं करता, और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा नहीं रखता; (२३) जो (कर्मफल के सम्बन्ध में) उदासीन सा रहता है; (सत्त्व, रज और तम) गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते; जो इतना ही मान कर स्थिर रहता है कि गुण (अपना अपना) काम करते हैं; जो डिगता नहीं है अर्थात् विकार नहीं पाता है; (२४) जिसे सुख-दुःख एक से ही हैं; जो स्व-स्थ है अर्थात् अपने में ही स्थिर है; मिट्टी, पत्थर और सोना जिसे समान हैं; प्रिय-अप्रिय, निन्दा और अपनी स्तुति जिसे समसमान है; जो सदा धैर्य से युक्त है; (२५) जिसे मान-अपमान या मित्र और शत्रु-दल तुल्य हैं अर्थात् एक से हैं; और (इस समझ से कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब (काम्य) उद्योग छूट गये हैं;—उस पुरुष को गुणातीत कहते हैं।

[यह इन दो प्रश्नों का उत्तर हुआ, कि त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं, और आचार कैसा होता है। ये लक्षण, और दूसरे अध्याय में बतलाये हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२. ५५–७२), एवं बारहवें अध्याय (१२. १३–२०) में बतलाये हुए भक्तिमान् पुरुष के लक्षण सब एक से ही हैं। अधिक क्या कहें 'सर्वारम्भपरित्यागी,' 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' और 'उदासीनः' प्रभृति कुछ विशेषण भी दोनों या तीनों स्थानों में एक ही हैं। इससे प्रगट होता है,

§§ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

कि पिछले अध्याय में बतलाये हुए (१३.२४,२५) चार मार्गों में से किसी भी मार्ग के स्वीकार कर लेने पर सिद्धि-प्राप्त पुरुष का आचार,और उसके लक्षण सब मार्गों में एक ही से रहते हैं। तथापि तीसरे,चौथे और पाँचवें अध्यायों में जब यह दृढ़ और अटल सिद्धान्त किया है,कि निष्काम कर्म किसी से भी नहीं छूट सकते, तब स्मरण रखना चाहिये कि ये स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त या त्रिगुणातीत सभी कर्मयोग-मार्ग के हैं। 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ १२ वें अध्याय के १६ वें श्लोक की टिप्पणी में बतला आये हैं। सिद्धावस्था में पहुँचे हुए पुरुषों के इन वर्णनों को स्वतन्त्र मान कर संन्यासमार्ग के टीकाकार अपने ही सम्प्रदाय को गीता में प्रतिपाद्य बतलाते हैं। परन्तु यह अर्थ पूर्वापर सन्दर्भ के विरुद्ध है, अतएव ठीक नहीं है। गीतारहस्य के ११ वें और १२ वें प्रकरण में (पृ.३२४-३२५ और ३७३) इस बात का हमने विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कर दिया है। अर्जुन के दोनों प्रश्नों के उत्तर हो चुके। अब यह बतलाते हैं,कि ये पुरुष इन तीन गुणों से परे कैसे जाते हैं—]

(२६) और जो (मुझे ही सब कर्म अर्पण करने के) अव्यभिचार, अर्थात् एक-निष्ठ, भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्म-भूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है।

[सम्भव है, इस श्लोक से यह शङ्का हो, कि जब त्रिगुणातीत अवस्था सांख्यमार्ग की है,तब वही अवस्था कर्मप्रधान भक्तियोग से कैसे प्राप्त हो जाती है। इसी से भगवान् कहते हैं,]

(२७) क्योंकि, अमृत और अव्यय ब्रह्म का,शाश्वत धर्म का एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यन्त सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ।

[इस श्लोक का भावार्थ यह है,कि सांख्यों के द्वैत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही परमेश्वर रह जाता है,इस कारण उसी की भक्ति से त्रिगुणात्मक अवस्था भी प्राप्त होती है। और,एक ही ईश्वर मान लेने से साधनों के सम्बन्ध में गीता का कोई भी आग्रह नहीं है (देखो गी. १३. २४ और २५)। गीता में भक्ति-मार्ग को सुलभ अतएव सब लोगों के लिये ग्राह्य कहा सही है; पर यह कहीं

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भी नहीं कहा है, कि अन्यान्य मार्ग त्याज्य हैं। गीता में केवल भक्ति, केवल ज्ञान अथवा केवल योग ही प्रतिपाद्य है—ये मत भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अभिमानियों ने पीछे से गीता पर लाद दिये हैं। गीता का सच्चा प्रतिपाद्य विषय तो निराला ही है। मार्ग कोई भी हो, गीता में मुख्य प्रश्न यही है कि परमेश्वर का ज्ञान हो चुकने पर संसार के कर्म लोकसंग्रहार्थ किये जावें या छोड़ दिये जावें; और इसका साफ़-साफ़ उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, गुणत्रय-विभाग-योग नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

पंद्रहवाँ अध्याय।

[क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के सिलसिले में, तेरहवें अध्याय में उसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के सदृश सांख्यों के प्रकृति-पुरुष का विवेक बतलाया है। चौदहवें अध्याय में यह कहा है, कि प्रकृति के तीन गुणों से मनुष्य-मनुष्य में स्वभाव-भेद कैसे उत्पन्न होता है, और उससे सात्त्विक आदि गति-भेद क्योंकर होते हैं; फिर यह विवेचन किया है, कि त्रिगुणातीत अवस्था अथवा अध्यात्म-दृष्टि से ब्राह्मी स्थिति किसे कहते हैं और वह कैसे प्राप्त की जाती है। यह सब निरूपण सांख्यों की परिभाषा में है अवश्य, परन्तु सांख्यों के द्वैत को स्वीकार न करते हुए, जिस एक ही परमेश्वर की विभूति प्रकृति और पुरुष दोनों हैं, उस परमेश्वर का ज्ञान-विज्ञान-दृष्टि से निरूपण किया गया है। परमेश्वर के स्वरूप के इस वर्णन के अतिरिक्त आठवें अध्याय में अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिदैवत आदि भेद दिखलाया जा चुका है। और, यह पहले ही कह आये हैं, कि सब स्थानों में एक ही परमात्मा व्याप्त है, एवं क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी वही है। अब इस अध्याय में पहले यह बतलाते हैं, कि परमेश्वर की ही रची हुई सृष्टि के विस्तार का, अथवा परमेश्वर के नाम-रूपात्मक विस्तार का ही कभी

पञ्चदशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

कभी वृक्षरूप से या वनरूप से जो वर्णन पाया जाता है, उसका बीज क्या है। फिर परमेश्वर के सभी रूपों में श्रेष्ठ पुरुषोत्तम-स्वरूप का वर्णन किया है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं, कि जड़ (एक) ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता, (एवं) छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं; उसे (वृक्ष को) जिसने जान लिया वह पुरुष सच्चा वेदवेत्ता है।

[उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्ष का अर्थात् संसारवृक्ष का है। इस संसार को ही सांख्य-मत-वादी "प्रकृति का विस्तार" और वेदान्ती "भगवान् की माया का पसारा" कहते हैं; एवं अनुगीता में इसे ही 'ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन' (ब्रह्मारण्य) कहा है (देखो मभा. अश्व. ३५ और ४७)। एक बिलकुल छोटे से बीज से जिस प्रकार बड़ा भारी गगनचुम्बी वृक्ष निर्माण हो जाता है उसी प्रकार एक अव्यक्त परमेश्वर से दृश्य सृष्टिरूप भव्य वृक्ष उत्पन्न हुआ है; यह कल्पना अथवा रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही है, प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है। यूरोप की पुरानी भाषाओं में इसके नाम 'विश्ववृक्ष' या 'जगद्वृक्ष' हैं। ऋग्वेद (१. २४.७) में वर्णन है, कि वरुण लोक में एक ऐसा वृक्ष है कि जिसकी किरणों की जड़ ऊपर (ऊर्ध्वं) है और उसकी किरणें ऊपर से नीचे (निचीनाः) फैलती हैं। विष्णुसहस्रनाम में "वारुणो वृक्षः" (वरुण के वृक्ष) को परमेश्वर के हज़ार नामों में से ही एक नाम कहा है। यम और पितर जिस "सुपलाश वृक्ष" के नीचे बैठ कर सहपान करते हैं (ऋ. १०.१३५.१) अथवा जिसके "अग्रभाग में स्वादिष्ट पीपल है और जिस पर दो सुपर्ण अर्थात् पक्षी रहते हैं" (ऋ. १.१६४.२२), या "जिस पिप्पल (पीपल) को वायुदेवता (मरुद्गण) हिलाते हैं" (ऋ. ५. ५४.१२) वह वृक्ष भी यही है। अथर्ववेद में जो यह वर्णन है कि "देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्गलोक में (वरुणलोक में) है" (अथर्व. ५. ४. ३; और १९.३९.६),

छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

वह भी इसी वृक्ष के सम्बन्ध में जान पड़ता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.८.१२.२) में अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है,—पितृयाण-काल में अग्नि अथवा यज्ञप्रजापति देवलोक से नष्ट हो कर इस वृक्ष में अश्व (घोड़) का रूप धर कर एक वर्ष तक छिपा रहा था, इसी से इस वृक्ष का अश्वत्थ नाम हो गया (देखो मभा. अनु. ८५); कई एक नैरुक्तिकों का यह भी मत है, कि पितृयाण की लम्बी रात्रि में सूर्य के घोड़े यमलोक में इस वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं इसलिये इसको अश्वत्थ (अर्थात् घोड़े का स्थान) नाम प्राप्त हुआ होगा। 'अ'= नहीं, 'श्व'= कल और 'त्थ' = स्थिर—यह अध्यात्मिक निरुक्ति पीछे की कल्पना है। नाम-रूपात्मक माया का स्वरूप जब कि विनाशवान् अथवा हर घड़ी में पलटनेवाला है, तब उसको "कल तक न रहनेवाला" तो कह सकेंगे; परन्तु 'अव्यय'—अर्थात् 'जिसका कभी भी व्यय नहीं होता'—विशेषण स्पष्ट कर देता है, कि यह अर्थ यहाँ अभिमत नहीं है। पहले पीपल के वृक्ष को ही अश्वत्थ कहते थे। कठोपनिषद् (६. १) में जो यह ब्रह्ममय अमृत अश्वत्थवृक्ष कहा गया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

वह भी यही है; और "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं" इस पद-सादृश्य से ही व्यक्त होता है, कि भगवद्गीता का वर्णन कठोपनिषद् के वर्णन से ही लिया गया है। परमेश्वर स्वर्ग में है और उससे उपजा हुआ जगद्वृक्ष नीचे अर्थात् मनुष्यलोक में है; अतः वर्णन किया गया है, कि इस वृक्ष का मूल अर्थात परमेश्वर ऊपर है और इसकी अनेक शाखाएँ अर्थात् जगत् का फैलाव नीचे विस्तृत है। परन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में एक और कल्पना पाई जाती है, कि यह संसार-वृक्ष वटवृक्ष होगा, न कि पीपल; क्योंकि बड़ के पेड़ के पाये ऊपर से नीचे को उलट आते हैं। उदाहरण के लिये यह वर्णन है, कि अश्वत्थवृक्ष आदित्य का वृक्ष है और "न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः"—न्यग्रोध अर्थात् नीचे (न्यक्) बढ़नेवाला (रोध) बड़ का पेड़ वरुण का वृक्ष है (गोभिलगृह्य. ४. ७.२४)। महाभारत में लिखा है, कि मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलयकाल में बालरूपी परमेश्वर को एक (उस प्रलय-काल में भी नष्ट न होनेवाले, अतएव) अव्यय न्यग्रोध अर्थात् बड़ के पेड़ की

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

टहनी पर देखा था (मभा. वन. १८८.९१)। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में यह दिखलाने के लिये, कि अव्यक्त परमेश्वर से अपार दृश्य जगत् कैसे निर्मित होता है,जो दृष्टान्त दिया है वह भी न्यग्रोध के ही बीज का है (छां.६.१२.१)। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी विश्ववृक्ष का वर्णन है (श्वे.६.६); परन्तु वहाँ खुलासा नहीं बतलाया कि वह कौन सा वृक्ष है। मुण्डक उपनिषद् (३. १) में ऋग्वेद का ही यह वर्णन ले लिया है,कि इसी वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं जिनमें एक पिप्पल अर्थात् पीपल के फलों को खाता है। पीपल और वड़ को छोड़ इस संसार-वृक्ष के स्वरूप की तीसरी कल्पना औदुम्बर की है; एवं पुराणों में यह दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है। सारांश, प्राचीन ग्रन्थों में ये तीनों कल्पनाएँ हैं कि परमेश्वर की माया से उत्पन्न हुआ जगत् एक बड़ा पीपल, वड़ या गूलर है; और इसी कारण से विष्णुसहस्रनाम में विष्णु के ये तीन वृक्षात्मक नाम दिये हैं– "न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः" (मभा. अनु. १४६.१०१), एवं समाज में भी ये तीनों वृक्ष देवात्मक और पूजने-योग्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुसहस्रनाम और गीता, दोनों ही महाभारत के भाग हैं, जब कि विष्णुसहस्रनाम में गूलर, बरगद (न्यग्रोध) और अश्वत्थ ये तीन पृथक् नाम दिये गये हैं; तब गीता में 'अश्वत्थ' शब्द का पीपल ही (गूलर या बरगद नहीं) अर्थ लेना चाहिये, और मूल का अर्थ भी वही है। "छन्दांसि अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं" इस वाक्य के 'छन्दांसि' शब्द में छद्=ढँकना धातु मान कर (देखो छां.१.४.२) वृक्ष को ढँकनेवाले पत्तों से वेदों की समता वर्णित है; और अन्त में कहा है, कि जब यह सम्पूर्ण वर्णन वैदिक परम्परा के अनुसार है, तब इसे जिसने जान लिया उसे वेदवेत्ता कहना चाहिये। इस प्रकार वैदिक वर्णन हो चुका; अब इसी वृक्ष का दूसरे प्रकार से, अर्थात् सांख्य-शास्त्र के अनुसार, वर्णन करते हैं—]

(२) नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं कि जो (सत्त्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई हैं और जिनसे (शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध-रूपी) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं; एवं अन्त में कर्म का रूप पानेवाली उसकी जड़ नीचे मनुष्यलोक में भी बढ़ती बढ़ती गहरी चली गई हैं।

§§ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

[गीतारहस्य के आठवें प्रकरण (पृ.१७९) में विस्तार सहित निरूपण कर दिया है, कि सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष यही दो मूल तत्त्व हैं; और जब पुरुष के आगे त्रिगुणात्मक प्रकृति अपना ताना-बाना फैलाने लगती है, तब महत् आदि तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं, और उनसे यह ब्रह्माण्ड वृक्ष बन जाता है। परन्तु वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, वह परमेश्वर का ही एक अंश है, अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस फैलाव को स्वतन्त्र वृक्ष न मान कर यह सिद्धान्त किया है, कि ये शाखाएँ 'ऊर्ध्वमूल' पीपल की ही हैं। अब इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ निराले स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है कि, पहले श्लोक में वर्णित वैदिक 'अधःशाख' वृक्ष की "त्रिगुणों से पली हुई" शाखाएँ न केवल 'नीचे' ही प्रत्युत 'ऊपर' भी फैली हुई हैं; और इसमें कर्म-विपाकप्रक्रिया का धागा भी अन्त में पिरो दिया है। अनुगीतावाले ब्रह्मवृक्ष के वर्णन में केवल सांख्यशास्त्र के चौबीस तत्त्वों का ही ब्रह्मवृक्ष बतलाया गया है; उसमें इस वृक्ष के वैदिक और सांख्य वर्णनों का मेल नहीं मिलाया गया है (देखो मभा. अश्व. ३५. २२, २३; और गीतार. पृ.१७९)। परन्तु गीता में ऐसा नहीं किया; दृश्य सृष्टिरूप वृक्ष के नाते से वेदों में पाये जानेवाले परमेश्वर के वर्णन का, और सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के विस्तार या ब्रह्माण्डवृक्ष के वर्णन का, इन दो श्लोकों में मेल कर दिया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्रिगुणात्मक और ऊर्ध्वमूल वृक्ष के इस फैलाव से मुक्त हो जाना चाहिये। परन्तु यह वृक्ष इतना बड़ा है, कि इसके ओर-छोर का पता ही नहीं चलता। अतएव अब बतलाते हैं, कि इस अपार वृक्ष का नाश करके, इसके मूल में वर्तमान अमृत-तत्त्व को पहचानने का कौन सा मार्ग है—]

(३) परन्तु इस लोक में (जैसा कि ऊपर वर्णन किया है) वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता; अथवा अन्त, आदि और आधारस्थान भी नहीं मिलता। अत्यन्त गहरी जड़ोंवाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्ति रूप सुदृढ़ तलवार से काट कर, (४) फिर उस स्थान को ढूँढ़ निकालना चाहिये कि जहाँ जाने से फिर

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

लौटना नहीं पड़ता; और यह सङ्कल्प करना चाहिये कि (सृष्टि-क्रम की यह) "पुरातन प्रवृत्ति जिससे उत्पन्न हुई है, उसी आद्य पुरुष की ओर मैं जाता हूँ।"

[गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में विवेचन किया है, कि सृष्टि का फैलाव ही नाम-रूपात्मक कर्म है और यह कर्म अनादि है; आसक्त-बुद्धि छोड़ देने से इसका क्षय हो जाता है, और किसी भी उपाय से इसका क्षय नहीं होता; क्योंकि यह स्वरूपतः अनादि और अव्यय है (देखो पृ. २८५–२८६) । तीसरे श्लोक के "उसका स्वरूप या आदि-अन्त नहीं मिलता" इन शब्दों से यही सिद्धान्त व्यक्त किया गया है कि कर्म अनादि है; और आगे चल कर इस कर्मवृक्ष का क्षय करने के लिये एक अनासक्ति ही को साधन बतलाया है; ऐसे ही उपासना करते समय जो भावना मन में रहती है, उसी के अनुसार आगे फल मिलता है (गी.८. ६)। अतएव चौथे श्लोक में स्पष्ट कर दिया है, कि वृक्ष-छेदन की यह क्रिया होते समय मन में कौन सी भावना रहनी चाहिये । शाङ्करभाष्य में "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' पाठ है, इसमें वर्तमानकाल प्रथम पुरुष के एकवचन का 'प्रपद्ये' क्रियापद है जिससे यह अर्थ करना पड़ता है; और इसमें 'इति' सरीखे किसी न किसी पद का अध्याहार भी करना पड़ता है । इस कठिनाई को टालने के लिये रामानुजभाष्य में लिखित "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद्यतः प्रवृत्तिः" पाठान्तर को स्वीकार कर लें तो ऐसा अर्थ किया जा सकेगा, कि "जहाँ जाने पर फिर पीछे नहीं लौटना पड़ता, उस स्थान को खोजना चाहिये, (और) जिससे सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है उसी में मिल जाना चाहिये"। किन्तु 'प्रपद्' धातु है नित्य आत्मनेपदी, इससे उसका विध्यर्थक अन्य पुरुष का रूप 'प्रपद्येत्' हो नहीं सकता । 'प्रपद्येत्' परस्मैपद का रूप है और वह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। प्रायः इसी कारण से शाङ्करभाष्य में यह पाठ स्वीकार नहीं किया गया है, और यही युक्तिसंगत है । छान्दोग्य उपनिषद् के कुछ मन्त्रों में 'प्रपद्ये' पद का विना 'इति' के इसी प्रकार उपयोग किया गया है (छां. ८.१४.१) । 'प्रपद्ये' क्रियापद प्रथमपुरुषान्त हो, तो कहना न होगा कि वक्ता से अर्थात् उपदेशकर्त्ता श्रीकृष्ण से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता । अब यह बतलाते हैं, कि इस प्रकार बर्तने से क्या फल मिलता है—]

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
§§ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

(५) जो मान और मोह से विरहित हैं, जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्मज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं, जो निष्काम और सुखदुःख-संज्ञक द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-स्थान को जा पहुँचते हैं (६) जहाँ जा कर फिर लौटना नहीं पड़ता, (ऐसा) वह मेरा परम स्थान है। उसे न तो सूर्य, न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं।

[इनमें छठा श्लोक श्वेताश्वतर (६. १४), मुण्डक (२.२.१०) और कठ (५.१५) इन तीनों उपनिषदों में पाया जाता है। सूर्य, चन्द्र या तारे, ये सभी तो नाम-रूप की श्रेणी में आ जाते हैं और परब्रह्म इन सब नाम-रूपों से परे है; इस कारण सूर्य-चन्द्र आदि को परब्रह्म के ही तेज से प्रकाश मिलता है, फिर यह प्रगट ही है, कि परब्रह्म को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है। ऊपर के श्लोक में 'परम स्थान' शब्द का अर्थ ' परब्रह्म ' और इस ब्रह्म में मिल जाना ही ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष है। वृक्ष का रूपक लेकर अध्यात्मशास्त्र में परब्रह्म का जो ज्ञान बतलाया जाता है, उसका विवेचन समाप्त हो गया। अब पुरुषोत्तम-स्वरूप का वर्णन करना है; परन्तु अन्त में जो यह कहा है कि "जहाँ जा कर लौटना नहीं पड़ता " इससे सूचित होनेवाली जीव की उत्क्रान्ति और उसके साथ ही जीव के स्वरूप का पहले वर्णन करते हैं—]

(७) जीवलोक (कर्मभूमि) में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली मन सहित छः, अर्थात् मन और पाँच (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है (इसी को लिंग-शरीर कहते हैं)। (८) ईश्वर अर्थात् जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूल) शरीर से निकल जाता है, तब यह जीव इन्हें (मन और पाँच इन्द्रियों को) वैसे ही

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

साथ ले जाता है, जैसे कि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है। (९) कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन में ठहर कर यह (जीव) विषयों को भोगता है।

[इन तीन श्लोकों में से पहले में यह बतलाया है, कि सूक्ष्म या लिंग शरीर क्या है; फिर इन तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है कि लिङ्ग-शरीर स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है, वह उससे बाहर कैसे निकलता है, और उसमें रह कर विषयों का उपभोग कैसे करता है। सांख्य-मत के अनुसार यह सूक्ष्म शरीर महान् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं तक के अठारह तत्त्वों से बनता है; और वेदान्तसूत्रों (३.१.१.) में कहा है, कि पञ्च सूक्ष्मभूतों का और प्राण का भी उसमें समावेश होता है (देखो गीतारहस्य पृ. १८७–१९१)। मैत्र्युपनिषद् (६.१०) में वर्णन है कि सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है। इससे कहना पड़ता है कि "मन और पाँच इन्द्रियाँ" इन शब्दों से सूक्ष्मशरीर में वर्तमान दूसरे तत्त्वों का संग्रह भी यहाँ अभिप्रेत है। वेदान्तसूत्रों (३.१७ और ४३) में भी 'नित्य' और 'अंश' दो पदों का उपयोग करके ही यह सिद्धान्त बतलाया है, कि जीवात्मा परमेश्वर से बारंबार नये सिरे से उत्पन्न नहीं हुआ करता, वह परमेश्वर का "सनातन अंश" है (देखो गी. २. २४)। गीता के तेरहवें अध्याय (१३. ४) में जो यह कहा है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार ब्रह्मसूत्रों से लिया गया है, उसका इससे दृढ़ीकरण हो जाता है (देखो गी.र. परि. पृ.५३७–५३८)। गीतारहस्य के नवें प्रकरण (पृ. २४६) में दिखलाया है कि 'अंश' शब्द का अर्थ 'घटाकाशादि'वत् अंश समझना चाहिये, न कि खण्डित 'अंश'। इस प्रकार शरीर को धारण करना, उसको छोड़ देना, एवं उपभोग करना—इन तीनों क्रियाओं के जारी रहने पर—]

(१०) (शरीर से) निकल जानेवाले को, रहनेवाले को, अथवा गुणों से युक्त हो कर (आप ही नहीं) उपभोग करनेवाले को मूर्ख लोग नहीं जानते। ज्ञान-चक्षु से

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥
§§ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

देखनेवाले लोग (उसे) पहचानते हैं। (११) इसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले योगी अपने आप में स्थित आत्मा को पहचानते हैं। परन्तु वे अज्ञ लोग, कि जिनका आत्मा अर्थात् बुद्धि संस्कृत नहीं है, प्रयत्न करके भी उसे नहीं पहचान पाते।

[१० वें और ११ वें श्लोक में ज्ञान-चक्षु या कर्म योग-मार्ग से आत्मज्ञान की प्राप्ति का वर्णन कर जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन पूरा किया है। पिछले सातवें अध्याय में जैसा वर्णन किया गया है (देखो गी. ७.८–१२), वैसा ही अब आत्मा की सर्वव्यापकता का थोड़ा सा वर्णन प्रस्तावना के ढँग पर करके सोलहवें श्लोक से पुरुषोत्तम-स्वरूप वर्णन किया है।]

(१२) जो तेज सूर्य में रह कर सारे जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है;उसे मेरा ही तेज समझ। (१३) इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर मैं ही (सब) भूतों को अपने तेज से धारण करता हूँ,और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) हो कर सब ओषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूँ।

[सोम शब्द के 'सोमवल्ली' और 'चन्द्र' अर्थ हैं; तथा वेदों में वर्णन है, कि चन्द्र जिस प्रकार जलात्मक, अंशुमान् और शुभ्र है, उसी प्रकार सोमवल्ली भी है; दोनों ही को ' वनस्पतियों का राजा ' कहा है। तथापि पूर्वापर सन्दर्भ से यहाँ चन्द्र ही विवक्षित है। इस श्लोक में यह कह कर, कि चन्द्र का तेज मैं ही हूँ, फिर इसी श्लोक में बतलाया है कि वनस्पतियों को पोषण करने का चन्द्र का जो गुण है, वह भी मैं ही हूँ। अन्य स्थानों में भी ऐसे वर्णन हैं कि जलमय होने से चन्द्र में यह गुण है, इसी कारण वनस्पतियों की बाढ़ होती है।]

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥
§§ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

(१४) मैं वैश्वानर रूप अग्नि होकर प्राणियों की देहों में रहता हूँ, और प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य और पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। (१५) इसी प्रकार मैं सब के हृदय में अधिष्ठित हूँ; स्मृति और ज्ञान एवँ अपोहन अर्थात् उनका नाश मुझमें ही होता है; तथा सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्त्ता और वेद जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

[इस श्लोक का दूसरा चरण कैवल्य उपनिषद् (२.३) में है। उसमें "वेदैश्च सर्वैः" के स्थान में "वेदैरनेकैः" इतना ही पाठभेद है। तब जिन्होंने गीता-काल में 'वेदान्त' शब्द का प्रचलित होना न मान कर ऐसी दलीलें की हैं, कि या तो यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा या इसके 'वेदान्त' शब्द का कुछ और ही अर्थ लेना चाहिये, वे सब दलीलें बे-जड़-बुनियाद की हो जाती हैं। 'वेदान्त' शब्द मुण्डक (३.२.६) और श्वेताश्वतर (६.२२) उपनिषदों में आया है, तथा श्वेताश्वतर के तो कुछ मन्त्र ही गीता में हूबहू आगये हैं। अब निरुक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम का लक्षण बतलाते हैं—]

(१६) (इस) लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' दो पुरुष हैं। सब (नाशवान्) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को, अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं। (१७) परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है। (१८) जब कि मैं क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ, लोक-व्यवहार में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से मैं प्रसिद्ध हूँ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

[सोलहवें श्लोक में 'क्षर' और 'अक्षर' शब्द सांख्यशास्त्र के व्यक्त और अव्यक्त—अथवा व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति—इन दो शब्दों से समानार्थक हैं। प्रगट है कि इनमें क्षर ही नाशवान् पञ्चभूतात्मक व्यक्त पदार्थ है। स्मरण रहे कि 'अक्षर' विशेषण पहले कई बार जब परब्रह्म को भी लगाया गया है (देखो गी. ८. ३; ८. २१; ११. ३७; १२. ३), तब पुरुषोत्तम के उल्लिखित लक्षण में 'अक्षर' शब्द का अर्थ अक्षर-ब्रह्म नहीं है, किन्तु उसका अर्थ सांख्यों की अक्षर प्रकृति है; और इस गड़बड़ से बचाने के लिये ही सोलहवें श्लोक में 'अक्षर अर्थात् कूटस्थ (प्रकृति)' यह विशेष व्याख्या की है (गीतारहस्य पृ. २०१–२०४)। सारांश, व्यक्त सृष्टि और अव्यक्त प्रकृति के परे का अक्षरब्रह्म (गी. ८. २०-२२ पर हमारी टिप्पणी देखो) और 'क्षर' (व्यक्त सृष्टि) एवं 'अक्षर' (प्रकृति) से परे का पुरुषोत्तम, वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। तेरहवें अध्याय (१३.३१) में कहा गया है, कि इसे ही परमात्मा कहते हैं और यही परमात्मा शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप से रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि क्षर-अक्षर-विचार में जो मूल तत्त्व अक्षर ब्रह्म अन्त में निष्पन्न होता है, वही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार का भी पर्यवसान है, अथवा "पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में" एक ही पुरुषोत्तम है। इसी प्रकार यह भी बतलाया गया है, कि अधिभूत और अधियज्ञ प्रभृति का अथवा प्राचीन अश्वत्थ वृक्ष का तत्त्व भी यही है। इस ज्ञान-विज्ञान प्रकरण का अन्तिम निष्कर्ष यह है, कि जिसने जगत् की इस एकता को जान लिया कि "सब भूतों में एक आत्मा है" (गी. ६. २९) और जिसके मन में यह पहचान जिन्दगी भर के लिये स्थिर हो गई (वेसू. ४. १. १२; गी. ८. ६), वह कर्मयोग का आचरण करते करते ही परमेश्वर की प्राप्ति कर लेता है। कर्म न करने पर केवल परमेश्वर-भक्ति से भी मोक्ष मिल जाता है; परन्तु गीता के ज्ञान-विज्ञान-निरूपण का यह तात्पर्य नहीं है। सातवें अध्याय के आरम्भ में ही कह दिया है, कि ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ यही दिखलाने के लिये किया गया है, कि ज्ञान से अथवा भक्ति से शुद्ध हुई निष्काम बुद्धि के द्वारा संसार के सभी कर्म करना चाहिये और इन्हें करते हुए ही मोक्ष मिलता है। अब बतलाते हैं, कि इसे जान लेने से क्या फल मिलता है—]

§§ यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

(१९) हे भारत! इस प्रकार बिना मोह के जो मुझे ही पुरुषोत्तम समझता है, वह सर्वज्ञ होकर सर्वभाव से मुझे ही भजता है। (२०) हे निष्पाप भारत! यह गुह्य से भी गुह्य शास्त्र मैंने बतलाया है । इसे जान कर (मनुष्य) बुद्धिमान् अर्थात् बुद्ध या जानकार और कृतकृत्य हो जावेगा।

[यहाँ बुद्धिमान् का ही 'बुद्ध अर्थात् जानकार' अर्थ है; क्योंकि भारत (शां. २४८. ११) में इसी अर्थ में 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' शब्द आये हैं। महाभारत में 'बुद्ध' शब्द का रूढार्थ 'बुद्धावतार' कहीं भी नहीं आया है। देखो गीतार. परि. पृ. ५६१ ।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सोलहवाँ अध्याय ।

[पुरुषोत्तमयोग से क्षर-अक्षर-ज्ञान की परमावधि हो चुकी;सातवें अध्याय में जिस ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ यह दिखलाने के लिये किया गया था कि, कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है और उसी से मोक्ष मिलता है, उसकी यहाँ समाप्ति हो चुकी और अब यहीं उसका उपसंहार करना चाहिये । परन्तु नवें अध्याय (९. १२) में भगवान् ने जो यह बिलकुल संक्षेप में कहा था, कि राक्षसी मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पह-चानते, उसी का स्पष्टीकरण करने के लिये इस अध्याय का आरम्भ किया गया

षोडशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

है और अगले अध्याय में इसका कारण बतलाया गया है, कि मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों होते हैं, और अठारहवें अध्याय में पूरी गीता का उपसंहार है।]

श्रीभगवान् ने कहा—(१) अभय (निडर), शुद्ध सात्त्विक वृत्ति, ज्ञान-योग व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (-मार्ग) और (कर्म-) योग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, (२) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र-दृष्टि छोड़ कर उदार भाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् फिजूल कामों का छूट जाना, (३) तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना—हे भारत! (ये) गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए पुरुषों को प्राप्त होते हैं।

[दैवी सम्पत्ति के ये छब्बीस गुण और तेरहवें अध्याय में बतलाये हुए ज्ञान के बीस लक्षण (गी. १३.७–११) वास्तव में एक ही हैं; और इसी से आगे के श्लोक में 'अज्ञान' का समावेश आसुरी लक्षणों में किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि छब्बीस गुणों की इस फ़ेहरिस्त में प्रत्येक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ से सर्वथा भिन्न होगा; और हेतु भी ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई कोई अहिंसा के ही कायिक, वाचिक और मानसिक भेद करके क्रोध से किसी के दिल दुखा देने को भी एक प्रकार की हिंसा ही समझते हैं। इसी प्रकार शुद्धता को भी त्रिविध मान लेने से, मन की शुद्धि में अक्रोध और द्रोह न करना आदि गुण भी आ सकते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में १६०

§§ दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥
§§ दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

अध्याय से लेकर १६३ अध्याय तक क्रम से दम, तप, सत्य और लोभ का विस्तृत वर्णन है। वहाँ दम में ही क्षमा, धृति, अहिंसा, सत्य, आर्जव और लज्जा आदि पच्चीस-तीस गुणों का, व्यापक अर्थ में, समावेश किया गया है (शां. १६०); और सत्य के निरूपण (शां. १६२) में कहा है कि सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा अनुसूयता, याग, ध्यान, आर्यता (लोक-कल्याण की इच्छा), धृति और दया, इन तेरह गुणों का एक सत्य में ही समावेश होता है; और वहीं इन शब्दों की व्याख्या भी कर दी गई है। इस रीति से एक ही गुण में अनेकों का समावेश कर लेना पाण्डित्य का काम है, और ऐसा विवेचन करने लगें तो प्रत्येक गुण पर एक-एक ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। ऊपर के श्लोकों में इन सब गुणों का समुच्चय इसी लिये बतलाया गया है, कि जिसमें दैवी सम्पत्ति के सात्त्विक रूप की पूरी कल्पना हो जावे और यदि एक शब्द में कोई अर्थ छूट गया हो तो दूसरे शब्द में उसका समावेश हो जावे। अस्तु; ऊपर की फ़ेहरिस्त के 'ज्ञान-योग-व्यवस्थिति' शब्द का अर्थ हमने गीता. ४.४१ और ४२ वें श्लोक के आधार पर कर्मयोग-प्रधान किया है। त्याग और धृति की व्याख्या स्वयं भगवान् ने ही १८ वें अध्याय में कर दी है (१८. ४ और २९)। यह बतला चुके कि दैवी सम्पत्ति में किन गुणों का समावेश होता है; अब इसके विपरीत आसुरी या राक्षसी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं—]

(४) हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् निष्ठुरता और अज्ञान, आसुरी यानी राक्षसी सम्पत्ति में जन्मे हुए को प्राप्त होते हैं।

[महाभारत-शान्तिपर्व के १६४ और १६५ अध्यायों में इनमें से कुछ दोषों का वर्णन है और अन्त में यह भी बतला दिया है, कि नृशंस किसे कहना चाहिये। इस श्लोक में 'अज्ञान' को आसुरी सम्पत्ति का लक्षण कह देने से प्रगट होता है कि 'ज्ञान' दैवी सम्पत्ति का लक्षण है। जगत् में पाये जानेवाले दो प्रकार के स्वभावों का इस प्रकार वर्णन हो जाने पर—]

(५) (इनमें से) दैवी सम्पत्ति (परिणाम में) मोक्ष-दायक और आसुरी

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
§§ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

बन्धनदायक मानी जाती है। हे पाण्डव! तू दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है। शोक मत कर।

[संक्षेप में यह बतला दिया कि इन दो प्रकार के पुरुषों को कौन सी गति मिलती है; अब विस्तार से आसुरी पुरुषों का वर्णन करते हैं—]

(६) इस लोक में दो प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुआ करते हैं; (एक) दैव और दूसरे आसुर। (इनमें) दैव (श्रेणी का) वर्णन विस्तार से कर दिया; (अब) हे पार्थ! मैं आसुर (श्रेणी का) वर्णन करता हूँ, सुन।

[पिछले अध्यायों में यह बतलाया गया है, कि कर्मयोगी कैसा बर्ताव करे और ब्राह्मी अवस्था कैसी होती है या स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त अथवा त्रिगुणातीत किसे कहना चाहिये; और यह भी बतलाया गया है कि ज्ञान क्या है। इस अध्याय के पहले तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का जो लक्षण है, वही दैव-प्रकृति के पुरुष का वर्णन है;इसी से कहा है,कि दैव श्रेणी का वर्णन विस्तार से पहले कर चुके हैं। आसुर सम्पत्ति का थोड़ा सा उल्लेख नवें अध्याय (९.११ और १२) में आ चुका है; परन्तु वहाँ का वर्णन अधूरा रह गया है, इस कारण इस अध्याय में उसी को पूरा करते हैं—]

(७) आसुर लोग नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है,और निवृत्ति क्या है—अर्थात् वे यह नहीं जानते, कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। उनमें न शुद्धता रहती है,न आचार और सत्य ही। (८) ये (आसुर लोग) कहते हैं कि सारा जगत अ-सत्य है,अ-प्रतिष्ठ अर्थात् निराधार है,अनीश्वर यानी बिना परमेश्वर का है, अ-परस्परसम्भूत अर्थात् एक दूसरे के बिना ही हुआ है, (अतएव) काम को छोड़ अर्थात् मनुष्य की विषय-वासना के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है?

अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

[यद्यपि इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है, तथापि इसके पदों का अर्थ करने में बहुत कुछ मतभेद है। हम समझते हैं, कि यह वर्णन उन चार्वाक आदि नास्तिकों के मतों का है, कि जो वेदान्तशास्त्र या कापिल सांख्यशास्त्र के सृष्टि-रचनाविषयक सिद्धान्त को नहीं मानते; और यही कारण है कि इस श्लोक के पदों का अर्थ सांख्य और अध्यात्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है। जगत् को नाशवान् समझ कर वेदान्ती उसके अविनाशी सत्य को—सत्यस्य सत्यं (बृ. २. ३. ६)—खोजता है, और उसी सत्य तत्त्व को जगत् का मूल आधार या प्रतिष्ठा मानता है—ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा (तै. २. ५)। परन्तु आसुरी लोग कहते हैं, कि यह जग अ-सत्य है, अर्थात् इसमें सत्य नहीं है; और उसी लिये वे इस जगत् को अ-प्रतिष्ठ भी कहते हैं, अर्थात् इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। यहाँ शङ्का हो सकती है, कि इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र में प्रतिपादित अव्यक्त परब्रह्म यदि आसुरी लोगों को सम्मत न हो, तो उन्हें भक्ति-मार्ग का व्यक्त ईश्वर मान्य होगा। इसी से अनीश्वर (अन्+ईश्वर) पद का प्रयोग करके कह दिया है, कि आसुरी लोग जगत् में ईश्वर को भी नहीं मानते। इस प्रकार जगत् का कोई मूल आधार न मानने से उपनिषदों में वर्णित यह सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम छोड़ देना पड़ता है, कि "आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नं। अन्नात्पुरुषः। (तै. २. १); और सांख्यशास्त्रोक्त इस सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम को भी छोड़ देना पड़ता है, कि प्रकृति और पुरुष, ये दो स्वतन्त्र मूल तत्त्व हैं एवं सत्त्व, रज और तम गुणों के अन्योन्य आश्रय से अर्थात् परस्पर मिश्रण से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यदि इस शृंखला या परम्परा को मान लें, तो दृश्य-सृष्टि के पदार्थों से परे इस जगत् का कुछ न कुछ मूल तत्त्व मानना पड़ेगा। इसी से आसुरी लोग जगत् के पदार्थों को अ-परस्पर-सम्भूत मानते हैं, अर्थात् वे यह नहीं मानते कि ये पदार्थ एक दूसरे से किसी क्रम से उत्पन्न हुए हैं। जगत् की रचना के सम्बन्ध में एक बार ऐसी समझ हो जाने पर मनुष्य प्राणी ही प्रधान निश्चित हो जाता है और फिर यह विचार आप ही आप हो जाता है, कि मनुष्य की काम-वासना को तृप्त करने के लिये ही जगत् के सारे पदार्थ बने हैं, उनका और कुछ भी उपयोग नहीं है। और यही अर्थ इस श्लोक के अन्त में "किमन्यत्कामहैतुकम्"—काम को छोड़

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।

उसका और क्या हेतु होगा?—इन शब्दों से,एवं आगे के श्लोकों में भी, वर्णित है। कुछ टीकाकार " अपरस्परसम्भूत " पद का अन्वय " किमन्यत्" से लगा कर यह अर्थ करते हैं कि "क्या ऐसा भी कुछ देख पड़ता है जो परस्पर अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न न हुआ हो ? नहीं; और जब ऐसा पदार्थ ही नहीं देख पड़ता तब यह जगत् कामहेतुक अर्थात् स्त्री-पुरुष की कामेच्छा से ही निर्मित हुआ है "। एवं कुछ लोग " अपरश्च परश्च अपरस्परौ " ऐसा अद्भुत विग्रह करके इन पदों का यह अर्थ लगाया करते हैं कि " 'अपरस्पर' ही स्त्री-पुरुष हैं, इन्हीं से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्त्री-पुरुषों का काम ही इसका हेतु है और कोई कारण नहीं है "। परन्तु यह अन्वय सरल नहीं है और 'अपरश्च परश्च' का समास 'अपर-पर' होगा;बीच में सकार न आने पावेगा। इसके अतिरिक्त अ-सत्य और अ-प्रतिष्ठ इन पहले आये हुए पदों को देखने से यही ज्ञात होता है कि अ-परस्परसम्भूत नञ्समास ही होना चाहिये; और फिर कहना पड़ता है कि सांख्यशास्त्र में ' परस्परसम्भूत ' शब्द से जो ' गुणों से गुणों का अन्योन्य जनन' वर्णित है,वही यहाँ विवक्षित है (देखो गीतारहस्य पृ.१५७ और १५८)। ' अन्योन्य ' और ' परस्पर ' दोनों शब्द समानार्थ हैं, सांख्यशास्त्र में गुणों के पारस्परिक झगड़े का वर्णन करते समय ये दोनों शब्द आते हैं (देखो मभा. शां.३०५; सां. का.१२ और १३)। गीता पर जो माध्व भाष्य है, उसमें इसी अर्थ को मान कर, यह दिखलाने के लिये कि जगत् की वस्तुएँ एक दूसरी से कैसे उपजती हैं, गीता का यही श्लोक दिया गया है— "अन्नाद्भवन्ति भूतानि" इत्यादि-(अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है, अतः) यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न,और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है (देखो गी. ३. १४; मनु. ३.७६)। परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन इसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है,इस कारण उसी को हमने ऊपर प्रमाण में दिया है। तथापि हमारा मत है,कि गीता के इस ' अ-परस्परसम्भूत' पद से उपनिषद् के सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम की अपेक्षा सांख्यों का सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम ही अधिक विवक्षित है। जगत् की रचना के विषय में ऊपर जो आसुरी मत बतलाया गया है, उसका इन लोगों के बर्ताव पर जो प्रभाव पड़ता है,उसका वर्णन करते हैं। ऊपर

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

;के श्लोक में, अन्त में, जो 'कामहैतुकं' पद है उसी का यह अधिक स्पष्टीकरण है।] (९) इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्प-बुद्धिवाले नष्टात्मा और दुष्ट लोक क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिये उत्पन्न हुआ करते हैं, (१०) (और) कभी भी पूर्ण न होनेवाले काम अर्थात् विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोक) दम्भ, मान और मद से व्याप्त हो कर मोह के कारण झूठमूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिये प्रवृत्त रहते हैं। (११) इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए, कामोपभोग में डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व माननेवाले (१२) सैकड़ों आशा-पाशों से जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण (ये आसुरी लोग) सुख लूटने के लिये अन्याय से बहुत सा अर्थ-सञ्चय करने की तृष्णा करते हैं। (१३) मैंने आज यह पा लिया, (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे पास) है, और फिर वह भी मेरा होगा; (१४) इस शत्रु को मैंने मार लिया एवं औरों को भी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करनेवाला, मैं सिद्ध, बलाढ्य और सुखी हूँ, (१५) मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

§§ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा—इस प्रकार अज्ञान से मोहित, (१६) अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए,मोह के फन्दे में फँसे हुए और विषयोपभोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं! (१७) आत्मप्रशंसा करनेवाले, ऐंठ से बर्तनेवाले,धन और मान के मद से संयुक्त ये (आसुरी) लोग दम्भ से,शास्त्र-विधि छोड़ कर केवल नाम के लिये यज्ञ किया करते हैं। (१८) अहङ्कार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूल कर, अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करनेवाले, निन्दक, (१९) और अशुभ कर्म करनेवाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। (२०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) जन्म-जन्म में आसुरी योनि को ही पा कर, ये मूर्ख लोग मुझे बिना पाये ही अन्त में अत्यन्त अधोगति को जा पहुँचते हैं ।

[आसुरी लोगों का और उनको मिलनेवाली गति का वर्णन हो चुका। अब इससे छुटकारा पाने की युक्ति बतलाते हैं—]

(२१) काम, क्रोध और लोभ,ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा नाश कर डालते हैं; इसलिये इन तीनों का त्याग करना चाहिये। (२२) हे

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
§§ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

कौन्तेय ! इन तीन तमोद्वारों से छूट कर, मनुष्य वही आचरण करने लगता है कि जिसमें उसका कल्याण हो; और फिर उत्तम गति पा जाता है।

[प्रगट है कि नरक के तीनों दरवाजे छूट जाने पर सद्गति मिलनी ही चाहिये; किन्तु यह नहीं बतलाया कि कौन सा आचरण करने से ये छूट जाते हैं। अतः अब उसका मार्ग बतलाते हैं—]

(२३) जो शास्त्रोक्त विधि छोड़ कर मनमाना करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही मिलती है। (२४) इसलिये कार्य-अकार्य-व्यवस्थिति का अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिये तुझे शास्त्रों का प्रमाण मानना चाहिये। और शास्त्रों में जो कुछ कहा है, उसको समझ कर, तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है।

[इस श्लोक के 'कार्याकार्यव्यवस्थिति' पद से स्पष्ट होता है, कि कर्त्तव्य-शास्त्र की अर्थात् नीतिशास्त्र की कल्पना को दृष्टि के आगे रख कर गीता का उपदेश किया गया है। गीतारहस्य (पृ. ४८–५०) में स्पष्ट कर दिखला दिया है, कि इसी को कर्मयोगशास्त्र कहते हैं।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, दैवासुरसम्पद्विभाग योग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तदशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सत्रहवाँ अध्याय।

[यहाँ तक इस बात का वर्णन हुआ, कि कर्मयोग-शास्त्र के अनुसार संसार का धारण-पोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकार के होते हैं; और संसार का नाश करनेवाले मनुष्य किस ढँग के होते हैं। अब यह प्रश्न सहज ही होता है, कि मनुष्य-मनुष्य में इस प्रकार के भेद होते क्यों हैं। इस प्रश्न का उत्तर सातवें अध्याय के "प्रकृत्या नियताः स्वया" पद में दिया गया है, जिसका अर्थ यह है, कि यह प्रत्येक मनुष्य का प्रकृति-स्वभाव है (७.२०)। परन्तु वहाँ सत्त्व-रज-तममय तीनों गुणों का विवेचन किया नहीं गया था; अतएव वहाँ इस प्रकृतिजन्य भेद की उपपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन भी न हो सका। यही कारण है जो चौदहवें अध्याय में त्रिगुणों का विवेचन किया गया है, और अब इस अध्याय में वर्णन किया गया है, कि त्रिगुणों से उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा आदि के स्वभाव-भेद क्योंकर होते हैं; और फिर उसी अध्याय में ज्ञान-विज्ञान का सम्पूर्ण निरूपण समाप्त किया गया है। इसी प्रकार नवें अध्याय में भक्तिमार्ग के जो अनेक भेद बतलाये गये हैं, उनका कारण भी इस अध्याय की उपपत्ति से समझ में आ जाता है (देखो गी.९. २३, २४)। पहले अर्जुन यों पूछता है कि—]

अर्जुन ने कहा—(१) हे कृष्ण! जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर, शास्त्र-निर्दिष्ट विधि को छोड़ करके यजन करते हैं, उनकी निष्ठा अर्थात् (मन की) स्थिति कैसी है—सात्त्विक है, या राजस है, या तामस?

[पिछले अध्याय के अन्त में जो यह कहा गया था, कि शास्त्र की विधि का अथवा नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये; उसी पर अर्जुन ने यह शङ्का

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

की है । शास्त्रों पर श्रद्धा रखते हुए भी मनुष्य अज्ञान से भूल कर बैठता है । उदाहरणार्थ, शास्त्र-विधि यह है कि सर्वव्यापी परमेश्वर का भजन-पूजन करना चाहिये; परंतु वह इसे छोड़ देवताओं की धुन में लग जाता है (गी. ६.२३)। अतः अर्जुन का प्रश्न है, कि ऐसे पुरुष की निष्ठा अर्थात् अवस्था अथवा स्थिति कौन सी समझी जावें। यह प्रश्न उन आसुरी लोगों के विषय में नहीं है, कि जो शास्त्र का और धर्म का अश्रद्धापूर्वक तिरस्कार किया करते हैं। तो भी इस अध्याय में प्रसङ्गानुसार उन के कर्मों के फलों का भी वर्णन किया गया है।]

श्रीभगवान् ने कहा कि-(२) प्राणिमात्र की श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है,एक सात्त्विक, दूसरी राजस, और तीसरी तामस; उनका वर्णन सुनो। (३) हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृतिस्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है,वह वैसा ही होता है ।

[दूसरे श्लोक में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ देहस्वभाव, बुद्धि अथवा अन्तःकरण है । उपनिषद् में 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है (कठ. ६. ७) और वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' पद के स्थान में 'सत्त्वक्षेत्रज्ञ' पद का उपयोग किया गया है (वेसू. शांभा. १.२. १२)। तात्पर्य यह है,कि दूसरे श्लोक का 'स्वभाव' शब्द और तीसरे श्लोक का 'सत्त्व' शब्द यहाँ दोनों ही समानार्थक हैं। क्योंकि सांख्य और वेदान्त दोनों को ही यह सिद्धान्त मान्य है,कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति है; इसी प्रकृति से बुद्धि एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। "यो यच्छ्रद्धः स एव सः"—यह तत्त्व "देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं को पाते हैं" प्रभृति पूर्व वर्णित सिद्धान्तों का ही साधारण अनुवाद है (७. २०-२३; ९. २५)। इस विषय का विवेचन हमने गीतारहस्य के तेरहवें प्रकरण में किया है (देखिये गीतार.पृ.४२१-४२७)। तथापि जब यह कहा कि जिसकी जैसी बुद्धि हो उसे वैसा फल मिलता है,और वैसी बुद्धि का होना या न होना प्रकृति-स्वभाव के अधीन है;तब प्रश्न होता है,कि फिर वह बुद्धि सुधर क्योंकर सकती है। इसका यह उत्तर है कि आत्मा स्वतन्त्र है,अतः देह का यह

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
§§ अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे बदला जा सकता है। इस बात का विवेचन गीतारहस्य के दसवें प्रकरण में किया है (पृ. २७७–२८२)। अभी तो यही देखना है, कि श्रद्धा में भेद क्यों और कैसे होते हैं। इसी से कहा गया है कि प्रकृति-स्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है। अब बतलाते हैं, कि जब प्रकृति भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है, तब प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा के भी त्रिधा भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, और उनके परिणाम क्या होते हैं—]

(४) जो पुरुष सात्त्विक हैं अर्थात् जिनका स्वभाव सत्वगुण-प्रधान है वे देवताओं का यजन करते हैं; राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं।

[इस प्रकार शास्त्र पर श्रद्धा रखनेवाले मनुष्यों के भी सत्त्व आदि प्रकृति के गुण-भेदों से जो तीन भेद होते हैं, उनका और उनके स्वरूपों का वर्णन हुवा। अब बतलाते हैं, कि शास्त्र पर श्रद्धा न रखनेवाले काम-परायण और दाम्भिक लोग किस श्रेणी में आते हैं। यह तो स्पष्ट है कि ये लोग सात्त्विक नहीं हैं, परन्तु ये निरे तामस भी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि यद्यपि इनके कर्म शास्त्रविरुद्ध होते हैं, तथापि इनमें कर्म करने की प्रवृत्ति होती है और यह रजोगुण का धर्म है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे मनुष्यों को न सात्त्विक कह सकते हैं, न राजस और न तामस। अतएव दैवी और आसुरी नामक दो कक्षाएँ बना कर उक्त दुष्ट पुरुषों का आसुरी कक्षा में समावेश किया जाता है। यही अर्थ अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।]

(५) परन्तु जो लोग दम्भ और अहङ्कार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं (६) तथा जो न केवल शरीर के

§§ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

पञ्चमहाभूतों के समूह को ही,वरन् शरीर के अन्तर्गत रहनेवाले मुझको भी कष्ट देते हैं, उन्हें अविवेकी और आसुरी बुद्धि के जानो।

[इस प्रकार अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर हुए। इन श्लोकों का भावार्थ यह है,कि मनुष्य की श्रद्धा उसके प्रकृति-स्वभावानुसार सात्त्विक,राजस अथवा तामस होती है,और उसके अनुसार उसके कर्मों में अन्तर होता है तथा उन कर्मों के अनुरूप ही उसे पृथक्-पृथक् गति प्राप्त होती है। परन्तु केवल इतने से ही कोई आसुरी कक्षा में लेख नहीं लिया जाता। अपनी स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रानुसार आचरण करके प्रकृति-स्वभाव को धीरे-धीरे सुधारते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। हाँ, जो ऐसा नहीं करते और दुष्ट प्रकृति-स्वभाव का ही अभिमान रख कर शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते हैं,उन्हें आसुरी बुद्धि के कहना चाहिये। यही इन श्लोकों का भावार्थ है। अब यह वर्णन किया जाता है कि श्रद्धा के समान ही आहार, यज्ञ, तप और दान के सत्त्व-रज-तममय प्रकृति के गुणों से भिन्न-भिन्न भेद कैसे हो जाते हैं; एवं इन भेदों से स्वभाव की विचित्रता के साथ ही साथ क्रिया की विचित्रता भी कैसे उत्पन्न होती है—]

(७) प्रत्येक की रुचि का आहार भी तीन प्रकार का होता है। और यही हाल यज्ञ, तप एवं दान का भी है। सुनो, उनका भेद बतलाता हूँ। (८) आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिद कर चिरकाल तक रहनेवाले और मन को आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। (९) कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे रूखे, दाहकारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥
§§ अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः॥ ११॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

[संस्कृत में कटु शब्द का अर्थ चरपरा और तिक्त का अर्थ कडुआ होता है। इसी के अनुसार संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थों में काली मिरच कटु तथा नींब तिक्त कही गई है (देखो वाग्भट. सूत्र. अ. १०)। हिन्दी के कड़ुए और तीखे शब्द क्रमानुसार कटु और तिक्त शब्दों के ही अपभ्रंश हैं।]

(१०) कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूँठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को रुचता है।

[सात्त्विक मनुष्य को सात्त्विक, राजस को राजस तथा तामस को तामस भोजन प्रिय होता है। इतना ही नहीं, यदि आहार शुद्ध अर्थात् सात्त्विक हो, तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम क्रम से शुद्ध या सात्त्विक हो सकती है। उपनिषदों में कहा है कि 'आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः' (छां. ७. २६.२)। क्योंकि मन और बुद्धि प्रकृति के विकार हैं, इसलिये जहाँ सात्त्विक आहार हुआ वहाँ बुद्धि भी आप ही आप सात्त्विक बन जाती है। ये आहार के भेद हुए। इसी प्रकार अब यज्ञ के तीन भेदों का भी वर्णन करते हैं—]

(११) फलाशा की आकांक्षा छोड़ कर अपना कर्त्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार, शान्त चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है। (१२) परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! उसको राजस यज्ञ समझो कि जो फल की इच्छा से अथवा दम्भ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिये किया जाता है। (१३) शास्त्र-विधि-रहित, अन्नदान-विहीन, बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है।

§§ देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

[आहार और यज्ञ के समान तप के भी तीन भेद हैं । पहले, तप के कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन भेद किये हैं; फिर इन तीनों में से प्रत्येक में सत्त्व, रज और तम गुणों से जो त्रिविधता होती है, उसका वर्णन किया है। यहाँ पर, तप शब्द से यह संकुचित अर्थ विवक्षित नहीं है, कि जङ्गल में जा कर पातञ्जल-योग के अनुसार शरीर को कष्ट दिया करें । किन्तु मनु का किया हुआ 'तप' शब्द का यह व्यापक अर्थ ही गीता के निम्न लिखित श्लोकों में अभिप्रेत है कि यज्ञ-याग आदि कर्म, वेदाध्ययन, अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार जिसका जो कर्त्तव्य हो—जैसे क्षत्रिय का कर्त्तव्य युद्ध करना है और वैश्य का व्यापार इत्यादि—वही उसका तप है (मनु. ११. २३६) ।]

(१४) देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं । (१५) (मन को) उद्वेग न करनेवाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते हैं । (१६) मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस तप कहते हैं ।

[जान पड़ता है कि पन्द्रहवें श्लोक में सत्य, प्रिय और हित तीनों शब्द मनु के इस वचन को लक्ष्य कर कहे गये हैं;—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (मनु. ४. १३८)—यह सनातन धर्म है कि सच और मधुर (तो) बोलना चाहिये, परन्तु अप्रिय सच न बोलना चाहिये । तथापि महाभारत में ही विदुर ने दुर्योधन से कहा है कि "अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" (देखो सभा. ६३. १७) । अब कायिक, वाचिक और मानसिक तपों के जो भेद फिर भी होते हैं, वे यों हैं—]

§§ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
§§ दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

(१७) इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रख कर उत्तम श्रद्धा से, तथा योगयुक्त बुद्धि से करे तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। (१८) जो तप (अपने) सत्कार, मान या पूजा के लिये अथवा दम्भ से किया जाता है, वह चंचल और अस्थिर तप शास्त्रों में राजस कहा जाता है। (१९) मूढ़ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठा कर, अथवा (जारण-मारण आदि कर्मों के द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस कहलाता है।

[ये तप के भेद हुए। अब दान के त्रिविध भेद बतलाते हैं—]

(२०) वह दान सात्त्विक कहलाता है कि जो कर्तव्यबुद्धि से किया जाता है, जो (योग्य) स्थल-काल और पात्र का विचार करके किया जाता है, एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है। (२१) परन्तु (किये हुए) उपकार के बदले में, अथवा किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से, जो दान दिया जाता है वह राजस दान है। (२२) अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के, अथवा अवहेलनापूर्वक, जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है।

[आहार, यज्ञ, तप, और दान के समान ही ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति और सुख की त्रिविधता का वर्णन अगले अध्याय में किया गया है (गी. १८.

§§ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

[२०-२१)। इस अध्याय का गुणभेद-प्रकरण यहीं समाप्त हो चुका। अब ब्रह्म-निर्देश के आधार पर उक्त सात्त्विक कर्म की श्रेष्ठता और संग्राह्यता सिद्ध की जावेगी। क्योंकि उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन पर सामान्यतः यह शङ्का हो सकती है, कि कर्म सात्त्विक हो या राजस या तामस, कैसा भी क्यों न हो, है तो वह दुःखकारक और दोषमय ही; इस कारण सारे कर्मों का त्याग किये बिना ब्रह्म-प्राप्ति नहीं हो सकती। और जो यह बात सत्य है, तो फिर कर्म के सात्त्विक, राजस आदि भेद करने से लाभ ही क्या है? इस आक्षेप पर गीता का यह उत्तर है, कि कर्म के सात्त्विक, राजस और तामस भेद परब्रह्म से अलग नहीं हैं। जिस सङ्कल्प में ब्रह्म का निर्देश किया गया है, उसी में सात्त्विक कर्मों का और सत्कर्मों का समावेश होता है; इससे निर्विवाद सिद्ध है, कि ये कर्म अध्यात्म दृष्टि से भी त्याज्य नहीं हैं (देखो गीतार. पृ. २४५)। परब्रह्म के स्वरूप का मनुष्य को जो कुछ ज्ञान हुआ है वह सब "ॐ तत्सत्" इन तीन शब्दों के निर्देश में ग्रथित है। इनमें से ॐ अक्षर ब्रह्म है, और उपनिषदों में इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया गया है (प्रश्न. ५; कठ. २. १५-१७; तै. १.८; छां. १. १. मैत्र्यु. ६. ३, ४; मांडूक्य १-१२)। और जब यह वर्णाक्षररूपी ब्रह्म ही जगत् के आरम्भ में था, तब सब क्रियाओं का आरम्भ वहीं से होता है। "तत्=वह" शब्द का अर्थ है सामान्य कर्म से परे का कर्म, अर्थात् निष्काम बुद्धि से फलाशा छोड़ कर किया हुआ सात्त्विक कर्म; और 'सत्' का अर्थ वह कर्म है, कि जो यद्यपि फलाशासहित हो, तो भी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो। इस अर्थ के अनुसार निष्काम बुद्धि से किये हुए सात्त्विक कर्म का ही नहीं, वरन् शास्त्रानुसार किये हुए सत् कर्म का भी परब्रह्म के सामान्य और सर्वमान्य सङ्कल्प में समावेश होता है; अतएव इन कर्मों को त्याज्य कहना अनुचित है। अन्त में 'तत्' और 'सत्' कर्मों के अतिरिक्त एक 'असत्' अर्थात् बुरा कर्म बच रहा। परन्तु वह दोनों लोकों में गर्ह्य माना गया है, इस कारण अन्तिम श्लोक में सूचित किया है, कि उस कर्म का इस सङ्कल्प में समावेश नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि—]

(२३) (शास्त्र में) परब्रह्म का निर्देश 'ॐ तत्सत्' यों तीन प्रकार से किया जाता है। उसी निर्देश से पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए हैं।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
§§ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

[पहले कह आये हैं कि, सम्पूर्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेव-रूपी पहला ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए (गीता. ३.१०)। परन्तु ये सब जिस परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं,उस परब्रह्म का स्वरूप ' ॐ तत्सत् ' इन तीन शब्दों में है। अतएव इस श्लोक का यह भावार्थ है कि ' ॐ तत्सत् ' सङ्कल्प ही सारी सृष्टि का मूल है। अब इस सङ्कल्प के तीनों पदों का कर्मयोग की दृष्टि से पृथक् निरूपण किया जाता है—]

(२४) तस्मात्, अर्थात् जगत् का आरम्भ इस संकल्प से हुआ है इस कारण, ब्रह्मवादी लोगों के यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्म सदा ॐ के उच्चार के साथ हुआ करते हैं (२५) ' तत् ' शब्द के उच्चारण से, फल की आशा न रख कर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। (२६)अस्तित्व और साधुता अर्थात् भलाई के अर्थ में 'सत्' शब्द का उपयोग किया जाता है। और हे पार्थ! इसी प्रकार प्रशस्त अर्थात् अच्छे कर्मों के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। (२७) यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी 'सत्' कहते हैं; तथा इनके निमित्त जो कर्म करना हो, उस कर्म का नाम भी 'सत्' ही है।

[यज्ञ, तप और दान मुख्य धार्मिक कर्म हैं तथा इनके निमित्त जो कर्म किया जाता है उसी को मीमांसक लोग सामान्यतः यज्ञार्थ कर्म कहते हैं। इन कर्मों को करते समय यदि फल की आशा हो तो भी वह धर्म के अनुकूल रहती

§§ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

है, इस कारण ये कर्म 'सत्' श्रेणी में गिने जाते हैं और सब निष्काम कर्म तत् (=वह अर्थात् परे की) श्रेणी में लेखे जाते हैं। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में जो यह 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मसङ्कल्प कहा जाता है,इसमें इस प्रकार से दोनों प्रकार के कर्मों का समावेश होता है;इसलिये इन दोनों कर्मों को ब्रह्मानुकूल ही समझना चाहिये। देखो गीतारहस्य पृ. २४५। अब असत् कर्म के विषय में कहते हैं-]

(२८) अश्रद्धा से जो हवन किया हो, (दान) दिया हो, तप किया हो, या जो कुछ (कर्म) किया हो, वह 'असत्' कहा जाता है। हे पार्थ ! वह (कर्म) न मरने पर (परलोक में), और न इस लोक में हितकारी होता है।

[तात्पर्य यह है कि ब्रह्मस्वरूप के बोधक इस सर्वमान्य सङ्कल्प में ही निष्काम बुद्धि से, अथवा कर्त्तव्य समझ कर किये हुए सात्त्विक कर्म का, और शास्त्रानुसार सद्बुद्धि से किये हुए प्रशस्त कर्म अथवा सत्कर्म का समावेश होता है। अन्य सब कर्म वृथा हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस कर्म को छोड़ देने का उपदेश करना उचित नहीं है,कि जिस कर्म का ब्रह्मनिर्देश में ही समावेश होता है, और जो ब्रह्मदेव के साथ ही उत्पन्न हुआ है (गी. ३. १०), तथा जो किसी से छूट भी नहीं सकता। "ॐ तत्सत्"-रूपी ब्रह्मनिर्देश के उक्त कर्मयोग-प्रधान अर्थ को, इसी अध्याय में कर्मविभाग के साथ ही बतलाने का हेतु भी यही है। क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूप का वर्णन तो तेरहवें अध्याय में और उसके पहले भी हो चुका है। गीतारहस्य के नवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४५) में बतला चुके हैं कि 'ॐ तत्सत्' पद का असली अर्थ क्या होना चाहिये। आज-कल 'सच्चिदानन्द' पद से ब्रह्मनिर्देश करने की प्रथा है। परन्तु इसको स्वीकार न करके यहाँ जब उस 'ॐ तत्सत्' ब्रह्मनिर्देश का ही उपयोग किया गया है,तब इससे यह अनुमान निकल सकता है कि 'सच्चिदानन्द'-पदरूपी ब्रह्मनिर्देश गीता ग्रन्थ के निर्मित हो चुकने पर साधारण ब्रह्मनिर्देश के रूप से प्रायः प्रचलित हुआ होगा।]

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में,ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अठारहवाँ अध्याय।

[अठारहवाँ अध्याय पूरे गीताशास्त्र का उपसंहार है। अतः यहाँ तक जो विवेचन हुआ है उसका हम इस स्थान में संक्षेप से सिंहावलोकन करते हैं (अधिक विस्तार गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में देखिये)। पहले अध्याय से स्पष्ट होता है, कि स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए युद्ध को छोड़ भीख माँगने पर उतारू होनेवाले अर्जुन को अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है। अर्जुन को शंका थी कि गुरुहत्या आदि सदोष कर्म करने से आत्मकल्याण कभी न होगा। अतएव आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत किये हुए आयु बिताने के दो प्रकार के मार्गों का—सांख्य (संन्यास) मार्ग का और कर्मयोग (योग) मार्ग का—वर्णन दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। और अन्त में यह सिद्धान्त किया गया है, कि यद्यपि ये दोनों ही मार्ग मोक्ष देते हैं, तथापि इनमें से कर्मयोग ही अधिक श्रेयस्कर है (गी. ५.२)। फिर तीसरे अध्याय से ले कर पांचवें अध्याय तक इन युक्तियों का वर्णन है कि, कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है; बुद्धि के स्थिर और सम होने से कर्म की बाधा नहीं होती; कर्म किसी से भी नहीं छूटते तथा उन्हें छोड़ देना भी किसी को उचित नहीं, केवल फलाशा को त्याग देना ही काफ़ी है; अपने लिये न सही तो भी लोकसंग्रह के हेतु कर्म करना आवश्यक है; बुद्धि अच्छी हो तो ज्ञान और कर्म के बीच विरोध नहीं होता; तथा पूर्व-परम्परा देखी जाय तो ज्ञात होगा, कि जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। अनन्तर इस बात का विवेचन किया है, कि कर्मयोग की सिद्धि के लिये बुद्धि की जिस समता की आवश्यकता होती है, उसे कैसे प्राप्त करना चाहिये और इस कर्मयोग का आचरण करते हुए अन्त में उसी के द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त होता है। बुद्धि की इस समता को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों का निग्रह करके पूर्णतया यह जान लेना आवश्यक है, कि एक ही परमेश्वर सब प्राणियों में भरा हुआ है—इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है। अतः इन्द्रिय-निग्रह का विवे-

अष्टादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वदितुम्।

चन छठवें अध्याय में किया गया है। फिर सातवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया गया है,कि कर्मयोग का आचरण करते हुए ही परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है,और वह ज्ञान क्या है। सातवें और आठवें अध्याय में क्षर-अक्षर अथवा व्यक्त-अव्यक्त के ज्ञान-विज्ञान का विवरण किया गया है। नवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक इस अभिप्राय का वर्णन किया गया है, कि यद्यपि परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप की अपेक्षा अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है,तो भी इस बुद्धि को न डिगने दे कि परमेश्वर एक ही है;और व्यक्त स्वरूप की ही उपासना प्रत्यक्ष ज्ञान देनेवाली अतएव सब के लिये सुलभ है;अनन्तर तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है,कि क्षर-अक्षर के विवेक में जिसे अव्यक्त कहते हैं, वही मनुष्य के शरीर में अन्तरात्मा है। इसके पश्चात् चौदहवें अध्याय से ले कर सत्रहवें अध्याय तक, चार अध्यायों में, क्षर-अक्षर-विज्ञान के अन्तर्गत इस विषय का विस्तारसहित विचार किया गया है, कि एक ही अव्यक्त से प्रकृति के गुणों के कारण जगत् में विविध स्वभावों के मनुष्य कैसे उपजते हैं अथवा और अनेक प्रकार का विस्तार कैसे होता है एवं ज्ञान-विज्ञान का निरूपण समाप्त किया गया है। तथापि स्थान स्थान पर अर्जुन को यही उपदेश है, कि तू कर्म कर; और यही कर्मयोग-प्रधान आयु बिताने का मार्ग सब में उत्तम माना गया है,कि जिसमें शुद्ध अन्तःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके 'परमेश्वरार्पण-पूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्त्तव्य समझ कर मरण पर्यन्त कर्म करते रहने' का उपदेश है। इस प्रकार ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान कर्मयोग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर चुकने पर अठारहवें अध्याय में उसी धर्म का उपसंहार करके अर्जुन को स्वेच्छा से युद्ध करने के लिये प्रवृत्त किया है। गीता के इस मार्ग में—कि जो गीता में सर्वोत्तम कहा गया गया है—अर्जुन से यह नहीं कहा गया कि 'तू चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करके संन्यासी हो जा'। हाँ, यह अवश्य कहा है कि, इसमार्ग से आचरण करनेवाला मनुष्य 'नित्य संन्यासी' है (गी. ५.३)। अतएव अब अर्जुन का प्रश्न है, कि चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास ले कर किसी समय सब कर्मों को सचमुच त्याग देने

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

का तत्त्व इस कर्मयोग-मार्ग में है या नहीं; और नहीं है तो, ' संन्यास ' एवं 'त्याग' शब्दों का अर्थ क्या है ? देखो गीतारहस्य पृ. ३४६–३४६ ।]

(१) अर्जुन ने कहा—(१) हे महाबाहु, हृषीकेश ! मैं संन्यास का तत्त्व, और हे केशिदैत्य-निषूदन ! त्याग का तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ।

[संन्यास और त्याग शब्दों के उन अर्थों अथवा भेदों को जानने के लिये यह प्रश्न नहीं किया गया है, कि जो कोशकारों ने किये हैं। यह न समझना चाहिये,कि अर्जुन यह भी न जानता था कि दोनों का धात्वर्थ "छोड़ना" है । परन्तु बात यह है, कि भगवान् कर्म छोड़ देने की आज्ञा कहीं भी नहीं देते; बल्कि चौथे,पाँचवें अथवा छठवें अध्याय (४.४१;५.१३;६.१.),में या अन्यत्र जहाँ कहीं संन्यास का वर्णन है वहाँ,उन्होंने यही कहा है कि केवल फलाशा का 'त्याग' करके (गी.१२.११) सब कर्मों का 'संन्यास' करो अर्थात् सब कर्म परमेश्वर को समर्पण करो (३.३०;१२.६) । और,उपनिषदों में देखो तो कर्मत्याग-प्रधान संन्यास धर्म के ये वचन पाये जाते हैं, कि ' न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमाशुः' (कै. १.२; नारायण. १२.३) । सब कर्मों का स्वरूपतः 'त्याग' करने से ही कई एकों ने मोक्ष प्राप्त किया है, अथवा "वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" (मुण्डक ३.२.६)–कर्मत्यागरूपी 'संन्यास' योग से शुद्ध होनेवाले 'यति' या "किं प्रजया करिष्यामः " (बृ. ४. ४.२२)—हमें पुत्रपौत्र आदि प्रजा से क्या काम है ? अतएव अर्जुन ने समझा कि भगवान् स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित चार आश्रमों में से कर्म-त्यागरूपी आश्रम के लिये 'त्याग' और 'संन्यास' शब्दों का उपयोग नहीं करते, किन्तु वे संन्यास और किसी अर्थ में उन शब्दों का उपयोग करते हैं। इसी से अर्जुन ने चाहा कि उस अर्थ का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाय। इसी हेतु से उसने उक्त प्रश्न किया है । गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण (पृ. ३४६–३४६) में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है ।]

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा-(२) (जितने) काम्य कर्म हैं, उनके न्यास अर्थात् छोड़ने को ज्ञानी लोग संन्यास समझते हैं (तथा) समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पण्डित लोग त्याग कहते हैं।

[इस श्लोक में स्पष्टतया बतला दिया है, कि कर्मयोग-मार्ग में संन्यास और त्याग किसे कहते हैं। परन्तु संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं; इस कारण उन्होंने इस श्लोक की बहुत कुछ खींचातानी की है। श्लोक में प्रथम ही 'काम्य' शब्द आया है, अतएव इन टीकाकारों का मत है, कि यहाँ मीमांसकों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध प्रभृति कर्मभेद विवक्षित हैं और उनकी समझ में भगवान् का अभिप्राय यह है, कि उनमें से केवल काम्य 'कर्मों ही को छोड़ना चाहिये'। परन्तु संन्यासमार्गीय लोगों को नित्य और नैमित्तिक कर्म भी नहीं चाहिये, इसलिये उन्हें यों प्रतिपादन करना पड़ा है कि यहाँ नित्य और नैमित्तिक कर्मों का काम्य कर्मों में ही समावेश किया गया है। इतना करनेपर भी इस श्लोक के उत्तरार्ध में जो कहा गया है, कि फलाशा छोड़ना चाहिये न कि कर्म (आगे छठा श्लोक देखिये), उसका मेल मिलता ही नहीं; अतएव अन्त में इन टीकाकारों ने अपने ही मन से यों कह कर समाधान कर लिया है, कि भगवान् ने यहाँ कर्मयोग-मार्ग की कोरी स्तुति की है; उनका सच्चा अभिप्राय तो यही है, कि कर्मों को छोड़ ही देना चाहिये! इससे स्पष्ट होता है, कि संन्यास आदि सम्प्रदायों की दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ ठीक ठीक नहीं लगता। वास्तव में इसका अर्थ कर्मयोगप्रधान ही करना चाहिये, अर्थात् फलाशा छोड़ कर मरण-पर्यन्त सारे कर्म करते जाने का जो तत्त्व गीता में पहले अनेक बार कहा गया है, उसी के अनुरोध से यहाँ भी अर्थ करना चाहिये; तथा यही अर्थ सरल है और ठीक ठीक जमता भी है। पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि 'काम्य' शब्द से इस स्थान में मीमांसकों का नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मविभाग अभिप्रेत नहीं है। कर्मयोगमार्ग में सब कर्मों के दो ही विभाग किये जाते हैं; एक 'काम्य' अर्थात् फलाशा से किये हुए कर्म और दूसरे 'निष्काम' अर्थात् फलाशा छोड कर किये हुए कर्म। मनुस्मृति में इन्हीं को क्रम से 'प्रवृत्त' कर्म और 'निवृत्त' कर्म कहा है (देखो मनु. १२. ८८ और ८९)। कर्म चाहे नित्य हों, नैमित्तिक हों, काम्य हों, कायिक हों, वाचिक हों, मानसिक हों, अथवा सात्विक आदि भेद के

§§ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः।

अनुसार और किसी भी प्रकार के हों; उन सब को 'काम्य' अथवा 'निष्काम' इन दो में से किसी एक विभाग में आना ही चाहिये। क्योंकि, काम अर्थात् फलाशा का होना, अथवा न होना, इन दोनों के अतिरिक्त फलाशा की दृष्टि से तीसरा भेद हो ही नहीं सकता। शास्त्र में जिस कर्म का जो फल कहा गया है—जैसे पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि—उस फल की प्राप्ति के लिये वह कर्म किया जाय तो वह 'काम्य' है तथा मन में उस फल की इच्छा न रख कर वही कर्म केवल कर्तव्य समझ कर किया जाय, तो वह 'निष्काम' हो जाता है। इस प्रकार सब कर्मों के 'काम्य' और 'निष्काम' (अथवा मनु की परिभाषा के अनुसार प्रवृत्त और निवृत्त) यही दो भेद सिद्ध होते हैं। अब कर्मयोगी सब 'काम्य' कर्मों को सर्वथा छोड़ देता है, अतः सिद्ध हुआ कि कर्मयोग में भी काम्य कर्म का संन्यास करना पड़ता है। फिर बच रहे निष्काम कर्म; सो गीता में कर्मयोगी को निष्काम कर्म करने का निश्चित उपदेश किया गया है सही, परन्तु उसमें भी 'फलाशा' का सर्वथा त्याग करना पड़ता है (गी. ६.२)। अतएव त्याग का तत्त्व भी गीताधर्म में स्थिर ही रहता है। तात्पर्य यह है, कि सब कर्मों को न छोड़ने पर भी कर्मयोगमार्ग में 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों तत्त्व बने रहते हैं। अर्जुन को यही बात समझा देने के लिये इस श्लोक में संन्यास और त्याग दोनों की व्याख्या यों की गई है, कि 'संन्यास' का अर्थ 'काम्य कर्मों को सर्वथा छोड़ देना' है और 'त्याग' का यह मतलब है कि 'जो कर्म करना हो, उनकी फलाशा न रखे'। पीछे जब यह प्रतिपादन हो रहा था कि संन्यास (अथवा सांख्य) और योग दोनों तत्त्वतः एक ही हैं, तब 'संन्यासी' शब्द का अर्थ (गी. ५.३-६ और ६. १, २ देखो) तथा इसी अध्याय में आगे 'त्यागी' शब्द का अर्थ भी (गी. १८.११) इसी भाँति किया गया है और इस स्थान में वही अर्थ इष्ट है। यहाँ स्मार्तों का यह मत प्रतिपाद्य नहीं है कि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने पर "अन्त में प्रत्येक मनुष्य को सर्वत्यागरूपी संन्यास अथवा चतुर्थाश्रम लिये बिना मोक्ष-प्राप्ति हो ही नहीं सकती"। इससे सिद्ध होता है, कि कर्मयोगी यद्यपि संन्यासियों का गेरुआ भेष धारण कर सब कर्मों का त्याग नहीं करता, तथापि वह संन्यास के सच्चे सच्चे तत्त्व का पालन किया करता है, इसलिये कर्मयोग का स्मृतिग्रन्थ से कोई विरोध

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नहीं होता। अब संन्यासमार्ग और मीमांसकों के कर्मसम्बन्धी वाद का उल्लेख करके कर्मयोगशास्त्र का, इस विषय में, अन्तिम निर्णय सुनाते हैं—]

(३) कुछ पंडितों का कथन है, कि कर्म दोषयुक्त है अतएव उसका (सर्वथा) त्याग करना चाहिये; तथा दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप और कर्म को कभी न छोड़ना चाहिये। (४) अतएव हे भरतश्रेष्ठ! त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। (५) यज्ञ, दान, तप और कर्म का त्याग न करना चाहिये; इन (कर्मों) को करना ही चाहिये। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों के लिये (भी) पवित्र अर्थात् चित्तशुद्धिकारक हैं। (६) अतएव इन (यज्ञ, दान आदि) कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके (अन्य निष्काम कर्मों के समान ही लोकसंग्रह के हेतु) करते रहना चाहिये। हे पार्थ! इस प्रकार मेरा निश्चित मत (है, तथा वही) उत्तम है।

[कर्म का दोष अर्थात् बन्धकता कर्म में नहीं, फलाशा में है। इसलिये पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्त्व कहा गया है, कि सभी कर्मों को फलाशा छोड़ कर निष्काम-बुद्धि से करना चाहिये, उसका यह उपसंहार है। संन्यासमार्ग का यह मत गीता को मान्य नहीं है, कि सब कर्म दोषयुक्त, अतएव त्याज्य हैं (देखो गी. १८.४८ और ४९)। गीता केवल काम्य कर्मों का संन्यास करने के लिये कहती है; परन्तु धर्मशास्त्र में जिन कर्मों का प्रतिपादन है, वे सभी काम्य ही हैं (गी. २.४२–४४), इसलिये अब कहना पड़ता है, कि उनका भी संन्यास करना चाहिये; और यदि ऐसा करते हैं तो यज्ञ-चक्र बन्द हुआ जाता है (३. १६.) एवं इससे सृष्टि के उद्ध्वस्त होने का भी अवसर आया जाता है। प्रश्न होता है कि, तो फिर करना क्या चाहिये? गीता इसका यों उत्तर देती है, कि

§§ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

यज्ञ, दान प्रभृति कर्म स्वर्गादि फलप्राप्ति के हेतु करने के लिये यद्यपि शास्त्र में कहा है, तथापि ऐसी बात नहीं है कि ये ही कर्म लोकसंग्रह के लिये इस निष्काम बुद्धि से न हो सकते हों कि यज्ञ करना, दान देना और तप करना आदि मेरा कर्त्तव्य है (देखो गी. १७. ११, १७ और २०)। अतएव लोकसंग्रह के निमित्त स्वधर्म के अनुसार जैसे अन्यान्य निष्काम कर्म किये जाते हैं वैसे ही यज्ञ, दान आदि कर्मों को भी फलाशा और आसक्ति छोड़ कर करना चाहिये। क्योंकि वे सदैव 'पावन' अर्थात् चित्तशुद्धि-कारक अथवा परोपकार-बुद्धि बढ़ानेवाले हैं। मूल श्लोक में जो "एतान्यपि = ये भी" शब्द हैं उनका अर्थ यही है कि "अन्य निष्काम कर्मों के समान यज्ञ, दान आदि कर्म करना चाहिये," इस रीति से ये सब कर्म फलाशा छोड़ कर अथवा भक्ति-दृष्टि से केवल परमेश्वरार्पण बुद्धिपूर्वक किये जावें तो सृष्टि का चक्र चलता रहेगा; और कर्त्ता के मन की फलाशा छूट जाने के कारण ये कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बाधा भी नहीं डाल सकते। इस प्रकार सब बातों का ठीक ठीक मेल मिल जाता है। कर्म के विषय में कर्मयोगशास्त्र का यही अन्तिम और निश्चित सिद्धान्त है (गी. २.४५ पर हमारी टिप्पणी देखो)। मीमांसकों के कर्ममार्ग और गीता के कर्मयोग का भेद गीतारहस्य (पृ.२९२–२९५ और पृ. ३४४–३४६) में अधिक स्पष्टता से दिखाया गया है। अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग के अर्थों का कर्मयोग की दृष्टि से इस प्रकार स्पष्टीकरण हो चुका। अब सात्त्विक आदि भेदों के अनुसार कर्म करने की भिन्न भिन्न रीतियों का वर्णन करके उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—]

(७) जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर दिये गये हैं, उनका संन्यास यानी त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह से किया त्याग तामस कहलाता है। (८) शरीर को कष्ट होने के डर से अर्थात् दुःख-कारक होने के कारण ही यदि कोई कर्म छोड़ दें, तो उसका वह त्याग राजस हो जाता

संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
§§ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

है,(तथा) त्याग का फल उसे नहीं मिलता। (६) हे अर्जुन!(स्वधर्मानुसार) नियत कर्म जब कार्य अथवा कर्त्तव्य समझ कर और आसक्ति एवं फल को छोड़ कर किया जाता है, तब वह सात्त्विक त्याग समझा जाता है।

[सातवें श्लोक के 'नियत' शब्द का अर्थ कुछ लोग नित्य-नैमित्तिक आदि भेदों में से 'नित्य' कर्म समझते हैं; किन्तु वह ठीक नहीं है। 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (गी.३. ८) पद में 'नियत' शब्द का जो अर्थ है, वही अर्थ यहाँ पर भी करना चाहिये। हम ऊपर कह चुके हैं,कि वहाँ मीमांसकों की परिभाषा विवक्षित नहीं है। गी.३. १९ में, 'नियत' शब्द के स्थान में 'कार्य' शब्द आया है और यहाँ ९वें श्लोक में 'कार्य' एवं 'नियत' दोनों शब्द एकत्र आ गये हैं। इस अध्याय के आरम्भ में दूसरे श्लोक में यह कहा गया है, कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले किसी भी कर्म को न छोड़ कर उसी को कर्त्तव्य समझ कर करते रहना चाहिये (देखो गी. ३. १९), इसी को सात्त्विक त्याग कहते हैं; और कर्मयोग-शास्त्र में इसी को 'त्याग' अथवा ' संन्यास ' कहते हैं। इसी सिद्धांत का इस श्लोक में समर्थन किया गया है। इस प्रकार त्याग और संन्यास के अर्थों का स्पष्टीकरण हो चुका। अब इसी तत्त्व के अनुसार बतलाते हैं,कि वास्तविक त्यागी और संन्यासी कौन है—]

(१०) जो किसी अकुशल अर्थात् अकल्याण-कारक कर्म का द्वेष नहीं करता, तथा कल्याण-कारक अथवा हितकारी कर्म में अनुषक्त नहीं होता,उसे सत्त्वशील, बुद्धिमान् और सन्देह-विरहित त्यागी अर्थात् संन्यासी कहना चाहिये।(११) जो देहधारी है, उससे कर्मों का निःशेष त्याग होना सम्भव नहीं है; अतएव जिसने (कर्म न छोड़ कर) केवल कर्मफलों का त्याग किया हो, वही (सच्चा) त्यागी अर्थात् संन्यासी है।

[अब यह बतलाते हैं कि उक्त प्रकार से अर्थात् कर्म न छोड़ कर केवल

§§ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥
§§ पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
§§ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

फलाशा छोड़ करके जो त्यागी हुआ हो उसे उसके कर्म के कोई भी फल बन्धक नहीं होते—]

(१२) मृत्यु के अनन्तर अत्यागी मनुष्य को अर्थात् फलाशा का त्याग न करनेवाले को तीन प्रकार के फल मिलते हैं; अनिष्ट, इष्ट और (कुछ इष्ट और कुछ अनिष्ट मिला हुआ) मिश्र। परन्तु संन्यासी को अर्थात् फलाशा छोड़ कर कर्म करनेवाले को (ये फल) नहीं मिलते, अर्थात् बाधा नहीं कर सकते।

[त्याग, त्यागी और संन्यासी-सम्बन्धी उक्त विचार पहले (गी. ३.४–७; ५. २–१०; ६.१) कई स्थानों में आ चुके हैं, उन्हीं का यहाँ उपसंहार किया गया है। समस्त कर्मों का संन्यास गीता को भी इष्ट नहीं है। फलाशा का त्याग करनेवाला पुरुष ही गीता के अनुसार सच्चा अर्थात् नित्य-संन्यासी है (गी.५.३)। ममतायुक्त फलाशा का अर्थात् अहङ्कारबुद्धि का त्याग ही सच्चा त्याग है। इसी सिद्धान्त को दृढ करने के लिये अब और कारण दिखलाते हैं—]

(१३) हे महाबाहु। कोई भी कर्म होने के लिये सांख्यों के सिद्धान्त में पाँच कारण कहे गये हैं; उन्हें मैं बतलाता हूँ, सुन। (१४) अधिष्ठान (स्थान) तथा कर्ता, भिन्न-भिन्न करण यानी साधन, (कर्त्ता की) अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ अर्थात् व्यापार, और उसके साथ ही साथ पाँचवाँ (कारण) दैव है। (१५) शरीर से, वाणी से, अथवा मन से मनुष्य जो जो कर्म करता है—फिर चाहे वह न्याय्य हो या विपरीत अर्थात् अन्याय्य—उसके उक्त पाँच कारण हैं।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वा स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबद्ध्यते ॥ १७ ॥

(१६) वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे, कि मैं ही अकेला कर्त्ता हूँ (समझना चाहिये कि), वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता। (१७) जिसे यह भावना ही नहीं है कि 'मैं कर्त्ता हूँ,' तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है, वह यदि इन लोगों को मार डाले तथापि (समझना चाहिये कि) उसने किसी को नहीं मारा और यह (कर्म) उसे बन्धक भी नहीं होता।

[कई टीकाकारों ने तेरहवें श्लोक के 'सांख्य' शब्द का अर्थ वेदान्तशास्त्र किया है। परन्तु अगला अर्थात् चौदहवाँ श्लोक नारायणीयधर्म (मभा. शां. ३४७.८७) में अक्षरशः आया है, और वहाँ उसके पूर्व कापिल सांख्य के तत्त्व—प्रकृति और पुरुष—का उल्लेख है। अतः हमारा यह मत है, कि 'सांख्य' शब्द से इस स्थान में कापिल सांख्यशास्त्र ही अभिप्रेत है। पहले गीता में यह सिद्धान्त अनेक बार कहा गया है, कि मनुष्य को न तो कर्मफल की आशा करनी चाहिये और न ऐसी अहङ्कारबुद्धि मन में रखनी चाहिये कि मैं अमुक करूँगा (गी. २. १९; २. ४७; ३. २८; ५. ८-११; १३. २९)। यहाँ पर वही सिद्धान्त यह कह कर दृढ़ किया गया है कि "कर्म का फल होने के लिये मनुष्य ही अकेला कारण नहीं है" (देखो गीतार. प्र. ११)। चौदहवें श्लोक का अर्थ यह है, कि मनुष्य इस जगत् में हो या न हो, प्रकृति के स्वभाव के अनुसार जगत् का अखण्डित व्यापार चलता ही रहता है, और जिस कर्म को मनुष्य अपनी करतूत समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है, वरन् उसके यत्न और संसार के अन्य व्यापारों अथवा चेष्टाओं की सहायता का परिणाम है। जैसे कि खेती केवल मनुष्य के ही यत्न पर निर्भर नहीं है, उसकी सफलता के लिये धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदि के गुण-धर्म अथवा व्यापारों की सहायता आवश्यक होती है; इसी प्रकार, मनुष्य के प्रयत्न की सिद्धि होने के लिये जगत् के जिन विविध व्यापारों की सहायता आवश्यक है उनमें से कुछ व्यापारों को जान कर, उनकी अनुकूलता पा कर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सृष्टि के और भी कई व्यापार हैं, कि जिनका हमें ज्ञान नहीं है। इसी को दैव कहते हैं, और कर्म

§§ ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

की घटना का यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिये जब इतनी सब बातों की आवश्यकता है, तथा जब उनमें से कई या तो हमारे वश की नहीं या हमें ज्ञात भी नहीं रहतीं, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है, कि मनुष्य का ऐसा अभिमान रखना निरी मूर्खता है कि मैं अमुक काम करूँगा, अथवा ऐसी फलाशा रखना भी मूर्खता का लक्षण है कि मेरे कर्म का फल अमुक ही होना चाहिये (देखो गीतार. पृ. ३२६–३२७)। तथापि सत्रहवें श्लोक का अर्थ यों भी न समझ लेना चाहिये, कि जिसकी फलाशा छूट जाय, वह चाहे जो कुकर्म कर सकता है। साधारण मनुष्य जो कुछ करते हैं, वह स्वार्थ के लोभ से करते हैं, इसलिये उनका बर्ताव अनुचित हुआ करता है। परन्तु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है, अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गई है, और जिसे प्राणिमात्र समान ही हो गये हैं, उससे किसी का भी अनहित नहीं हो सकता। कारण यह है, कि दोष बुद्धि में रहता है, न कि कर्म में। अतएव जिसकी बुद्धि पहले से शुद्ध और पवित्र हो गई हो, उसका किया हुआ कोई कर्म यद्यपि लौकिक दृष्टि से विपरीत भले ही दिखलाई दे, तो भी न्यायतः कहना पड़ता है, कि उसका बीज शुद्ध ही होगा; फलतः उस काम के लिये फिर उस शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य को जवाबदार न समझना चाहिये। सत्रहवें श्लोक का यही तात्पर्य है। स्थितप्रज्ञ, अर्थात् शुद्ध बुद्धिवाले, मनुष्य की निष्पापता के इस तत्त्व का वर्णन उपनिषदों में भी है (कौषी. ३. १ और पञ्चदशी. १४. १६ और १७ देखो)। गीतारहस्य के बारहवें प्रकरण (पृ. ३७०—३७४) में इस विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है, इसलिये यहाँ पर उससे अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न करने पर संन्यास और त्याग शब्दों के अर्थ की मीमांसा द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि स्वधर्मानुसार जो कर्म प्राप्त होते जायँ, उन्हें अहङ्कारबुद्धि और फलाशा छोड़ कर करते रहना ही सात्त्विक अथवा सच्चा त्याग है, कर्मों को छोड़ बैठना सच्चा त्याग नहीं है। अब सत्रहवें अध्याय में कर्म के सात्त्विक आदि भेदों का जो विचार आरम्भ किया गया था, उसी को यहाँ कर्मयोग की दृष्टि से पूरा करते हैं।]

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

§§ सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

(१८) कर्मचोदना तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; तथा कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है—करण, कर्म और कर्ता। (१९) गुणसंख्यानशास्त्र में अर्थात् कापिलसांख्यशास्त्र में कहा है, कि ज्ञान, कर्म और कर्त्ता (प्रत्येक सत्त्व, रज और तम, इन तीन) गुणों के भेदों से तीन प्रकार के हैं। उन (प्रकारों) को ज्यों के त्यों (तुझे बतलाता हूँ) सुन।

[कर्मचोदना और कर्मसंग्रह पारिभाषिक शब्द हैं। इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व, मन से उसका निश्चय करना पड़ता है। अतएव इस मानसिक विचार को 'कर्मचोदना' अर्थात् कर्म करने की प्राथमिक प्रेरणा कहते हैं। और, वह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता के रूप से तीन प्रकार की होती है। एक उदाहरण लीजिये,—प्रत्यक्ष घड़ा बनाने के पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन से निश्चय करता है, कि मुझे अमुक बात (ज्ञेय) करनी है, और वह अमुक रीति से (ज्ञान) होगी। यह क्रिया कर्मचोदना हुई। इस प्रकार मन का निश्चय हो जाने पर वह कुम्हार (कर्त्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन (करण) इकट्ठे कर प्रत्यक्ष घड़ा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्मसंग्रह हुआ। कुम्हार का कर्म घट है तो सही; पर उसी को मिट्टी का कार्य भी कहते हैं। इससे मालूम होगा, कि कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है और कर्मसंग्रह शब्द से उसी मानसिक क्रिया की जोड़ की बाह्यक्रियाओं का बोध होता है। किसी भी कर्म का पूर्ण विचार करना हो, तो 'चोदना' और 'संग्रह' दोनों का विचार करना चाहिये। इनमें से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) के लक्षण प्रथम ही तेरहवें अध्याय (१३.१८) में अध्यात्म दृष्टि से बतला आये हैं। परन्तु क्रियारूपी ज्ञान का लक्षण कुछ पृथक् होने के कारण अब इस त्रयी में से ज्ञान की, और दूसरी त्रयी में से कर्म एवं कर्त्ता की व्याख्याएँ दी जाती हैं—]

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

(२०) जिस ज्ञान से यह मालूम होता है, कि विभक्त अर्थात् भिन्न भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है उसे सात्त्विक ज्ञान जानो। (२१) जिस ज्ञान से पृथक्त्व का बोध होता है, कि समस्त प्राणिमात्र में भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक भाव हैं, उसे राजस ज्ञान समझो। (२२) परन्तु जो निष्कारण और तत्त्वार्थ को बिना जाने बूझे एक ही बात में यह समझ कर आसक्त रहता है, कि यही सब कुछ है, वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है।

[भिन्न भिन्न ज्ञानों के लक्षण बहुत व्यापक हैं। अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है। इससे कुछ ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने से दृष्टि अधिक व्यापक होती जाती है और अपने गाँव का अथवा देश का मनुष्य भी अपना सा जँचने लगता है, तो भी यह बुद्धि बनी ही रहती है, कि भिन्न भिन्न गाँवों अथवा देशों के लोग भिन्न भिन्न हैं। यही ज्ञान राजस कहलाता है। परन्तु इससे भी ऊँचे जाकर प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को पहचानना पूर्ण और सात्त्विक ज्ञान है। सार यह हुआ कि 'विभक्त में अविभक्त' अथवा 'अनेकता में एकता' को पहचानना ही ज्ञान का सच्चा लक्षण है। और, बृहदारण्यक एवं कठोपनिषदों के वर्णनानुसार जो यह पहचान लेता है, कि इस जगत् में नानात्व नहीं है—"नेह नानास्ति किंचन," वह मुक्त हो जाता है; परन्तु जो इस जगत् में अनेकता देखता है, वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ. ४. ४. १९; कठ ४. ११)। इस जगत् में जो कुछ ज्ञान प्राप्त करना है, वह यही है (गी. १३. १६), और ज्ञान की यही परम सीमा है; क्योंकि सभी के एक हो जाने पर फिर एकीकरण की ज्ञान-क्रिया को आगे बढ़ने के लिये स्थान ही नहीं रहता (देखो गीतार. पृ. २३२-२३३)। एकीकरण करने की इस ज्ञान-क्रिया का निरूपण गीतारहस्य के नवें प्रकरण (पृ. २१५-२१६) में किया गया है।

§§ नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

[जब यह सात्त्विक ज्ञान मन में भली भाँति प्रतिबिम्बित हो जाता है, तब मनुष्य के देह-स्वभाव पर उसके कुछ परिणाम होते हैं। इन्हीं परिणामों का वर्णन दैवी-सम्पत्ति गुणवर्णन के नाम से सोलहवें अध्याय के आरम्भ में किया गया है। और, तेरहवें अध्याय (१३.७–११) में ऐसे देह-स्वभाव का नाम ही 'ज्ञान' बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि 'ज्ञान' शब्द से (१) एकीकरण की मानसिक क्रिया की पूर्णता, तथा (२) उस पूर्णता का देह-स्वभाव पर होनेवाला परिणाम,— ये दोनों अर्थ गीता में विवक्षित हैं। अतः बीसवें श्लोक में वर्णित ज्ञान का लक्षण यद्यपि बाह्यतः मानसिक क्रियात्मक दिखाई देता है, तथापि उसी में इस ज्ञान के कारण देह-स्वभाव पर होनेवाले परिणाम का भी समावेश करना चाहिये। यह बात गीतारहस्य के नवें प्रकरण के अन्त (पृ. २४७–२४८) में स्पष्ट कर दी गई है। अस्तु; ज्ञान के भेद हो चुके। अब कर्म के भेद बतलाये जाते हैं—]

(२३) फल-प्राप्ति की इच्छा न करनेवाला मनुष्य, (मन में) न तो प्रेम और न द्वेष रख कर,बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) जो नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म करता हैं,उस (कर्म) को सात्त्विक कहते हैं। (२४) परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखनेवाला अथवा अहङ्कार-बुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे राजस कहते हैं। (२५) तामस कर्म वह है कि जो मोह से, बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है,कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपना सामर्थ्य कितना है और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।

[इन तीन भाँति के कर्मों में सभी प्रकार के कर्मों का समावेश हो जाता है। निष्काम कर्म को ही सात्त्विक अथवा उत्तम क्यों कहा है, इसका विवेचन गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में किया गया है, उसे देखो; और अकर्म भी

§§ मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥
§§ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।

सचमुच यही है (गीता. ४.१६ पर हमारी टिप्पणी देखो)। गीता का सिद्धान्त है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, अतः कर्म के उक्त लक्षणों का वर्णन करते समय बार बार कर्त्ता की बुद्धि का उल्लेख किया गया है। स्मरण रहे, कि कर्म का सात्त्विकपन या तामसपन केवल उसके बाह्य परिणाम से निश्चित नहीं किया गया है (देखो गीतार. पृ.३८०–३८१)। इसी प्रकार २५ वें श्लोक से यह भी सिद्ध है, कि फलाशा के छूट जाने पर यह न समझना चाहिये, कि अगला-पिछला या सारासार विचार किये बिना ही मनुष्य को चाहे जो कर्म करने की छुटी हो गई। क्योंकि २५वें श्लोक में यह निश्चय किया है, कि अनुबन्धक और फल का विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है वह तामस है, न कि सात्त्विक (गीतार. पृ. ३८०, ३८१ देखो) [अब इसी तत्त्व के अनुसार कर्त्ता के भेद बतलाते हैं—]

(२६) जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' और 'मेरा' नहीं कहता, कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकार-रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है, उसे सात्त्विक (कर्त्ता) कहते हैं। (२७) विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्त्ता राजस कहलाता है। (२८) अयुक्त अर्थात् चञ्चल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग, नैष्कृतिक यानी दूसरों की हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्न-चित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् देरी लगानेवाला या घड़ी भर के काम को महीने भर में करनेवाला कर्त्ता तामस कहलाता है।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

[२८वें श्लोक में नैष्कृतिक (निस्+कृत्=छेदन करना, काटना) शब्द का अर्थ दूसरों के काम छेदन करनेवाला अथवा नाश करनेवाला है। परन्तु इसके बदले कई लोग 'नैकृतिक' पाठ मानते हैं। अमरकोश में 'निकृत' का अर्थ शठ लिखा हुआ है। परन्तु इस श्लोक में शठ विशेषण पहले आ चुका है, इसलिये हमने नैष्कृतिक पाठ को स्वीकार किया है। इन तीन प्रकार के कर्त्ताओं में से सात्त्विक कर्त्ता ही अकर्त्ता, अलिप्त-कर्त्ता, अथवा कर्मयोगी है। ऊपरवाले श्लोक से प्रगट है कि फलाशा छोड़ने पर भी कर्म करने की आशा, उत्साह और सारासार-विचार उस कर्मयोगी में बना ही रहता है। जगत् के त्रिविध विस्तार का यह वर्णन ही अब बुद्धि, धृति और सुख के विषय में भी किया जाता है। इन श्लोकों में बुद्धि का अर्थ वही व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा निश्चय करने-वाली इन्द्रिय अभीष्ट है, कि जिसका वर्णन दूसरे अध्याय (२. ४१) में हो चुका है। इसका स्पष्टीकरण गीतारहस्य के छठे प्रकरण पृ. १३८–१४१ में किया गया है।]

(२९) हे धनञ्जय! बुद्धि और धृति के भी गुणों के अनुसार जो तीन प्रकार के भिन्न भिन्न भेद होते हैं, इन सब को तुझसे कहता हूँ; सुन। (३०) हे पार्थ जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है, एवं यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिये और किससे नहीं, किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष, वह बुद्धि सात्त्विक है।(३१) हे पार्थ! वह बुद्धि राजसी है, कि जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता।(३२) हे पार्थ! वह बुद्धि तामसी है, कि जो तम से

§§ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है।

[इस प्रकार बुद्धि के विभाग करने पर सदसद्विवेक-बुद्धि कोई स्वतन्त्र देवता नहीं रह जाती, किन्तु सात्त्विक बुद्धि में ही उसका समावेश हो जाता है। यह विवेचन गीतारहस्य के पृष्ठ १४१ में किया गया है। बुद्धि के विभाग हो चुके; अब धृति के विभाग बतलाते हैं—]

(३३) हे पार्थ जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगनेवाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्मफल-त्यागरूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है, वह धृति सात्त्विक है। (३४) हे अर्जुन! प्रसङ्गानुसार फल की इच्छा रखनेवाला पुरुष जिस धृति से अपने धर्म, काम और अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध कर लेता है, वह धृति राजस है। (३५) हे पार्थ! जिस धृति से मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता, वह धृति तामस है।

['धृति' शब्द का अर्थ धैर्य है; परन्तु यहाँ पर शारीरिक धैर्य से अभिप्राय नहीं है। इस प्रकरण में धृति शब्द का अर्थ मन का दृढ़ निश्चय है। निर्णय करना बुद्धि का काम है सही; परन्तु इस बात की भी आवश्यकता है, कि बुद्धि जो योग्य निर्णय करे, वह सदैव स्थिर रहे। बुद्धि के निर्णय को ऐसा स्थिर या दृढ़ करना मन का धर्म है, अतएव कहना चाहिये कि धृति अथवा मानसिक धैर्य का गुण मन और बुद्धि दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है। परन्तु इतना ही कह देने से सात्त्विक धृति का लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता, कि अव्यभिचारी अर्थात् इधर उधर विचलित न होनेवाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करना चाहिये। बल्कि यह भी बतलाना चाहिये, कि ये व्यापार किस वस्तु पर होते हैं अथवा इन व्यापारों का कर्म क्या है। वह 'कर्म'-योग शब्द से सूचित किया गया है। अतः 'योग' शब्द का अर्थ केवल 'एकाग्र'

§§ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

चित्त कर देने से काम नहीं चलता । इसी लिये हमने इस शब्द का अर्थ, पूर्वापर सन्दर्भ के अनुसार, कर्मफल-त्यागरूपी योग किया है । सात्त्विक कर्म के और सात्त्विक कर्त्ता आदि के लक्षण बतलाते समय जैसे 'फल की आसक्ति छोड़ने' को प्रधान गुण माना है, वैसे ही सात्त्विक धृति का लक्षण बतलाने में भी उसी गुण को प्रधान मानना चाहिये। इसके सिवा अगले ही श्लोक में यह वर्णन है, कि राजस धृति फलाकाङ्क्षी होती है, अतः इस श्लोक से भी सिद्ध होता है, कि सात्त्विक धृति, राजस धृति के विपरीत, अफलाकाङ्क्षी होनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि,निश्चय की दृढ़ता तो निरी मानसिक क्रिया है, उसके भली या बुरी होने का विचार करने के अर्थ यह देखना चाहिये, कि जिस कार्य के लिये उस क्रिया का उपयोग किया जाता है, वह कार्य कैसा है । नींद और आलस्य आदि कामों में ही दृढ़ निश्चय किया गया हो तो वह तामस है;फलाशा-पूर्वक नित्यव्यवहार के काम करने में लगाया गया हो तो राजस है;और फलाशा-त्यागरूपी योग में वह दृढ़ निश्चय किया गया हो तो सात्त्विक है । इस प्रकार ये धृति के भेद हुए; अब बतलाते हैं, कि गुण-भेदानुसार सुख के तीन प्रकार कैसे होते हैं—]

(३६)अब हे भरतश्रेष्ठ! मैं सुख के भी तीन भेद बतलाता हूँ;सुन। अभ्यास से अर्थात् निरन्तर परिचय से (मनुष्य) जिसमें रम जाता है और जहाँ दुःख का अन्त होता है, (३७) जो आरम्भ में (तो) विष के समान जान पड़ता है,परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ-बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्त्विक कहते हैं । (३८) इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होनेवाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है कि जो पहले तो अमृत के समान है पर अन्त में विष सा रहता है ।

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
§§ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

(३९) और जो आरम्भ में एवं अनुबन्ध अर्थात् परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फँसाता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस सुख कहते हैं।

[३७ वें श्लोक में आत्मबुद्धि का अर्थ हमने 'आत्मनिष्ठ बुद्धि' किया है। परन्तु 'आत्म' का अर्थ 'अपना' करके उसी पद का अर्थ 'अपनी बुद्धि' भी हो सकेगा। क्योंकि पहले (६.२१) कहा गया है, कि अत्यन्त सुख केवल 'बुद्धि से ही ग्राह्य' और 'अतीन्द्रिय' होता है। परन्तु अर्थ कोई भी क्यों न किया जायँ, तात्पर्य एक ही है। कहा तो है कि सच्चा और नित्य सुख इन्द्रियोपभोग में नहीं है, किन्तु वह केवल बुद्धिग्राह्य है; परन्तु जब विचार करते हैं, कि बुद्धि को सच्चा और अत्यन्त सुख प्राप्त होने के लिये क्या करना पड़ता है, तब गीता के छठे अध्याय से (६. २१,२२) प्रगट होता है, कि यह परमावधि का सुख आत्मनिष्ठ बुद्धि हुए बिना प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धि' एक ऐसी इन्द्रिय है कि वह एक ओर से त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार की ओर देखती है, और दूसरी ओर से उसको आत्मस्वरूपी परब्रह्म का भी बोध हो सकता है, कि जो इस प्रकृति के विस्तार के मूल में अर्थात् प्राणिमात्र में समानता से व्याप्त है। तात्पर्य यह है, कि इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा बुद्धि को त्रिगुणात्मक प्रकृति के विस्तार से हटा कर जहाँ अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ किया—और पातञ्जलयोग के द्वारा साधनीय विषय यही है—तहाँ वह बुद्धि प्रसन्न हो जाती है और मनुष्य को सत्य एवं अत्यंत सुख का अनुभव होने लगता है। गीतारहस्य के ५ वें प्रकरण (पृ. ११९–११७) में आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता का विवरण किया जा चुका है। अब सामान्यतः यह बतलाते हैं, कि जगत् में उक्त त्रिविध भेद ही भरा पड़ा है—]

(४०) इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में अर्थात् देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं, कि जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

§§ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

[अठारहवें श्लोक से यहाँ तक ज्ञान,कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति,और सुख के भेद बतला कर अर्जुन की आँखों के सामने इस बात का एक चित्र रख दिया है,कि सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति के गुण-भेद से विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है; तथा फिर यह प्रतिपादन किया है,कि इन सब भेदों में सात्त्विक भेद श्रेष्ठ और ग्राह्य है। इन सात्त्विक भेदों में भी जो सब से श्रेष्ठ स्थिति है उसी को गीता में त्रिगुणातीत अवस्था कहा है। गीतारहस्य के सातवें प्रकरण (पृ. १६७–१६८) में हम कह चुके हैं, कि त्रिगुणातीत अथवा निर्गुण अवस्था गीता के अनुसार कोई स्वतन्त्र या चौथा भेद नहीं है । इसी न्याय के अनुसार मनुस्मृति में भी सात्त्विक गति के ही उत्तम,मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद करके कहा गया है, कि उत्तम सात्त्विक गति मोक्षप्रद है और मध्यम सात्त्विक गति स्वर्गप्रद है (मनु. १२. ४८–५० और ८९–९१ देखो)। जगत् में जो प्रकृति है उसकी विचित्रता का यहाँ तक वर्णन किया गया । अब इस गुण-विभाग से ही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है । यह बात पहले कई बार कही जा चुकी है कि (देखो गी. १८. ७–९; और ३. ८) स्वधर्मानुसार प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना 'नियत' अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म फलाशा छोड़ कर, परन्तु धृति,उत्साह और सारासार विचार के साथ साथ, करते जाना ही संसार में उसका कर्त्तव्य है । परन्तु जिस बात से कर्म 'नियत' होता है, उसका बीज अब तक कहीं भी नहीं बतलाया गया । पीछे एक बार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का कुछ थोड़ा सा उल्लेख कर (गी. ४.१३) कहा गया है, कि कर्त्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय शास्त्र के अनुसार करना चाहिये (गी.१६. २४)। परन्तु जगत् के व्यवहार को किसी नियमानुसार जारी रखने के हेतु (देखो गीतार. पृ. ३३४,३३७ और ४९५–४९६) जिस गुण-कर्मविभाग के तत्त्व पर चातुर्वर्ण्य-रूपी शास्त्रव्यवस्था निर्मित की गई है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उस स्थान में नहीं किया गया । अतएव जिस संस्था से समाज में हर एक मनुष्य का कर्त्तव्य नियत होता है, अर्थात् स्थिर किया जाता है, उस चातुर्वर्ण्य की, गुणत्रय-विभाग के अनुसार, उपपत्ति के साथ ही साथ अब प्रत्येक वर्ण के नियत किये हुए कर्त्तव्य भी कहे जाते हैं—]

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

(४१) हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावजन्य अर्थात् प्रकृति-सिद्ध गुणों के अनुसार पृथक् पृथक् बँटे हुए हैं। (४२) ब्राह्मण का स्वभावजन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानी विविध ज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि है। (४३) शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) हुकमत करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। (४४) कृषि अर्थात् खेती, गोरक्षा यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभावजन्य कर्म है। और, इसी प्रकार, सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

[चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था स्वभावजन्य गुण-भेद से निर्मित हुई है; यह न समझा जाय, कि यह उपपत्ति पहले पहल गीता में ही बतलाई गई है। किन्तु महाभारत के वनपर्वान्तर्गत नहुष-युधिष्ठिर-संवाद में और द्विज-व्याध संवाद (वन. १८० और २११) में, शान्तिपर्व के भृगु-भारद्वाज-संवाद (शां. १८८) में, अनुशासनपर्व के उमा-महेश्वर-संवाद (अनु. १४३) में, और अश्वमेधपर्व (३९.११) की अनुगीता में गुण-भेद की यही उपपत्ति कुछ अन्तर से पाई जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है, कि जगत् के विविध व्यवहार प्रकृति के गुण-भेद से हो रहे हैं; फिर सिद्ध किया गया है कि मनुष्य का यह कर्त्तव्यकर्म, कि किसे क्या करना चाहिये, जिस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से नियत किया जाता है, वह व्यवस्था भी प्रकृति के गुणभेद का परिणाम है। अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि उक्त कर्म हरएक मनुष्य को निष्काम बुद्धि से अर्थात् परमेश्वरार्पण बुद्धि से करना चाहिये, अन्यथा जगत् का कारबार नहीं चल सकता; तथा मनुष्य के आचरण से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सिद्धि पाने के लिये और कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है—]

§§ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥
§§ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७॥

(४५) अपने अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों में नित्य रत (रहनेवाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। सुनो, अपने कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसे मिलती है। (४६) प्राणिमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है, और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले) कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

[इस प्रकार प्रतिपादन किया गया, कि चातुर्वर्ण्य के अनुसार प्राप्त होनेवाले कर्मों को निष्काम-बुद्धि से अथवा परमेश्वरार्पण-बुद्धि से करना विराट्-स्वरूपी परमेश्वर का एक प्रकार का यजन-पूजन ही है, तथा इसी से सिद्धि मिल जाती है (गीतार. पृ. ४३६-४३७)। अब उक्त गुण-भेदानुसार स्वभावतः प्राप्त होनेवाला कर्त्तव्य किसी दूसरी दृष्टि से सदोष, अश्लाघ्य, कठिन अथवा अप्रिय भी हो सकता है; उदाहरणार्थ, इस अवसर पर क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्ध करने में हत्या होने के कारण वह सदोष दिखाई देगा। तो ऐसे समय पर मनुष्य को क्या करना चाहिये ? क्या वह स्वधर्म को छोड़ कर, अन्य धर्म स्वीकार कर ले (गी.३. ३५); या कुछ भी हो, स्वकर्म को ही करता जावे; यदि स्वकर्म ही करना चाहिये तो कैसे करे—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर उसी न्याय के अनुरोध से बतलाया जाता है, कि जो इस अध्याय में प्रथम (१८. ६) यज्ञ-याग आदि कर्मों के सम्बन्ध में कहा गया है—]

(४७) यद्यपि परधर्म का आचरण सहज हो, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य विहित कर्म, विगुण यानी सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक है। स्वाभावसिद्ध अर्थात् गुण-स्वभावानुसार निर्मित की हुई चातुर्वर्ण्यव्यवस्था द्वारा नियत किया हुआ अपना कर्म करने में कोई पाप नहीं

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

लगता। (४८) हे कौन्तेय! जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्म से ही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे (कभी) न छोड़ना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे कि धुएँ से आग घिरी रहती है। (४९) अतएव कहीं भी आसक्ति न रख कर, मन को वश में करके निष्काम बुद्धि से चलने पर (कर्म-फल के) संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त हो जाती है।

[इस उपसंहारात्मक अध्याय में पहले बतलाये हुए उन्हीं विचारों को अब फिर से व्यक्त कर दिखलाया है कि, पराये धर्म की अपेक्षा स्वधर्म भला है (गी. ३. ३५) और नैष्कर्म्य-सिद्धि पाने के लिये कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं है (गी.३.४) इत्यादि। हम गीता के तीसरे अध्याय में,चौथे श्लोक की टिप्पणी में ऐसे प्रश्नों का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि,नैष्कर्म्य क्या वस्तु है और सच्ची नैष्कर्म्य-सिद्धि किसे कहना चाहिये। उक्त सिद्धान्त की महत्ता इस बात पर ध्यान दिये रहने से सहज ही समझ में आजावेगी कि, संन्यासमार्गवालों की दृष्टि केवल मोक्ष पर ही रहती है और भगवान् की दृष्टि मोक्ष एवं लोक-संग्रह दोनों पर समान ही है। लोकसंग्रह के लिये अर्थात् समाज के धारण और पोषण के निमित्त ज्ञान-विज्ञानयुक्त पुरुष, अथवा रण में तलवार का जौहर दिखलानेवाले शूर क्षत्रिय, तथा किसान, वैश्य, रोजगारी, लुहार, बढ़ई, कुम्हार और मांसविक्रेता व्याध तक की भी आवश्यकता है। परन्तु यदि कर्म छोड़े बिना सचमुच मोक्ष नहीं मिलता, तो सब लोगों को अपना अपना व्यवसाय छोड़ कर संन्यासी बन जाना चाहिये! कर्म-संन्यासमार्ग के लोग इस बात की ऐसी कुछ परवा नहीं करते। परन्तु गीता की दृष्टि इतनी संकुचित नहीं है, इसलिये गीता कहती है, कि अपने अधिकार के अनुसार प्राप्त हुए व्यवसाय को छोड़ कर, दूसरे के व्यवसाय को भला समझ करके करने लगना उचित नहीं है। कोई भी व्यवसाय लीजिये, उसमें कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रहती ही है। जैसे ब्राह्मण के लिये विशेषतः विहित जो क्षान्ति है (गी. १८.४२),

§§ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

उसमें भी एक बड़ा दोष यह है कि 'क्षमावान् पुरुष दुर्बल समझा जाता है' (मभा. शां. १६०.३४); और व्याध के पेशे में मांस बेचना भी एक झंझट ही है (मभा. वन.२०६)। परन्तु इन कठिनाइयों से उकता कर कर्म को ही छोड़ बैठना उचित नहीं है। किसी भी कारण से क्यों न हो,जब एक बार किसी कर्म को अपना लिया, तो फिर उसकी कठिनाई या अप्रियता की परवा न करके,उसे आसक्ति छोड़ कर करना ही चाहिये। क्योंकि, मनुष्य की लघुता-महत्ता उसके व्यवसाय पर निर्भर नहीं है, किन्तु जिस बुद्धि से वह अपना व्यवसाय या कर्म करता है उसी बुद्धि पर उसकी योग्यता अध्यात्म-दृष्टि से अवलम्बित रहती है (गी. २. ४९)। जिसका मन शान्त है, और जिसने सब प्राणियों के अन्तर्गत एकता को पहचान लिया है, वह मनुष्य जाति या व्यवसाय से चाहे व्यापारी हो, चाहे कसाई; निष्काम बुद्धि से व्यवसाय करनेवाला वह मनुष्य स्नान-सन्ध्याशील ब्राह्मण, अथवा शूर क्षत्रिय की बराबरी का माननीय और मोक्ष का अधिकारी है। यही नहीं, वरन् ४९ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है, कि कर्म छोड़ने से जो सिद्धि प्राप्त की जाती है, वही निष्काम बुद्धि से अपना अपना व्यवसाय करनेवालों को भी मिलती है। भागवतधर्म का जो कुछ रहस्य है,वह यही है; तथा महाराष्ट्र देश के साधु-सन्तों के इतिहास से स्पष्ट होता है, कि उक्त रीति से आचरण करके निष्काम-बुद्धि के तत्त्व को अमल में लाना कुछ असम्भव नहीं है (देखो गीतार. पृ. ४३८)। अब बतलाते हैं, कि अपने अपने कर्मों में तत्पर रहने से ही अन्त में मोक्ष कैसे प्राप्त होता है—]

(५०) हे कौन्तेय! (इस प्रकार) सिद्धि प्राप्त होने पर (उस पुरुष को) ज्ञान की परम निष्ठा—ब्रह्म—जिस रीति प्राप्त होती है, उसका मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ; सुन। (५१) शुद्ध बुद्धि से युक्त हो करके, धैर्य से आत्म-संयमन कर, शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को छोड़ करके और प्रीति एवं द्वेष को दूर कर,

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

(५२) 'विविक्त' अर्थात् चुने हुए अथवा एकान्त स्थल में रहनेवाला, मिताहारी, काया-वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त, (५३) तथा अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह अर्थात् पाश को छोड़ कर शान्त एवं ममता से रहित मनुष्य ब्रह्मभूत होने के लिये समर्थ होता है। (५४) ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्नचित्त हो कर वह न तो किसी की आकांक्षा ही करता है, और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। (५५) भक्ति से उसको मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार मेरी तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है; (५६) और मेरा ही आश्रय कर, सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है।

[ध्यान रहे कि सिद्धावस्था का उक्त वर्णन कर्मयोगियों का है—कर्मसंन्यास करनेवाले पुरुषों का नहीं है। आरम्भ में ही ४५ वें और ४९ वें श्लोक में कहा है, कि उक्त वर्णन आसक्ति छोड़ कर कर्म करनेवालों का है, तथा अन्त के ५६ वें श्लोक में "सब कर्म करते रहने पर भी" शब्द आये हैं। उक्त वर्णन भक्तों के अथवा त्रिगुणातीतों के वर्णन के ही समान है; यहाँ तक कि, कुछ शब्द भी उसी वर्णन से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, ५३ वें श्लोक का 'परिग्रह' शब्द छठवें अध्याय (६. १०) में योगी के वर्णन में आया है; ५४ वें श्लोक का "न शोचति न कांक्षति" पद बारहवें अध्याय (१२. १७) में भक्तिमार्ग के वर्णन में है; और विविक्त (अर्थात् चुने हुए, एकान्त स्थल में रहना) शब्द १३ वें

§§ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

अध्याय के १० वें श्लोक में आ चुका है । कर्मयोगी को प्राप्त होनेवाली उपयुक्त अन्तिम स्थिति और कर्म-संन्यासमार्ग से प्राप्त होनेवाली अन्तिम स्थिति दोनों केवल मानसिक दृष्टि से एक ही हैं;इसी से संन्यासमार्गीय टीकाकारों को यह कहने का अवसर मिल गया है,कि उक्त वर्णन हमारे ही मार्ग का है। परन्तु हम कई बार कह चुके हैं, कि यह सच्चा अर्थ नहीं है । अस्तु; इस अध्याय के आरम्भ में प्रतिपादन किया गया है,कि संन्यास का अर्थ कर्म-त्याग नहीं है,किन्तु फलाशा के त्याग को ही संन्यास कहते हैं। जब संन्यास शब्द का इस प्रकार अर्थ हो चुका,तब यह सिद्ध है कि यज्ञ,दान आदि कर्म चाहे काम्य हों,चाहे नित्य हों या नैमित्तिक,उनको अन्य सब कर्मों के समान ही फलाशा छोड़ कर उत्साह और समता से करते जाना चाहिये । तदनन्तर संसार के कर्म, कर्त्ता,बुद्धि आदि सम्पूर्ण विषयों की गुण-भेद से अनेकता दिखला कर, उनमें सात्त्विक को श्रेष्ठ कहा है;और गीताशास्त्र का इत्यर्थ यह बतलाया है,कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के द्वारा स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले समस्त कर्मों को आसक्ति छोड़ कर करते जाना ही परमेश्वर का यजन-पूजन करना है;एवं क्रमशः इसी से अन्त में परब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है—मोक्ष के लिये कोई दूसरा अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं है अथवा कर्मत्यागरूपी संन्यास लेने की भी ज़रूरत नहीं है; केवल इस कर्मयोग से ही मोक्ष-सहित सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अब इसी कर्मयोगमार्ग को स्वीकार कर लेने के लिये अर्जुन को फिर एक बार अन्तिम उपदेश करते हैं—]

(५७)मन से सब कर्मों को मुझमें 'संन्यस्य' अर्थात् समर्पित करके मत्परायण होता हुआ (साम्य) बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा मुझमें चित्त रख ।

[बुद्धियोग शब्द दूसरे ही अध्याय (२.४६) में आचुका है,और वहाँ उसका अर्थ फलाशा में बुद्धि न रख कर कर्म करने की युक्ति अथवा समत्वबुद्धि है। यही अर्थ यहाँ भी विवक्षित है । दूसरे अध्याय में जो यह कहा था,कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है,उसी सिद्धान्त का यह उपसंहार है। इसी में कर्मसंन्यास का अर्थ भी इन शब्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है कि "मन से (अर्थात् कर्म का

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥
§§ यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

प्रत्यक्ष त्याग न करके, केवल बुद्धि से) मुझमें सब कर्म समर्पित कर। " और, वही अर्थ पहले गीता ३. ३० एवं ५. १३ में भी वर्णित है।]

(५८) मुझमें चित्त रखने पर तू मेरे अनुग्रह से सारे सङ्कटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा। परंतु यदि अहङ्कार के वश हो मेरी न सुनेगा तो (अलबत) नाश पावेगा।

[५८ वें श्लोक के अन्त में अहङ्कार का परिणाम बतलाया है; अब यहाँ उसी का अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—]

(५९) तू अहङ्कार से जो यह मानता (कहता) है, कि मैं युद्ध न करूँगा, (सो) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे वह (युद्ध) करावेगा। (६०) हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण, मोह के वश हो कर तू जिसे न करने की इच्छा करता है, पराधीन (अर्थात् प्रकृति के अधीन) हो करके तुझे वही करना पड़ेगा। (६१) हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रह कर (अपनी) माया से प्राणिमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है, मानो सभी (किसी) यन्त्र पर चढ़ाये गये हों (६२) इसलिये हे भारत ! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और नित्यस्थान प्राप्त होगा। (६३) इस प्रकार मैंने यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान तुझसे कहा है। इसका पूर्ण विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर।

§§ सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

[इन श्लोकों में कर्म-पराधीनता का जो गूढ़ तत्त्व बतलाया गया है, उसका विचार गीतारहस्य के १० वें प्रकरण में विस्तारपूर्वक हो चुका है। यद्यपि आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, तथापि जगत् के अर्थात् प्रकृति के व्यवहार को देखने से मालूम होता है, कि उस कर्म के चक्र पर आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है, कि जो अनादि काल से चल रहा है। जिनकी हम इच्छा नहीं करते, बल्कि जो हमारी इच्छा के विपरीत भी है, ऐसी सैकड़ों-हज़ारों बातें संसार में हुआ करती हैं; तथा उनके व्यापार के परिणाम भी हम पर होते रहते हैं, अथवा उक्त व्यापारों का ही कुछ भाग हमें करना पड़ता है; यदि इन्कार करते हैं तो बनता नहीं है। ऐसे अवसर पर ज्ञानी मनुष्य अपनी बुद्धि को निर्मल रख कर और सुख या दुःख को एक सा समझ कर सब कर्म किया करता है; किन्तु मूर्ख मनुष्य उनके फन्दे में फँस जाता है। इन दोनों के आचरण में यही महत्त्व-पूर्ण भेद है। भगवान् ने तीसरे ही अध्याय में कह दिया है, कि "सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते हैं, वहाँ निग्रह क्या करेगा?" (गी. ३. ३३)। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र इतना उपदेश कर सकता है, कि कर्म में आसक्ति मत रखो। इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। यह अध्यात्म-दृष्टि से विचार हुआ; परन्तु भक्ति की दृष्टि से प्रकृति भी तो ईश्वर का ही अंश है। अतः यही सिद्धान्त ६१ वें और ६२ वें श्लोक में ईश्वर को सारा कर्तृत्व सौंप कर बतलाया गया है। जगत् में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसे चाहता है वैसे करवा रहा है। इसलिये ज्ञानी मनुष्य को उचित है, कि अहङ्कार-बुद्धि छोड़ कर अपने आप को सर्वथा परमेश्वर के ही हवाले कर दे। ६३ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है सही कि "जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर," परन्तु उसका अर्थ बहुत गम्भीर है। ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा जहाँ बुद्धि साम्यावस्था में पहूँची, वहाँ फिर बुरी इच्छा बचने ही नहीं पाती। अतएव ऐसे ज्ञानी पुरुष का 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' (इच्छा की स्वाधीनता) उसे अथवा जगत् को कभी अहितकारक नहीं हो सकता। इसलिये उक्त श्लोक का ठीक ठीक भावार्थ यह है कि "ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा (विमृश्य), त्यों ही तू स्वयंप्रकाश हो जायगा; और फिर (पहले से नहीं) तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म्य एवं

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

प्रमाण होगा; तथा स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता ही न रहेगी।" अस्तु; गीतारहस्य के १४ वें प्रकरण में हम दिखला चुके हैं, कि गीता में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अब सम्पूर्ण गीताशास्त्र का भक्तिप्रधान उपसंहार करते हैं—]

(६४) (अब) अन्त की एक बात और सुन कि जो सब से गुह्य है। तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिये मैं तेरे हित की बात कहता हूँ।(६५) मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर और मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि (इससे) तू मुझमें ही आ मिलेगा; (क्योंकि) तू मेरा प्यारा (भक्त) है।(६६) सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा, डर मत।

[कोरे ज्ञानमार्ग के टीकाकारों को यह भक्ति-प्रधान उपसंहार प्रिय नहीं लगता। इसलिये वे धर्म शब्द में ही अधर्म का समावेश करके कहते हैं, कि यह श्लोक कठ उपनिषद् के इस उपदेश से ही समानार्थक है कि "धर्म-अधर्म, कृत-अकृत, और भूत-भव्य, सब को छोड़ कर इनके परे रहनेवाले परब्रह्म को पहचानो" (कठ. २. १४); तथा इसमें निर्गुण ब्रह्म की शरण में जाने का उपदेश है। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते समय कठ उपनिषद् का श्लोक महाभारत में भी आया है (शां. ३२६. ४०; ३३१.४४)। परन्तु दोनों स्थानों पर धर्म और अधर्म, दोनों पद जैसे स्पष्टतया पाये जाते हैं, वैसे गीता में नहीं हैं। यह सच है, कि गीता निर्गुण ब्रह्म को मानती है, और उसमें यह निर्णय भी किया गया है, कि परमेश्वर का वही स्वरूप श्रेष्ठ है (गी. ७.२४); तथापि गीता का यह भी तो सिद्धान्त है, कि व्यक्तोपासना सुलभ और श्रेष्ठ है (गी. १२.५)। और यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूप के विषय में ही कह रहे हैं; इस कारण हमारा यह दृढ़ मत है, कि यह उपसंहार भक्तिप्रधान ही है। अर्थात् यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है;

§§ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

किन्तु कहना चाहिये, कि यहाँ पर धर्म शब्द से परमेश्वर-प्राप्ति के लिये शास्त्रों में जो अनेक मार्ग बतलाये गये हैं,—जैसे अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, मातृ-पितृ-सेवा-धर्म, गुरु-सेवा-धर्म, यज्ञ-याग-धर्म, दानधर्म, संन्यासधर्म आदि वही अभिप्रेत हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (३५४) में एवं अनुगीता (अश्व. ४९) में जहाँ इस विषय की चर्चा हुई है, वहाँ धर्म शब्द से मोक्ष के इन्हीं उपायों का उल्लेख किया गया है। परन्तु इस स्थान पर गीता के प्रतिपाद्य धर्म के अनुरोध से भगवान् का यह निश्चयात्मक उपदेश है, कि उक्त नाना धर्मों की गड़बड़ में न पड़ कर "मुझ अकेले को ही भज, मैं तेरा उद्धार कर दूँगा, डर मत" (देखो गीतार. पृ. ४४०)। सार यह है, कि अन्त में अर्जुन को निमित्त बना कर भगवान् सभी को आश्वासन देते हैं कि, मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण-बुद्धि से स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जाने पर इहलोक और परलोक दोनों जगह तुम्हारा कल्याण होगा; डरो मत। यही कर्मयोग कहलाता है, और सब गीताधर्म का सार भी यही है। अब बतलाते हैं, कि इस गीताधर्म की अर्थात् ज्ञान-मूलक भक्ति-प्रधान कर्मयोग की परम्परा आगे कैसे जारी रखी जावे—]

(६७) जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा नहीं रखता, तथा जो मेरी निन्दा करता हो, उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाना ! (६८) जो यह परम गुह्य मेरे भक्तों को बतलावेगा, उसकी मुझ पर परम भक्ति होगी और वह निस्सन्देह मुझमें ही आ मिलेगा। (६९) उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय करनेवाला सम्पूर्ण मनुष्यों में दूसरा कोई भी न मिलेगा तथा इस भूमि में मुझे उसकी अपेक्षा अधिक प्रिय और कोई न होगा।

[परम्परा की रक्षा के इस उपदेश के साथ ही अब फल बतलाते हैं—]

§§ अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥
§§ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

(७०) हम दोनों के इस धर्मसंवाद का जो कोई अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञानयज्ञ से मेरी पूजा की। (७१) इसी प्रकार दोष न ढूँढ़ कर श्रद्धा के साथ जो कोई इसे सुनेगा, वह भी (पापों से) मुक्त होकर उन शुभ लोकों में जा पहुँचेगा कि जो पुण्यवान् लोगों को मिलते हैं।

[यहाँ उपदेश समाप्त हो चुका। अब यह जाँचने के लिये, कि यह धर्म अर्जुन की समझ में ठीक ठीक आ गया है या नहीं, भगवान् उससे पूछते हैं—]

(७२) हे पार्थ! तुमने इसे एकाग्र मन से सुन तो लिया है न? (और) हे धनञ्जय! तुम्हारा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा—(७३) हे अच्युत! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया; और मुझे (कर्त्तव्य-धर्म की) स्मृति हो गई। मैं (अब) निःसन्देह हो गया हूँ। आपके उपदेशानुसार (युद्ध) करूँगा।

[जिनकी साम्प्रदायिक समझ यह है, कि गीताधर्म में भी संसार को छोड़ देने का उपदेश किया गया है, उन्होंने इस अन्तिम अर्थात् ७३ वें श्लोक की बहुत कुछ निराधार खींचातानी की है। यदि विचार किया जायँ, कि अर्जुन को किस बात की विस्मृति हो गई थी, तो पता लगेगा, कि दूसरे अध्याय (२. ७) में उसने कहा है कि "अपना धर्म अथवा कर्त्तव्य समझने में मेरा मन असमर्थ हो गया है" (धर्मसंमूढचेताः)। अतः उक्त श्लोक का सरल अर्थ यही है, कि उसी (भूले हुए) कर्त्तव्य-धर्म की अब उसे स्मृति हो आई है। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया गया है, और स्थान स्थान पर ये

संजय उवाच।

§§ इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

शब्द कहे गये हैं कि " इसलिये तू युद्ध कर " (गी. २. १८; २. ३७; ३. ३०; ८. ७; ११. ३४); अतएव इस " आपके आज्ञानुसार करूँगा " पद का अर्थ 'युद्ध करता हूँ' ही होता है। अस्तु; श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद समाप्त हुआ। अब महाभारत की कथा के संदर्भानुसार सञ्जय धृतराष्ट्र को यह कथा सुना कर उपसंहार करता है—]

सञ्जय ने कहा–(७४) इस प्रकार शरीर को रोमाञ्चित करनेवाला वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत संवाद मैंने सुना।(७५) व्यासजी के अनुग्रह से मैंने यह परम गुह्य,यानी योग अर्थात् कर्मयोग,साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण ही के मुख से सुना है।

[पहले ही लिख आये हैं,कि व्यास ने सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी थी,जिससे रणभूमि पर होनेवाली सारी घटनाएँ उसे घर बैठे ही दिखाई देती थीं। और उन्हीं का वृत्तान्त वह धृतराष्ट्र से निवेदन कर देता था। श्रीकृष्ण ने जिस 'योग' का प्रतिपादन किया, वह कर्मयोग है (गी. ४. १–३) और अर्जुन ने पहले उसे 'योग' (साम्ययोग) कहा है (गी. ६. ३३); तथा अब सञ्जय भी श्रीकृष्णार्जुन के संवाद को इस श्लोक में 'योग' ही कहता है। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और सञ्जय, तीनों के मतानुसार 'योग' अर्थात् कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। और अध्याय-समाप्ति-सूचक सङ्कल्प में भी वही, अर्थात् योग-शास्त्र, शब्द आया है। परन्तु योगेश्वर शब्द में 'योग' शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। योग का साधारण अर्थ कर्म करने की युक्ति, कुशलता या शैली है। उसी अर्थ के अनुसार कहा जाता, कि बहुरुपिया योग से अर्थात् कुशलता से अपने स्वाँग बना लाता है। परन्तु जब कर्म करने की युक्तियों में श्रेष्ठ युक्ति को खोजते हैं, तब कहना पड़ता है कि जिस युक्ति से परमेश्वर मूल में अव्यक्त होने पर भी

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिमद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

वह अपने आप को व्यक्त स्वरूप देता है, वही युक्ति अथवा योग सब में श्रेष्ठ है। गीता में इसी को 'ईश्वरी योग' (गी. ६. ५; ११. ८) कहा है; और वेदान्त में जिसे माया कहते हैं, वह भी वही है (गी. ७. २५)। यह अलौकिक अथवा अघटित योग जिसे साध्य हो जाय, उसे अन्य सब युक्तियाँ तो हाथ का मैल हैं। परमेश्वर इन योगों का अथवा माया का अधिपति है; अतएव उसे योगेश्वर अर्थात् योगों का स्वामी कहते हैं। 'योगेश्वर' शब्द में योग का अर्थ पातञ्जल-योग नहीं है।]

(७६) हे राजा (धृतराष्ट्र)! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत एवं पुण्यकारक संवाद का स्मरण होकर मुझे बार बार हर्ष हो रहा है; (७७) और हे राजा! श्रीहरी के उस अत्यंत अद्भुत विश्वरूप की भी बार बार स्मृति होकर मुझे बड़ा विस्मय होता है और बार बार हर्ष होता है। (७८) मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं वहीं श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति हैं।

[सिद्धान्त का सार यह है, कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती हैं, वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती हैं; कोरी शक्ति से अथवा केवल युक्ति से काम नहीं चलता। जब जरासन्ध का वध करने के लिये मन्त्रणा हो रही थी, तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा है कि "अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः" (सभा. २०. १६)—बल अन्धा और जड़ है, बुद्धिमानों को चाहिये कि उसे मार्ग दिखलावें; तथा श्रीकृष्ण ने भी यह कह कर कि "मयि नीतिर्बलं भीमे" (सभा. २०.३)—मुझमें नीति है और भीमसेन के शरीर में बल है—भीमसेन को साथ ले उसके द्वारा जरासन्ध का वध युक्ति से कराया है। केवल नीति बतलानेवाले को आधा चतुर समझना चाहिये। अर्थात् योगेश्वर यानी योग या युक्ति के ईश्वर और धनुर्धर अर्थात् योद्धा, ये दोनों विशेषण इस श्लोक में हेतुपूर्वक दिये गये हैं।]

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या-न्तर्गत योग—अर्थात् कर्मयोग—शास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

[ध्यान रहे कि मोक्ष-संन्यास-योग शब्द में संन्यास शब्द का अर्थ 'काम्य कर्मों का संन्यास' है जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में कहा गया है; चतुर्थ आश्रमरूपी संन्यास यहाँ विवक्षित नहीं है; इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है, कि स्वधर्म को न छोड़ कर, उसे परमेश्वर में मन से संन्यास अर्थात् समर्पित कर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है; अतएव इस अध्याय का मोक्ष-संन्यास-योग नाम रखा गया है।]

इस प्रकार बाल गङ्गाधर तिलक-कृत श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य-सञ्जीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणी सहित समाप्त हुआ।

गंगाधर-पुत्र, पूना-वासी महाराष्ट्र विप्र,
वैदिक तिलक बाल बुध ते विधीयमान।
"गीतारहस्य" किया श्रीश को समर्पित यह,
वार कौल योर्ग भूमि शक में सुयोग जान॥

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

॥ शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु ॥

गीता के श्लोकों की सूची।